(प्रयाग विश्वविद्यालय की डी. फिल. उपाधि के लिए डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी के निर्देशन में प्रस्तुत

हिन्दी के आधुनिक महाकाव्यों में भारतीय संस्कृति का स्वरूप

※

प्रस्तुतकर्त्ता
प्रमिला शर्मा

हिन्दी-विभाग
प्रयाग विश्वविद्यालय
जून १९६७

निवेदन

-0-

प्रत्येक देश, युग और साहित्य में महाकाव्यों को जातीय संस्कृति का संवाहक माना जाता रहा है । वाल्मीकि,कालिदास, तुलसी आदि [illegible]कवियों के काव्य तद्युगीन संस्कृति का जीवन्त परिचय देते हैं । आधुनिक हिन्दी [illegible]काव्य कहाँ तक इस गौरवपूर्ण दायित्व को निभाते हैं, और हमारी वर्तमान भारतीय संस्कृति के स्व[illegible] को विवृत और समृद्ध[illegible] हैं, इस जिज्ञासा को लेकर मैं प्रस्तुत शोध 'हिन्दी [illegible] आधुनिक महाकाव्यों में भारतीय संस्कृति का स्वरूप' की ओर प्रवृत्त हुई ।

[illegible]स्पष्टतः 'संस्कृति का स्वरूप' पद संस्कृति के तत्वों की व्यंजना करता है न कि 'संस्कृति के इतिहास' की ।'संस्कृति' और 'संस्कृति के इतिहास' के [illegible] सम्बन्ध और अन्तर को दृष्टि में रखकर ऐतिहासिक खोज के खतरों से बचने के लिए रचनाओं को ही मूल आधार बनाया गया है । वही परम्परा सत्य और गौरवपूर्ण हो सकती है जो वर्तमान का अंग है । इस अर्थ में ऐतिहासिक निष्ठा को मान्यता देते हुए भी संस्कृति के इतिहास की कथा को दुहराना शोध का लक्ष्य नहीं रहा है । संस्कृति-बोध को [illegible] का आन्तरिक पक्ष मानते हुए आधुनिक हिन्दी महाकाव्यों में प्रतिफलित भारतीय संस्कृति के स्वरूप को देखने की चेष्टा ही प्रबन्ध की मुख्य भावभूमि है ।

नृ-विज्ञान,समाज शास्त्र द्वारा की गयी परिभाषाएँ रचना के संदर्भ में प्रायः अपर्याप्त जान पड़ती हैं । भारतीय मानस के सौन्दर्य बोध, जीवनदर्शन, नीतिबोध, आर्थिक,राजनैतिक,[illegible] संघटन को प्रतिबिम्बित करने वाली सृजनात्मकता ही प्रस्तुत प्रबन्ध में संस्कृति का [illegible] रूप मानी गयी है ।

१६ वीं शताब्दी के पुनर्जागरण में अतीत की समस्त उपलब्धियों को जैसे छलनी में छान कर जीवन और युग के लिए उपयोगी सार अंश को खोजने की मूल प्रवृत्ति काम करती रही है। राजाराममोहन राय से महात्मागांधी तक के समस्त मनीषियों ने अपने अपने ढंग से समकालीन जीवन के लिए ऐतिहासिक निष्ठापूर्वक मूल्यों की खोज की है। इस दृष्टि से पुनर्जागरण के मूल उद्देश्य और सार्थकता को समझने की चेष्टा प्रथम अध्याय में की गई है। क्योंकि आधुनिक व महाकाव्य पुनर्जागरण की चेतना से आप्लावित हैं।

संस्कृति की तरह ही महाकाव्य के शिल्प-पक्ष को लेकर दी गयी परिभाषाएं भी महाकाव्य के स्वरूप-विकास के साथ-साथ अपर्याप्त पड़ती रही हैं। महाकाव्य के आन्तरिक गठन की मूल विशेषता है, `जीवन` के विविध घात प्रतिघातों, संघर्ष-प्रतिसंघर्ष का चित्रण और उदात्त रचनात्मक सामंजस्य।` इस दृष्टि से अनेक तथाकथित महाकाव्य,काव्य की अंतरात्मा से शून्य होने के कारण विषय-सीमा से बाहर पड़ते हैं। प्रस्तुत प्रबन्ध में `प्रिय प्रवास'(१६१४) से लेकर 'उर्वशी'(१६६१) तक के काव्यों को विवेच्य बनाया गया है। बाह्य-विधान से महाकाव्य का कलेवर न होने पर भी उन रचनाओं को महाकाव्य मानकर चला गया है जिनमें जीवन के घात-प्रतिघातों का प्रभाव,वैविध्य और गरिमापूर्ण सामंजस्य है। `प्रियप्रवास`,`साकेत`,`कामायनी`,`कुरुक्षेत्र`,`जयभारत`, `एकलव्य` -- इन छ: विशिष्ट प्रतिनिधि महाकाव्यों को द्वितीय,तथा `तुलसीदास` `राम की शक्ति पूजा`,`अंधा युग`` और `उर्वशी` जैसी महाकाव्योचित औदात्य सम्पन्न रचनाओं को तृतीय अध्याय में विवेचित किया गया है। पुराण को सम-सामयिकता का अंग बनाने के प्रयास में विकसित होती सांस्कृतिक दृष्टि को, जो धर्म से अध्यात्म,प्रतीक से भावचित्र तक आ रही है, इन महाकाव्यों के आधार पर चतुर्थ अध्याय में देखने का प्रयास किया गया है। पांचवें अध्याय में `युद्ध और शान्ति की समस्या` को केन्द्र बनाकर चलने वाले तीन काव्य,'जयभारत','कुरुक्षेत्र' और 'अंधा युग' के संवेदनात्मक विकास को देखा गया है।

प्रस्तुत प्रबन्ध के प्रणयन में हिन्दी के कुछ विशिष्ट कवियों और विचारकों से परामर्श पाने का सौभाग्य मुझे मिला है। स्व० डा० देवराज,श्रीमती

महादेवी वर्मा, डा० रामकुमार वर्मा, कविवर सुमित्रानन्दन पन्त, डा० सावित्री सिन्हा, श्री `अज्ञेय` , डा० रघुवंश, श्री संगमलाल पाण्डेय के परामर्श और प्रेरणा से तथा डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी के आत्मीय निर्देशन में यह प्रबन्ध पूरा हो सका है । आप सबों के अनुग्रह के लिए कृतज्ञता-ज्ञापन का अ[illegible]िक माध्यम अपर्याप्त पड़ रहा है । फिर भी शब्दों में, ` मैं सभी की हृदय से आभारी हूँ । `

सामग्री-चयन में सुविधा के लिए इलाहाबाद विश्वविद्यालय पुस्तकालय, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, दिल्ली पब्लिक लाइब्रेरी, इलाहाबाद पब्लिक लाइब्रेरी और काशी नागरी प्रचारिणी सभा के अधिकारियों को हार्दिक धन्यवाद देना चाहूँगी ।

प्रमिला शर्मा

(कुमारी) प्रमिला शर्मा

विषय सूची

-o-

प्रथम अध्याय

--0--

संस्कृति का स्वरूप

'संस्कृति' के तात्त्विक विवेचन का प्रयास नर-विज्ञान और समाज-शास्त्र ने अपनी अपनी रचना-पद्धति के अनुकूल किया है । नर-विज्ञान में संस्कृति का तथ्यमूलक अनुसंधान करके पशु-जीवन से उत्थित मानव की समस्त उपलब्धियों को बिना मूल्यांकन के संस्कृति की परिभाषा देने का प्रयास किया है । टायलर के अनुसार 'संस्कृति अथवा सभ्यता' वह जटिल तत्त्व है जिसमें ज्ञान, नीति, कानून, रीति-रिवाजों तथा दूसरी उन योग्यताओं और आदतों का समावेश है जिन्हें मनुष्य सामाजिक प्राणी होने के नाते प्राप्त करता है ।' लिंटन ने संस्कृति को 'सामाजिक परम्परा' लावी ने 'समस्त सामाजिक परम्परा' कहा है । व्यक्तियों पर पड़ने वाले सांस्कृतिक प्रभाव पर अधिक दृष्टि केन्द्रित करने के कारण नर-विज्ञान मानवकृत परिवर्तनों और मूल्यपरक पक्षपात के चिन्तन से कट जाने से संस्कृति की पूर्ण व्याख्या नहीं कर पाता । दूसरी ओर बोगार्डस, क्लुक्हन, किम्बालयंग, सोरोकिन आदि समाजशास्त्रियों ने नैतिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक तत्त्वों के संकुल को ही संस्कृति माना है । इलियट ने संस्कृति के स्तरों की धारणा को निरूपित करते हुए संस्कृति की वर्गमूलक व्याख्या की है[१] । परन्तु इस व्याख्या से यह स्पष्ट नहीं हो पाता कि सांस्कृतिक

१- " .... the culture of the individual is dependent upon the culture of group or class is dependent upon the culture of the whole society to which that grupp or class belongs."
- Notes towards the Definition of Culture. Page 21. by T.S.Eliot.

क्रिया-व्यापारों का आर्थिक महत्त्व किस आधार पर माना जाए । संस्कृति को वर्ग की वस्तु घोषित करने वाला मार्क्सवाद यह भूल जाता है कि मनुष्य केवल सामाजिक प्राणी ही नहीं न वह केवल वर्ग-सम्बन्धों में ही जीवन व्यतीत करता है । एक युग की सांस्कृतिक चेतना और दूसरे युग की सांस्कृतिक चेतना को मार्क्सवाद पूर्णत: विच्छिन्न मान कर चलता है ।

उपर्युक्त सभी परिभाषाएँ इसलिए अपर्याप्त हो जाती है कि उक्त परिभाषाएँ स्थूल आधारों पर निर्मित हैं जब कि साहित्य और काव्य जीवन के सूक्ष्म तत्वों से सम्बद्ध है । साहित्य संस्कृति और महाकाव्य के आन्तरिक सामन्जस्य को देखने के लिए संस्कृति को प्राणि शास्त्रीय और समाजशास्त्रीय या मार्क्सवादी दृष्टि से कुछ पृथक् रूप में अध्ययन करना होगा । संस्कृति के संश्लिष्ट निरन्तर विकासमान और अविभाज्य स्वरूप को टुकड़ों में नहीं बांटा जा सकता । किन्तु प्रस्तुत वैज्ञानिक अध्ययन की यह विवशता है कि विश्लेषण और विभाजन द्वारा ही उसके यथार्थ स्वरूप का अंकन हो सकता है । संस्कृति श्रेष्ठतम मानवीय उपलब्धियों की संश्लिष्ट सृजनोन्मुख प्रक्रिया है । संस्कृति का अर्थ है आन्तरिक या आत्मिक जीवन के सौन्दर्यपरक वे सार सत्य जिन्हें कवि अपने नीति-बोध और जीवनदर्शन में स्थापित करते हैं । इनके साथ ही थोड़ा बहुत संकेत सामाजिक-राजनैतिक संस्थाओं का भी होता है, क्योंकि ऐसी संस्थाओं के सक्षम आधार के बिना किसी भी प्रकार का उच्च सांस्कृतिक जीवन सम्भव नहीं ।[1]

संस्कृति प्रयोजनातीत आन्तर आनन्द की प्राप्ति के लिए विवेक और प्रबुद्धशील जातीय-मानस द्वारा अन्वेषित मूल्यों की संश्लिष्ट अन्विति है जिनके लिए कोई जाति गौरव और शक्ति मानती है । सौन्दर्यबोध, व्यापक अनुभूति उपयोगी सत्य इस संस्कृति की समष्टि में समाहित हो जाते हैं[2] । आर्थिक व्यवस्था

१- शिल्प और दर्शन, पृ० २०८-- सुमित्रानन्दन पन्त

राजनैतिक संघटन, नैतिक परम्परा और सौन्दर्य को तीव्रतर करने की योजना के सम्मिलित प्रभाव से संस्कृति बनती है।[1] जीवनदर्शन में धर्म और दर्शन समाहित हो जाते हैं। `सृजनात्मक क्षमता' को सामने रखे बिना हम सभ्यता और संस्कृति के महत्वपूर्ण अन्तर को नहीं समझ सकते। जब सृजनात्मकता सोद्देश्य और उपयोगी लक्ष्यों की प्राप्ति को ध्येय बनाती है, तब उसे सभ्यता कहा जाता है। यही सृजनात्मकता जब वस्तुजगत् के सूक्ष्म अर्थवान पहलुओं पर दृष्टि रखकर चरम मूल्यों की खोज में गतिशील होता है, तब संस्कृति कहलाती है।[2] सांस्कृतिक प्रक्रिया के सहारे ही बहुकेन्द्री जीवन के अतीत और वर्तमान में फैले सृजनात्मक जीवन का अर्थवत्ता का आकलन किया जाता है। अतः हम कह सकते हैं कि `संस्कृति किसी मानव समूह की जातीय चेतना के सौन्दर्यबोध, जीवनदर्शन, नीतिबोध, और सामाजिक राजनैतिक संघटन में व्याप्त सृजनात्मक क्षमता का नाम है।'

सौन्दर्यबोध

कुरूप और अरुचिकर को रूपवान् और रुचिकर बनाने का अभियोजना, संस्कृति का अनिवार्य उपकरण है। जीवन को निरन्तर समृद्धतर बनाने की योजना सौन्दर्यबोध के बिना पंगु है। `सौन्दर्य जिस तृप्ति का नाम है, उससे जीवन का विकास, प्राणों में स्फूर्ति, हृदय में उदात्त चेतना का संचार तथा कल्पना के लिए नवीन आलोक या सृजन और शान्ति का संचार होता है[3]। समुन्नत जाति की रुचियाँ उपयोगिता की सीमा का अतिक्रमण कर सौन्दर्य की भूख को

१- अशोक के फूल, पृ०७९ -- डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी

२- `संस्कृति का अर्थ है सृजनात्मक अनुचिन्तन, उसका निर्माण उन क्रियाओं द्वारा होता है जिनके द्वारा मनुष्य यथार्थ को सार्थक किन्तु निरुपयोगी छवियों से सम्बद्ध चेतना प्राप्त करता है।'
-- संस्कृति का दार्शनिक विवेचन, पृ० २९-- डा० देवराज

३- सौन्दर्य शास्त्र, पृ० १ -- डा० हरद्वारीलाल शर्मा

महसूस करती है और यह छाया, सौन्दर्य की यह प्रतीति सभ्यता को और संस्कृति को नाना मूल्यवान संकेत अनुशासनों को उत्पन्न करता है। मूल जीवन चेतना से निबद्ध होने के कारण सौन्दर्य व्यापक रूप से सांस्कृतिक पीठिका पर सम्पूर्ण जीवन का विषय है। सौन्दर्य बोध का जीवन-यात्रा से घनिष्ट सम्बन्ध है 'सौन्दर्यबोध .... जीवन संभोग का एक उपकरण है। सुन्दर वह है जो उपयोगी न होते हुए भी हमारी चेतना को रसात्मक (Æsthetic) दृष्टि से समृद्ध बनाता है।'[१] यही कारण है कि किसी प्रौढ़ संस्कृति का सौन्दर्यबोध देशकाल की सीमाओं का अतिक्रमण कर सबों को समान रूप से प्रभावित करने में समर्थ होता है।

जीवनदर्शन

समग्र जीवन के अनुचिन्तन द्वारा, सुदीर्घ अन्वेषण द्वारा उस सम्पृक्त जीवनदृष्टि का उदय होता है जिसे 'जीवन विवेक' या 'जीवन दर्शन' कहते हैं। आशा-निराशा, सुख-दुःख, जीवन-मृत्यु आदि अनेक द्वन्द्वों के बीच जीवन की अर्थवत्ता को निरन्तर पर्यालोचित करने ~~के-बीच~~ से जीवन विषयक एक निश्चित विवेक उत्पन्न होता है, जो प्रत्येक संस्कृति का विशिष्ट प्राणविन्दु है। अध्यात्म और दर्शन इस जीवन-दर्शन में सन्निहित होते हैं। जब भी इस जीवन विवेक का भ्रम या कमी होती है तभी संस्कृति में अवरुद्धशीलता के लक्षण स्पष्टतः दीखने लगते हैं। 'निरन्तर पर्यालोचित' पद इस ओर संकेत करता है कि किसी एक स्थल पर अपने जीवनदर्शन को ठहरा देना, युग की गति और काल के विकास का साथ न निभा पाने का द्योतक है। संस्कृति जीवन की ही भाँति निरन्तर विकासशील प्रक्रिया है।

१- भारतीय संस्कृति, पृ० ८६-- डा० देवराज

नीति बोध

सफल तथा समादृत जीवन व्यतीत करने के लिए सत्य के जागरूक साधक को 'मूल्य' की महत्ता को स्वीकार करना होता है । सामाजिकता की दृष्टि से सफलता और मान्यता अर्जित करने के लिए मूल्यों के चुनाव की स्थिति के निर्णायक बोध को 'नैतिक बोध' कहा जाता है । सौन्दर्य बोध जीवन को समृद्ध और रसात्मक बनाता है तो नैतिक बोध व द्वन्द्वों के बीच परीक्षित मूल्यों से व्यक्ति के धरातल को उच्च बनाता है । यह नैतिक बोध उस रूढ़ नैतिकता से पृथक् है जो मानवीय आचार-व्यवहार को उपयोगिता की कसौटी पर कस कर नैतिकता के नियमों को निर्भ्रांत और निरपवाद रूप में सत्य घोषित कर नवीन रोचक अन्वेषण की पार्थवाही क्षमता का मार्ग बन्द कर देता है । विमर्शात्मक नैतिकता के मानदंड देशकाल की आवश्यकतानुसार परिवर्तित और विकसित होते हैं ।

आर्थिक राजनैतिक संघटन

आर्थिक उन्नति की दिशाएँ तथा राजनैतिक सामाजिक व्यवस्था का निर्धारण संस्कृति तत्व के रूप में लिया जाता है । वैसे तो आर्थिक संघटन उत्पादन तंत्र तथा राजनैतिक सामाजिक संघटन संस्थाबद्ध जीवन का अंग होने के कारण सभ्यता की दो प्रक्रियाएँ हैं, किन्तु सफल सामाजिक राजनैतिक आर्थिक व्यवस्था में ही सांस्कृतिक उपलब्धियों की प्राप्ति सम्भव है । अर्थ और राजनीति का बाह्य तंत्र सभ्यता का अंग है तो उसके आन्तरिक विधान की वह संगति जो सृजनशीलता को विकास के अवसर प्रदान करती है, संस्कृति का केन्द्र बन जाती है ।

सृजनात्मक क्षमता

मानवता और पशुता के बीच पार्थक्य रेखा खींचने वाली बुद्धि से युक्त मानव ने अपनी सूक्ष्म सृजनात्मक क्षमता को कला, विज्ञान, अर्थ, दर्शन आदि अनेकमुखी क्षेत्रों में प्रयुक्त किया । 'संस्कृति उस क्रिया समूह का नाम है जिसके द्वारा विभिन्न व्यक्ति मानव जाति के सृजनात्मक जीवन में भाग लेते हैं और उसे समृद्ध बनाते हैं ।'[1] यह सृजन निश्चित रूप से यांत्रिक कैमरे से लिए गए यथार्थ अंकन से

१- संस्कृति का दार्शनिक विवेचन, पृ० २०७-- डा० देवराज

भिन्न बहुत कुछ चित्रकार की रचना होता है जिसको कलात्मकता प्रस्तुत रूप को नवीन रूपाभा प्रदान करती है । यह सृजनात्मकता, आन्तर आनन्द की अभिव्यक्ति संस्कृति का अभिन्न अंग है जो नाना कलाओं, की मानवीय अभोतियों से लेकर विज्ञान के चमत्कारों और धर्म-दर्शन के चिन्तन-अन्वेषण में व्याप्त है ।

प्राचीन भारतीय संस्कृति बड़ी समृद्ध है । उसमें जहां उपनिषदों, महायान बौद्धधर्म और वेदान्त का अध्यात्मवाद है तो दूसरी और कालिदास का समृद्ध सौन्दर्यबोध, माघ भारवि का विस्तृत नीतिबोध और चाणक्य जैसे [illegible] का कूटनीति-विवेचन भी है । उसमें नीतिशतक के साथ-साथ भर्तृहरि के श्रृंगारशतक और वैराग्यशतक भी मिलते हैं । कामशास्त्र जैसे विषयों पर भी महत्वपूर्ण कृतियाँ उपलब्धकी गयी है । वात्स्यायन का 'कामसूत्र' एक ऐसी ही कृति है । इस तरह भारतीय संस्कृति प्राचीन काल में अत्यन्त समृद्ध और सर्वांगीण रही है ।

मध्य युग भारतीय संस्कृति के ह्रास का युग रहा है जिसमें सर्वांगीणता नष्ट हो गयी । मध्यकालीन संस्कृति की एकांगी दृष्टि केवल परलोक में अनुरक्त थी । इस लोक की उपेक्षा के रूप में नारी की जी भर कर निन्दा का गयी । श्रृंगारिकता का अर्थ पूर्ण बहिष्कार वैराग्य,संन्यास और निवृत्ति को अपनाने का आग्रह किया गया । बहिर्मुख धर्म मध्ययुग में अन्तर्मुख बन गया । ज्ञानान्वेषण और सम्पादन की क्षमता से विरहित भारतीय अंध विश्वास और रूढ़ियों के उपासक बन गए । भक्तिवाद में कुछ चीजें अच्छी हो सकती हैं लेकिन भगवान पर अतिशय निर्भरता ने आत्मविश्वास और स्वावलम्बन के स्थान पर आत्महीनता, आत्मपराजय,[illegible] आदि भावनाओं को बढ़ावा दिया, जिसके परिणामस्वरूप मुट्ठी भर मुसलमान विशाल हिन्दु जनता पर शासन करने में समर्थ हुए । पं० जवाहरलाल नेहरू ने 'हिन्दुस्तान की खोज' में मध्ययुगीन [illegible] मूढ़ता और शारीरिक थकान को [illegible] की प्रगति का अवरोधक माना है । जोशीली जिन्दगी की साहस और उमंग जिज्ञासा की तर्कमूलक भावना के क्रमश: समुद्र यात्रा तक का निषेध करने वाली धार्मिक कट्टरता एवं तर्कहीनता और अंधविश्वास में बदल जाने के कारण मुसलमान

शासकों को भारत को विजित करने में सुविधा हुई[1]।

मुसलमान शासकों का स्थान निस्सन्देह अंग्रेज़ व्यापारियों द्वारा लिए जाने पर भी जनता पूर्ववत् निस्सहाय एवं निरीह बनी रही। अंग्रेज़ी शिक्षा-नीति के कारण अंग्रेज़ी शासन ईसाई धर्म और युरोपीय संस्कृति को वरदान मानने वाला एक वर्ग तेजी से भारत में जन्मा। यदि यह प्रवृत्ति बहुत दिनों तक भारत में चलती रहती तो हमारा देश अतीत की गौरवशाली विरासत के बावजूद यौरोपीय संस्कृति का एक उपनिवेश बन जाता -- राजनैतिक दृष्टि से तो बन ही चुका था।

किन्तु इसी समय देश में कुछ ऐसे महापुरुष हुए जिन्होंने तेजी से बढ़ते हुए पाश्चात्यीकरण और ईसाईकरण को रोका तथा देश के हृदय और मस्तिष्क को भारतीय संस्कृति के उदात्त तत्वों से परिचित और संयुक्त कराया। राजारामममोहनराय, रानाडे, तिलक, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, महात्मागांधी, टैगोर, अरविन्द आदि महापुरुषों ने अपने अपने ढंग से भारतीय संस्कृति का पुनराख्यान किया और उसके उन तत्वों पर गौरव दिया जो राष्ट्रीय मानस को गौरव और चेतना सम्पन्न बनाते हुए अग्रसर कर सकने में समर्थ थे। सम्भवतः इन शिक्षकों का प्रभाव पढ़े-लिखे लोगों पर इतना न पड़ता यदि इस बीच एक घटना घटित न होती। यह थी 'सर विलियम जोन्स', स्मण्टी, कौलब्रुक, [illegible], मैक्समूलर आदि यौरोपीय पंडितों द्वारा प्राचीन भारतीय साहित्य का अन्वेषण। इस अन्वेषण से उनके सामने भारतीय संस्कृति का निर्मल और उदात्त रूप सामने आया जिसकी उन्होंने प्रशस्तिपूर्ण व्याख्याएँ की।

भारतीय संस्कृति की सुदीर्घ परम्परा की विवेचना करते समय 'संस्कृति' और 'संस्कृति के इतिहास' में विवेक करना समुचित होगा। पूर्व वैदिककाल से लेकर आज तक का शक, हूणों, मुसलमानों और ईसाइयों के संघर्ष और समन्वय को

1- हिन्दुस्तान की कहानी, पृ० ५३-- जवाहरलाल नेहरू

इतिवृत्तात्मक कथा 'संस्कृति का इतिहास' है । यह ठीक है कि भारतीय संस्कृति गंगा की विकासमान धारा के समान सभी विजातीय तत्वों को पचाकर आज इस स्थिति में पहुंची है और उसके इतिहास से इसका स्वरूप खोजा जा सकता है । पर इस पद्धति में अनेक खतरे हैं । वेदों के भोगवाद, उपनिषदों के त्यागपूर्ण भोग और बौद्धों की संन्यास-उन्मुख-निवृत्ति-- किसे भारतीय संस्कृति का तत्व माना जाए, उसका समाधान 'इतिहास' के पास नहीं है । ऐतिहासिक अध्ययन अपने पूर्ण चढ़ाव पर स्थूल प्रकृति का हो जाता है । यहाँ तक कि बहुत सी दी गई घटनाओं से एक नहीं बल्कि कई परस्पर विरोधी विशेष नियमों का प्रतिपादन किया जा सकता है, किया गया है[1] । केवल समृद्ध परम्परा की दुहाई देने से सृजनात्मकता और विवेक का ह्रास होता है । 'पुनर्जागरण में' भारतीय संस्कृति के निर्माण में परम्परा और इतिहास को वहीं तक लिया गया है, जहाँ तक वह समकालीन जीवन की समृद्धि में जीवन्त योग दे सकता है ।

पुनर्जागरण का संदर्भ और भारतीय संस्कृति

भारतीय संस्कृति के अनेक नवोत्थान हुए परन्तु उन्नीसवीं शताब्दी का यह वर्तमान नवोत्थान सर्वाधिक सशक्त एवं प्रभावशाली है । यह पुनर्जागरण मूलतः व्यापक सांस्कृतिक प्रक्रिया थी । जीवन की समग्रता को लेकर चलने वाले इस पुनर्जागरण ने मध्यकालीन रूढ़ संस्कारों के बीच सोए भारतीय मानस को जगाया और उसे पश्चिम की चुनौती को स्वीकार करने के लिए उद्यत किया ताकि वह अपनी समस्त विरासत का नवीन सन्दर्भों के बीच बौद्धिक तटस्थता और [illegible] के बीच सही मूल्यांकन कर जीवन्त संस्कृति की पुरानी गरिमा पा सके । पुनर्जागरण के इस नवीकरण के साथ समकालीन भारतीय संस्कृति का रूप निर्मित होता है । यह पुनर्जागरण एक शोधन-क्रिया रहा है । जैसे छलनी में छान कर सार को ग्रहण कर उसे अपनी उपलब्धि कहा जाता है वैसे ही

१- नयी कविता, अंक-७, पृ० २६ 'विपिन'

पश्चिमी भौतिक वैज्ञानिक संस्कृति के सम्पर्क से भारत ने अपने प्राचीन मूल्यों, दार्शनिक पद्धतियों, आध्यात्मिक चिन्तन को परीक्षित कर उस 'सार' को ग्रहण किया जो वर्तमान में जीवन्त है या वर्तमान को स्फुरित करने की सम्भावना-युक्त है या जिसे पश्चिमी चुनौती के जवाब में गर्व से प्रस्तुत किया जा सकता है। इस दृष्टि से पुनर्जागरण के बाद भारतीय संस्कृति का स्वरूप निश्चित होता है। (हमारा यह मन्तव्य कदापि नहीं है कि पुनर्जागरण में सब कुछ उपलब्ध किया जा चुका है, अब सांस्कृतिक [illegible] को कोई नवीन मूल्य अन्वेषित नहीं करने हैं।) वैदिक संस्कृति, बौद्ध संस्कृति, इस्लामी *अथवा* हिन्दू संस्कृति के स्थान पर इस धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रीय संस्कृति को 'भारतीय संस्कृति' कहा जा सकता है। 'यह भारतीय संस्कृति, धर्म के समान अविरोधी है तथा समस्त भारतीय जनता की विविध साधनाओं की सर्वोत्तम परिणति है।'[1] वेदों में जिसे गौरूप शतधारों का झरना कहा गया है, वैसा ही यह भारतीय संस्कृति का झरना पुनर्जागरण में देश में प्रवाहित हुआ। राष्ट्रीय अभ्युत्थान का प्रत्येक आन्दोलन इस अन्वित जल से सिंचित हुआ है[2]।

पुनर्जागरण का अर्थ भारतीय चिन्तन के पुनरुत्थानवादी स्वरूप की अभिव्यक्ति लेना, इस शब्द के वास्तविक अभिप्राय को संकुचित करना है। जैसे पन्द्रहवीं शताब्दी में इटली के पंडितों और कलाकारों ने यूनान और रोम की सांस्कृतिक विरासत की खोज की, वैसे ही [illegible] से प्रारम्भ होने वाले समस्त बौद्धिक आन्दोलनों का लक्ष्य प्राचीन भण्डार की खोज था -- यह एकान्त सत्य है। 'रिवाइवलिज्म' शब्द से वर्तमान सत्य को उपेक्षित कर मृतकाल की मुर्दा बातों को दुहराने की ध्वनि [illegible] है, जब कि उन्नीसवीं शताब्दी के

१- अशोक के फूल, पृ० ६०-- हजारीप्रसाद द्विवेदी

२- भारतीय [illegible] का शतधार झरना, साप्ताहिक [illegible], अक्टूबर ६४
-- [illegible] अग्रवाल

इस पुनर्जागरण में समय की धूल से ढके पुरातन सत्यों को नवीन संदर्भ में पुनर्जीवित किया गया है । पुनर्जागरण को क्रान्ति के रूप में पुरातन रूढ़ियों, रीति-रिवाजों से मुक्त, अतीत से पूर्ण विच्छिन्न रूप में ग्रहण करना भी उतनी ही बड़ी भूल है जितनी कि पुनर्जागरण को अतीत-गान कहना । भारतीय पुनर्जागरण यूरोपीय पुनरुत्थानवादी चेतना के समान अतीत को एकमात्र प्रेरणा बनाकर ही सन्तुष्ट नहीं हो जाता, यह नवजागरण [illegible]कल्पी है ।` यह पुनरुत्थानवादी न होकर नवोत्थानवादी है यद्यपि उसके भीतर सांस्कृतिक रथचक्र का पूरा आवर्तन स्वतः समाहित हो गया है । उसने समस्त हिन्दू जाति को आत्मचैतन्य देकर नवप्राणित किया ।[1]

आधुनिक भारत की जन्मतिथि १७५७ है जब प्लासी की लड़ाई के बाद कम्पनी को बंगाल और बिहार का शासनाधिकार मिल जाता है । इसके ठीक सौ वर्ष बाद इस पुनर्जागरण का स्फुट संकेत हमें १८५७ के गदर में मिलता है । अंग्रेज इतिहासकारों का अंधानुकरण करते हुए हम इसे मात्र असफल सैनिक क्रांति या सामन्तीय स्वार्थों की लड़ाई नहीं कह सकते । १७५७ से १८५७ तक के अन्तराल में ढाका मुर्शिदाबाद के जुलाहों, बिहार आसाम के कारीगरों की दमनीय स्थिति, ग्राम पंचायत और ग्राम संस्थाओं के हजारों वर्ष पुराने रूप का तोड़ा जाना, १८५० में लार्ड डलहौजी के उत्तराधिकार नियम, आदि ने सामाजिक आर्थिक धरातल पर एक व्यापक असन्तोष को जन्म दिया । अपनी जीवन-पद्धति की सुरक्षा के लिए १८५७ में गदर हुआ ।`.... १८५७ का विद्रोह पहला साक्षात्कार था, जहाँ भारत की सम्पूर्ण जीवन-पद्धति ने बड़ी ईमानदारी के साथ उन्नीसवीं सदी के व्हाईट मैन्स बर्डेन के विरुद्ध सीधी टक्कर ली थी ।[2]

१- निराला और नवजागरण ,पृ० १४२-- रामरतनभटनागर

२- क ल म अंक १२,पृ० २६-- लेख, लक्ष्मीकान्त वर्मा

उन्नीसवीं शताब्दी के यूरोपीय नवजागरण के पीछे वैज्ञानिक आविष्कार ,फ्रांसीसी राजक्रांति,औद्योगीकरण, स्वच्छन्दतावादी,आदर्शवादी विचारधाराएँ , समाजवाद,अराजकतावाद, यथार्थवाद जैसी प्रवृत्तियाँ नवीन उपलब्ध प्रेरणाशक्ति के रूप में कार्य कर रही थीं । नवजागरण की यह लहर जापान,चीनक और भारत जैसे प्राचीन पूर्वी देशों के नवजागरण में योग देती है । जातीय चेतना के स्वतंत्र विकास और पश्चिम की प्रतिक्रिया -- इन दोनों रूपों में इस नवजागरण को देखा जा सकता है । सार्वभौमिक मानव चेतना को लेकर चलने वाले इस नवजागरण की शिक्षा, समाज सुधार,राजनीति ये तीन प्रमुख दिशाएँ हैं ।

बंगाल को नवजागरण के क्षेत्र में अग्रगामिता प्राप्त है । इसका कारण यही है कि 'इस्लामी शासन-केन्द्रों' से दूर रहने से बंगाल की शक्ति अपराजेय रही जब कि मध्यदेश का बहुत बड़ा भाग कुछ देशी रियासतों के रूप में १६४७ तक मध्ययुगीन सीमाओं से बंधा रहा । दूसरे प्लासी के युद्ध के बाद ही बंगाल अंग्रेजी शासनाधीन होकर नये यूरोपीय ज्ञान-विज्ञान से परिचित होने लगा था । १८१७ में स्थापित कलकत्ता कॉलिज से अंग्रेजी शिक्षितों की एक पीढ़ी तैयार हो गई जिसने अपने को मन से अंग्रेज बनाकर ईसाई मिशनरियों के प्रभाव के कारण भारतीय सभ्यता और संस्कृति को अत्यन्त हेय दृष्टि से देखना प्रारम्भ किया । अंग्रेजी शिक्षा ने हमें नवजागरण की प्रेरणा दी, 'मिल,बर्कलाइल' को पढ़कर स्वतंत्रता और जागृति के विचार उत्पन्न हुए -- ऐसा सोचना सर्वांश सत्य नहीं है । १८३५-३६ में कलकत्ता कालिज के लड़कों को लेकर ईसाई [illegible] ने हिन्दू धर्म की रूढ़ियों और अंधविश्वासों के प्रदर्शन का आन्दोलन केवल इस अर्थ में आयोजित किया ताकि जनता के मन में यह पैठ जाए कि उसके पास सांस्कृतिक दाय के नाम पर कुछ नहीं है । स्वामी विवेकानन्द के अनुसार[1] यह अंग्रेजी शिक्षा बच्चे को स्कूल जाते ही पहली बात यह सिखाती ह कि उसका बाप बेवकूफ है, दूसरी बात यह ह कि उसका दादा दीवाना है तीसरी बात यह कि उसके सभी

गुरु पाखण्डी हैं चौथी यह कि सारे के सारे धर्मग्रन्थ झूठे और बेकार हैं ।[1]

पुनर्जागरण के नेताओं ने शैक्षणिक क्षेत्र में फैली इस [illegible] को चुनौती के रूप में ग्रहण किया । यही कारण है कि पूना में तिलक, चिपलंकर अपनी विशेष पद्धति को लेकर स्कूल खोलते हैं, कर्वे महिला-महाविद्यालय के रूप में नारी-चेतना को जगाते हैं, मध्यदेश में आर्य समाज गुरुकुल की स्थापना करते हैं । राष्ट्रीयता और पुनर्जागरण वगैरह इस अंग्रेजी राज और सभ्यता की चुनौती का जवाब है । इस राज के खिलाफ बगावत की देन हैं, न कि अंग्रेजी राज भाषा, शिक्षा, न्याय, प्रशासन, उदारवाद, विवेकवाद वगैरह की ।[2] अंग्रेजी शिक्षा-पद्धति के पीछे यह भावना काम नहीं कर रही थी कि हम पाश्चात्य चिंतकों को पढ़कर अपने अवरुद्ध देश को जागरण दें । यही कारण है कि अंग्रेज शासकों को जैसे ही यह भान हुआ कि अंग्रेजी शिक्षा का प्रचार अपने पाँवों प[र] कुल्हाड़ी मारना है उन्होंने १८२० में कारलाइल-मिल के लेखों को बी०ए० के पाठ्यक्रम से निकाल कर उनके स्थान पर चमत्कारपूर्ण शैली प्रधान रचनाएँ लगा दीं । वारेन हेस्टिंग्स ने न्याय और शासन-व्यवस्था के नाम पर [illegible] पुस्तकों का अंग्रेजी अनुवाद छपाया । १७८४ में स्थापित एशियाटिक सोसायटी द्वारा [illegible] ग्रन्थों को पढ़कर विश्व के सामने भारत का [illegible] अतीत व्यक्त हुआ, उन्हें पता चला कि भारत विश्व-धर्मभूमि है ।

इस प्रकार अराजकता उत्पन्न करने वाली अंग्रेजों की शिक्षा-नीति असफल होकर हमारे अभ्युत्थान की प्रेरणा बन जाती है । पश्चिमी भौतिक संस्कृति के आघात से ऊँघते हुए भारत के सामने सती प्रथा, बाल-विवाह, विधवा और अछूत समस्याएँ थीं जो उसकी चेतना को अवरुद्ध और पाश्चात्यों के उपहा[स]

१- उद्धृत 'संस्कृति के चार अध्याय, पृ० ५३०-- [illegible] सिंह दिनकर

२- माध्यम, पृ० ३७, दिसम्बर ६५, लेखक- ~~लक्ष्मीकान्त वर्मा~~ कृष्णनाथ

का केन्द्र बनाए थी । धार्मिक और सामाजिक रूढ़ियों में आबद्ध भारतीयों ने बुद्धिवादी धरातल पर समाज सुधार प्रारम्भ किया । राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य के अधिकांश नेता इसीलिए किसी न किसी रूप में धार्मिक-सामाजिक सुधारक रहे हैं । राजाराम मोहनराय और ईश्वरचन्द विद्यासागर ने इस ओर प्रारम्भिक किन्तु महत्वपूर्ण प्रयास किया । सती प्रथा, नारी अशिक्षा, परदा प्रथा, बाल विवाह आदि रूढ़ियों को, जिन्हें मध्यकालीन समाज धर्म के नाम पर विकसित किए था, दूर करने के लिए राजाराम मोहनराय ने हिन्दुओं के प्रामाणिक ग्रन्थों के आधार पर उन्हें असत्य सिद्ध किया । सामाजिक कुरीतियों से ध्वस्त प्राय: 'हिन्दुत्व' का सुधार करना उस समय राष्ट्रीयता की प्रथम अनिवार्यता थी । १८६१ में 'एज आफ कान्सेण्ट बिल' का तिलक ने इसलिए विरोध नहीं किया कि वे समाजसुधार के विपक्ष में थे अपितु विरोध का कारण यह था कि वे नहीं चाहते थे कि कोई विदेशी सत्ता हमारे आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप करे । भारतीय चेतना शिक्षा समाज सुधार से होती हुई धर्म, साहित्य, दर्शन सभी को साथ लेकर राष्ट्रीयता का रूप धारण करती है ..... उन्नीसवीं शताब्दी की सामाजिक हलचलों ने एक अत्यन्त पुरातन जाति में नवीन रूप का संचार कर उसे राष्ट्रीय जागरण की उच्चतर भूमिकाओं पर प्रतिष्ठित किया ।[१]

प्रारम्भ में यह राष्ट्रीयता देशभक्ति और राजभक्ति को एक मान कर चलती रही । उन्नीसवीं शताब्दी के तीसरे चतुर्थांश ने राष्ट्रीयता का एक निश्चित स्वरूप सामने रखा । हिन्दुओं की प्राचीन गौरव गाथाओं ने राष्ट्रीयता के विकास में योग दिया । विलियमजोन्स और मैक्समूलर ने भारत के विषय में प्रचलित ऐतिहासिक दृष्टि को बदला । प्राचीन भारत की खोज आधुनिक भारत की महान उपलब्धि रही है । दूसरी ओर अंग्रेजी उपनिवेशवाद के शिकार आयरलैं

१- निराला और नवजागरण, पृ०४१-- रामरतन भटनागर

के राजनैतिक-राष्ट्रीय संघर्ष ने हमें प्रेरित किया कि हम राष्ट्रीयता के स्वरूप को पहचानें ।

प्रारम्भ में उस राष्ट्रीयता का स्वरूप हिन्दू जातीयता[१] का था जो कि केशवचन्द्र सेन, राजनारायण वसु में मिलता है । स्वामी विवेकानन्द, रामतीर्थ बंकिमचन्द्र आदि नव्य हिन्दूधर्मवादियों ने प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप में हिन्दू राष्ट्रीयता को प्रबुद्ध किया। उन्नीसवीं शताब्दी के इस सांस्कृतिक नवोत्थान ने देश को स्वतंत्र बनाने में योगदान दिया । १८८५ में इंडियन नैशनल कांग्रेस की स्थापना हुई जो नौरोजी, तिलक, गोखले आदि नेताओं का सहयोग पाकर निरन्तर प्रभावशाली होती जाती है । गांधी जी ने इस विकसित राष्ट्रीय धारा को अपने राजनीति-प्रवेश से और प्रबुद्ध किया । उनके यहां धर्म और राजनीति पूर्णत: मिश्रित हो गई है । पर सबसे बड़ी बात यह थी कि गांधी ने राष्ट्रीयता में किसी धर्म विशेष को राजनैतिक स्तर पर महत्व नहीं दिया ।

धर्म और दर्शन के क्षेत्र में राजाराममोहनराय से लेकर गांधी और अरविन्द तक धार्मिक तत्ववेत्ताओं की लम्बी परम्परा ने प्रवृत्ति और कर्मवाद के पुरातन तत्व को तथा ईसाई धर्म से ग्रहीत अहिंसा और मानवतावाद आदि श्रेष्ठ उपलब्धियों को आत्मसात करते हुए क्रियावादी बने धर्म को जीवनचर्या का विषय बनाने की चेष्टा की । १८८३ में जान टामस के आगमन के साथ ईसाई धर्म प्रचारकों के आने की लम्बी परम्परा है । इन ईसाई प्रचारकों ने प्रेस को प्रचार का माध्यम बनाया । दयानन्द ने शुद्धि आन्दोलन द्वारा राह भटके हिन्दुओं को पुन: धर्म में प्रवेश करने की राह बताकर धर्म परिवर्तन द्वारा उत्पन्न हुए संकट को पहचानने की जागरूक दृष्टि का परिचय दिया । ब्रह्म समाज ने मुस्लिम और ईसाई मतों को मान्यता देते हुए निर्गुण ब्रह्म की स्थापना की जो बाद में भक्तियोग के समावेश से अन्तर्विरोधों से पूर्ण हो गया । पश्चिमी दृष्टि की ओर विशेष रुझान होने के कारण ऐतिहासिक खोज और क्रियात्मक प्रयत्न की दृष्टि से ही ब्रह्मसमाज का महत्व माना जा सकता है । पंजाब में नवीनचन्द्रसेन,

---

महाराष्ट्र में प्रार्थना समाज, मध्यदेश में आर्य समाज आदि के रूप में धर्म के आन्तरिक तत्वों को सुधारवादी दृष्टिकोण से खोजा गया । ~~अन्य धारा 'नव्य हिन्दू आन्दोलन' की सुधारवादी दृष्टिकोण से खोजा गया~~ । अन्य धारा 'नव्य हिन्दू धर्मोत्थान' की थी । शशधर तर्क चूड़ामणि तथा कृष्ण प्रसन्न सेन ने सनातन रीतियों और परम्पराओं की प्रतिरक्षा का प्रयत्न किया । बंकिमचन्द्र भी इसी परम्परा के अनुयायी थे । कालान्तर में विवेकानन्द ने 'नव्यहिन्दू धर्म' की अभिनव भूमिका वेदान्त के रूप में प्रस्तुत की ।१९०५ के बंगभंग आन्दोलन के बाद १९०७ से राजनीति के क्षेत्र में भी हिन्दू आन्दोलन की विजय होती है । ब्रह्मसमाज, हिन्दू समाज, रूढ़िवादी ' तथा 'नव्य हिन्दू समाज' के रूप में धार्मिक आन्दोलनों ने पूर्व और पश्चिम का समन्वय कर हिन्दू धर्म को फिर से विश्वधर्म बना दिया ।

अन्य क्षेत्रों के समान पुनर्जागरण की स्थिति साहित्यिक क्षेत्र में भी पहले बंगाल में ही दीख पड़ती है । मानवतामूलक अन्तश्चेतना ने धार्मिक आन्दोलनों को प्रभावित किया तो मानवतावाद ने साहित्य को । माइकेल के 'मेघनादवध (१८६१)' में प्रथम बार देवताओं और राक्षसों को सहज मानवीय दृष्टि से चित्रित करने का प्रयास किया गया है । हिन्दी में १९१४ में रचित 'प्रियप्रवास' में मानवतावादी दृष्टि से कृष्णकथा को देखते हुए कृष्ण को 'महामानव' रूप में प्रस्तुत किया गया है । इसी प्रकार डी०एल०राय(१८४०-१९२९) के साहित्य में ईसाईयत के रंग में रंगी सभ्यता के धरातल पर पश्चिमी तौर तरीकों की खिल्ली उड़ाते हुए[1] अतीत के गौरवपूर्ण आख्यानों को लेकर ऐतिहासिक ना

१- तु०की० डी०एल०राय की 'विलातफेरिता' शीर्षक कविता--हासिर गान

तथा

' ईश गिरिजा को छोड़ ईशु गिरिजा को जाय'

जैसी 'शंकर' की मार्मिक व्यंगोक्तियाँ

उत्पन्न करने का प्रयत्न हुआ । बंकिम (१८३८-१८६४) साहित्यिक नवजागरण के अग्रणी हैं । उन्होंने मानवीय धरातल पर हिन्दू जाति के गौरवशाली चरित्रों को युगधर्म के अनुकूल बनाया है । रवीन्द्र (१८६१-१६४१) के व्यक्तित्व और कृतित्व का सांस्कृतिक पुनर्जागरण में असीम योग रहा है । 'प्रथम प्रभात उदित तक गगने' के रूप में उन्होंने सुप्त-भारत को जगाया ।

हिन्दी में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (१८५०-१८८४) नवोत्थान के प्रणेता के रूप में आए परन्तु उनके असामयिक निधन के कारण उनके द्वारा प्रवर्तित परम्परा की साहित्यिक उपलब्धि अपेक्षाकृत दुर्बल रह गई । भारतेन्दुयुग से द्विवेदी युग तक का साहित्य (१८६७-१६१८) साहित्यिक नवजागरण की भूमिका कहा जा सकता है जैसे बंगला साहित्य में १८१७ - १८६७ का काल पीठिका माना जाता है ।

शिक्षा, समाजसुधार, राजनीति, धर्म और दर्शन तथा साहित्य के धरातल पर नवजागरण का विहंगावलोकन करने के बाद यह अनिवार्य हो जाता है कि हम तत्कालीन प्रमुख सांस्कृतिक आन्दोलनों की प्रक्रिया समझने का यत्न करें जिन्होंने समकालीन भारतीय संस्कृति का स्वरूप निर्मित किया है ।

ब्रह्म समाज

राजाराममोहनराय को 'सत्य के नये द्वीप के अन्वेषण में भारत का कोलम्बस' कहा जाता है । जकारिया ने पुनर्जागरण के बीच उनकी देन का मूल्यांकन करते हुए लिखा है कि "... भारतीय पुनर्जागरण में प्रमुखता प्राप्त करने वालों की संख्या निस्संदेह बहुत बड़ी है पर अन्तत: उन सब के आध्यात्मिक जनक होने का श्रेय एक व्यक्ति-- राजाराममोहनराय और उनके द्वारा स्थापित ब्रह्म समाज को ही मिलेगा ।[१]" शिक्षा के माध्यम के रूप में अंग्रेजी भाषा पर जोर

१- Renascent India. Page 48.

देने वाले राजाराममोहनराय ने समाज सुधार के क्षेत्र में बाल विवाह निरोध सती प्रथा विरोध तथा विधवा-विवाह पुनर्प्रचार के द्वारा नारी-जाति को जागृत किया जिससे उसमें इतनी क्षमता आई कि वह स्वतंत्रता समानता और बंधुत्व के धरातल पर पुरुष-वर्ग के साथ चल सके । राजाराममोहनराय ईसाई व मत से प्रभावित थे किन्तु ईसाई धर्म के प्रचारक नहीं थे । दूसरी ओर औपनिषदिक भावभूमि के ग्रहण करके भी वे अनेक परम्परागत धार्मिकों के सामने नास्तिक थे । उन्होंने इस्लाम से एकेश्वरवाद लिया और उसे हिन्दू धर्म ग्रन्थों के ज्ञान और प्रोटेस्टेण्ट ईसाई मत के आधार पर व्याख्यायित किया । १८२२ में उन्होंने ब्रह्मसमाज की स्थापना की जो अभिनव हिन्दुत्व का उपनिषदों के अद्वैतवाद पर आधारित एक ऐसा रूप था जो सर्वधर्म समन्वय के आदर्श को 'धार्मिक समवाय' के रूप में प्रस्तुत करना चाहता था । १८३३ में इंगलैण्ड में राजाराममोहनराय का देहावसान हो जाने के बाद इस संस्था का कार्यभार महर्षि देवेन्द्रनाथ ने वहन किया ।

देवेन्द्रनाथ ठाकुर

धार्मिक विचार विमर्श के लिए आपकी 'तत्वबोधिनी सभा' थी जिसे महर्षि ने १८४२ में ब्रह्मसमाज में मिला दिया । मूर्तिपूजा और कर्मकाण्डों के विरोध में इनके विचार राजाराममोहनराय के समान थे । वेदों और उपनिषदों के आधार पर राजा [illegible]राय ने हिन्दू धर्म के मौलिक रूप को उन ईसाई प्रचारकों के सामने प्रस्तुत किया जो रूढ़ कर्मकाण्डों को लेकर हिन्दू धर्म की आलोचना किया करते थे । महर्षि देवेन्द्रनाथ और उनकी शिष्यमण्डली ने खोज की कि वेदों की [illegible] कल्पित है । फलत: ब्रह्मसमाज हिन्दुत्व से दूर जाने लगा और केशवचन्द्र सेन के नेतृत्व में वह पूर्णत: [illegible] में रंग गया ।

केशवचन्द्र सेन

आप हिन्दुत्व को ईसाइयत की ओर ले जाना चाहते थे । उन्होंने १८५७ में ब्रह्मसमाज में प्रवेश कर हिन्दू अनुष्ठानों आदि प्रथा का खंडन करते हुए

अन्तर्जातीय विवाह का समर्थन किया । १८६६ में देवेन्द्रनाथ और केशवचन्द्र सेन में मतभेद हुआ और महर्षि ने अपने अनुयायियों को लेकर 'आदि ब्रह्मसमाज' बनाया । विश्व धर्म के व्याख्याता के रूप में सब धर्मों से प्रार्थनाएं लेकर एक 'प्रार्थना संग्रह' निकाला । नाबालिग कन्या के विवाह के प्रश्न पर इनका विरोध किया गया और विरोधियों ने 'साधारण ब्रह्म समाज' तथा केशव बाबू ने 'नवविधान सभा' का संगठन किया । केशवचन्द्र सेन भारत का पश्चिमीकरण करना चाहते थे न कि पश्चिम का भारतीयकरण या दोनों का समन्वय । ब्रह्म समाज सामान्य हिन्दू परम्परा से छिन्न होने के कारण कुछ थोड़े से बौद्धिक धनाढ्य लोगों के बीच सिमट कर रह गया ।

महाराष्ट्र में नवोत्थान

महाराष्ट्र में नवजागरण का रूप मूलत: सामाजिक रहा है जब कि बंगाल में उसका रूप धार्मिक था । १८४६ में जाति प्रथा की विरोधक 'परमहंस समाज' नामक संस्था बनी जो विरोधों के बीच अधिक दिन नहीं चला । १८६४ में केशवचन्द्र सेन बम्बई गए और उनके प्रभाव से जाति प्रथा के विरोध, विधवा-विवाह समर्थन, स्त्री शिक्षा प्रचार, बाल विवाह अवरोध के चार उद्देश्यों को लेकर 'प्रार्थना समाज' के रूप में 'ब्रह्मसमाज' की शाखा खुली ।

रानाडे इस प्रार्थना समाज के प्रमुख नेता थे । उन्होंने हिन्दू समाज से अलग ईसाईयत को न अपनाते हुए मध्यकालीन महाराष्ट्रीय भक्ति आन्दोलन के भक्ति समाज को जनग्राह्य बनाया । रानाडे के सांस्कृतिक नेतृत्व में १८८४ में 'दक्षिण एजुकेशन सोसायटी' की स्थापना की गयी जिसने आधुनिक भारत के निर्माताओं के निर्माण का कार्य अपना उद्देश्य बनाया[१] । विष्णुकृष्ण चिपलूंकर (१८५०-१८०२) ने सरकारी नौकरी छोड़कर निजी स्कूल खोला । 'आर्यभूषण' इनका अपना प्रेस था

१. "Starting from the premises that mould the future of India it was necessary to take in hand the education of its youth and impregnate it with those ideas of patriotism and duty to motherland which foreign instructors obviously were unable to impart ..." quoted Renascent India. Page 48.

जिसके दो साप्ताहिक निकलते थे 'केसरी' मराठी में तथा 'मराठा' अंग्रेजी में । गोपालगणेश आगरकर और तिलक इनके सहयोगी थे ।

बालगंगाधर तिलक ने १८९० में 'दक्षिण एजुकेशन सोसायटी' छोड़ दी तथा नैतिकता को देशभक्ति का सहायक चेतना मान कर गोहत्या रोकने का आन्दोलन चलाया । १८९३-९४ में बम्बई पूना में हुए हिन्दू मुस्लिम दंगों के बाद १८९५ में तिलक ने 'शिवाजी मेला' और 'गणेश पूजा' के रूप में हिन्दू राष्ट्रीयता को उग्र किया । 'स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है' कहने वाले तिलक भारतीय राष्ट्रीयता के जनक कहे जा सकते हैं । जेल में लिखे 'गीता रहस्य' को तिलक ने लिखा वह प्रवृत्तिवादी धारा से, निवृत्ति और संन्यास में खोई निराश जनता के प्राणों को गौरव और अभिमान सिखाने का महत्वपूर्ण प्रयास था । उन्होंने बताया कि हिंसा और 'जैसे को तैसा' नीति का जीवन में क्या औचित्य है । किन्तु इस आधार पर हम उन्हें हिंसावादी नहीं कह सकते[1] । देश को निर्माण का पाठ पढ़ाने वाले तिलक वस्तुतः राष्ट्रीयता के जनक हैं । उन्होंने राष्ट्रीयता के भाव लोगों में रखे और जहाँ शासन करने वाली जाति के प्रति घृणा जगाई है, वहाँ स्वदेश के लिए गौरव जगाया था । राष्ट्रीयता का औचित्य-पक्ष लोकमान्य तिलक में आकर साकार हुआ[2] ।

गोपालकृष्ण गोखले कांग्रेस के नरम दल के नेताओं में प्रमुख स्थान रखते हैं । इनका उद्देश्य ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत स्वशासन की प्राप्ति था । आप राजनीति को नैतिकता की सहायक चेतना मानते थे[3] । जनता के जीवन की आत्मिक -विशुद्धता

१- " was Tilak an advocate of violence is question which is often posed. The author feels confident that the reader will reply the question emphatically in the negation with this reservation that Tilak could understand why impatient youths turn to violence, was ready to appreciate their patriotic fervous and was willing to disdown them.
- Lokmanya Bal Gangadhar Tilak. Page 653. by S.L.Karandikar.

२- संस्कृति के चार अध्याय, पृ० ५५६--दिनकर

३- "Gokhele neither lacked manliness nor was he the person to underrate the value of Physical culture; but for him the primacy of spiritual was axiomatic and therefore politics subordinate to Ethics.
- Renascent India. Page 53.

प्रदान करने के लिए गोखले ने १९०५ में `सर्वेण्ट्स आफ इण्डिया सोसायटी` का स्थापना की जिसका उद्देश्य उन्हीं के शब्दों में -- "A fervent patriotism which rejoices at every opportunity of sacrifice fot the motherland, a dauntless heart which refuses to turned back from its object by difficulty or by a deep faith in the purpose of of providence which nothing can shake - equipped with these, the worker must start on his mission and reverently seek the joy which comes of spending oneself in the service of one's country."

कर्वे मूलत: समाज सुधारक थे । उन्होंने १८९६ में पुना में `हिन्दु विधवा गृह` खोला । नारी - शिक्षा के प्रति आप विशेष रूप से जागरूक थे । १९०७ में स्थापित महिला महाविद्यालय १९१६ में विश्वविद्यालय का रूप ले लेता है । `देवधर` ने १९०९ में नारी जाति की उन्नति के लिए श्रीमती रमाबाई रानाडे के घर `पुना सेवा सदन` नामक संस्था खोला ।`सेवासदन` से पूर्व श्रीमती रमाबाई सरस्वती `शारदा सदन` (१८८९) ~~स~~ के रूप में विधवा सुधार गृह` निर्माण का योजना को कार्यान्वित कर चुकी थी । किन्तु जब उन्होंने ईसाइयत स्वीकार की तो इस संस्था का विरोध किया गया । फलत: यह संस्था ~~१९२३~~ १८८३ में भंग हो गई । देवधर के `सेवासदन` ने इस अपूर्ण कार्य को अपने हाथ में लिया । इसकी शाखाएँ भारत भर में फैलीं । अन्य धार्मिक-सामाजिक आन्दोलनों में मध्यदेश का `आर्य समाज` बहुत प्रमुख है जिसके संस्थापक ऋषि दयानन्द थे ।

ऋषि दयानन्द और आर्य समाज

आर्य समाज के द्वारा मध्यदेश अपनी जागृति का परिचय देता है । बंगाल के राजा राममोहन राय और महाराष्ट्र के रानाडे ने हिन्दुत्व के सुधार पर अपनी ताकत लगाई तो ऋषि दयानन्द ने हिन्दुत्व पर जमी रूढ़ि के आवरण को

क्रान्तिकारी ढंग से समाप्त करते हुए धर्म के शुद्ध वैदिक स्वरूप को घोषित करने के लिए सारे देश में भ्रमण किया। ईसाइयों और सनातन कट्टरपंथियों, दोनों से समान रूप से लोहा लिया। हमारे धर्म और संस्कृति को बुरा कहने वाले कितने मत पानी में हैं उनकी थाह सबसे पहले स्वामी जी ने ली। 'सत्यार्थप्रकाश' में ईसाइयत और इस्लाम मत की आलोचना पर पृथक्रूप से खुल्लम लिखे। अब तक चली आ रही रक्षात्मक लड़ाई इस प्रकार आक्रामक भी हो सकती है, इसका इससे पूर्व कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। 'दिनकर' के अनुसार "जैसे राजनीति के क्षेत्र में हमारा राष्ट्रीयता का सामरिक तेज पहले पहले तिलक में प्रत्यक्ष हुआ वैसे ही संस्कृति पक्ष में भारत का आत्माभिमान स्वामी दयानन्द में निखरा"। १५ अप्रैल १८७५ को आर्य समाज की स्थापना की गयी जिसने शिक्षा के क्षेत्र में प्राचीन गुरुकुल पद्धति को मान्य ठहराया। स्वामी दयानन्द ने स्वराज्य का महिमा गाई, हिन्दी को व्यापक प्रचार का माध्यम बनाया, नारी शिक्षा के लिए शुद्धि आन्दोलन के रूप में उन ढाई हजार मालाबार के हिन्दुओं को फिर से अपनाया जो मुसलमानों द्वारा जबर्दस्ती हिन्दू बनाए जा चुके थे। सती प्रथा, उग्र वर्णाश्रम धर्म, छुआछूत आदि का खण्डन करते हुए दयानन्द ने राष्ट्रीय संस्कारों और संस्थाओं को उत्तरभारत में विकास की उर्वर भूमि प्रदान की।

<u>एनीबेसेण्ट और थियोसोफिकल सोसायटी</u>

थियोसोफिकल सोसायटी की स्थापना १८७५ में न्यूयार्क में हुई। १८७९ में ब्लेवाट्स्की के भारत आगमन और १८९३ में एनी बिसेण्ट के भारत आने के बाद उनके यहां के धार्मिक-सांस्कृतिक आन्दोलनों में भाग लेने से इस संस्था का महत्व और ऊँचा हुआ। हिन्दू पौराणिक धर्म की वैज्ञानिक व्याख्या कर इन्होंने रहस्यवाद और बुद्धिवाद के एकान्त छोरों को एक करने का प्रयास किया। इस संस्था ने अखण्ड हिन्दुत्व का समर्थन किया और भारत को हिन्दुत्व का पर्याय मानते हुए हिन्दुओं को नवजागरण के लिए प्रबुद्ध किया। थियोसोफी धर्म नहीं, धर्म का आश्रम है जहाँ मुसलमान, ईसाई हिन्दू होकर भी उसका सदस्य बनाया जा सकता है। 'विश्वबन्धुत्व', 'तुलनात्मक धर्म' और 'परलोक विद्या का संधान' थियोसोफी के ये तीन उद्देश्य अत्यन्त स्पष्ट हैं। इस प्रकार जहाँ हिन्दुत्व की [illegible] करते हैं [illegible] था, वहाँ इस संस्था ने पुराण, [illegible], [illegible] स्मृति, वेद,

उपनिषद् , गीता आदि के द्वारा समग्र हिन्दुत्व का समर्थन कर हिन्दुओं के भीतर अपने धर्म के प्रति आस्था और इतिहास के प्रति गौरव अभिमान जगाया । तिलक के के होमरूल आन्दोलन में भाग लेने के कारण १९१७ में एनी बेसेण्ट नज़रबन्द की गई और उसी साल कांग्रेस की सभापति बनीं । पुनर्जन्म और आत्मा की अमरता का प्रचार करने वाली इस संस्था ने हिन्दुत्व को शंकित दृष्टि से देखने वालों को समग्र हिन्दुत्व में आस्था दी और गांधी के राष्ट्रीय आन्दोलन के लिए भूमि तैयार की ।

स्वामी रामकृष्ण

बंगाल का चैतन्य की परम्परा में आते हैं । "आधुनिक जीवन के संदर्भ में उन्हें समझना कठिन है, फिर भी वे हिन्दुस्तान के बहुरंगी ढांचे के अनुरूप हैं ।"[1] सहज बुद्धि और गहन कल्पनाशीलता से उन्होंने विश्व धर्म की पीठिका तैयार की । रामकृष्ण परमहंस के व्यक्तित्व और साधना में ज्ञान,योग और भक्ति की समान स्वीकृति है जिसमें कर्म जोड़कर विवेकानन्द ने भारतीय संस्कृति का स्वरूप निर्मित किया । उन्होंने न तो किसी पंथ को चलाया न तर्क-वितर्क से हिन्दुत्व को बल दिया वे सच्चे अर्थों में संत थे । अनुभूति से धर्म की उपयोगिता को समझने वाले परमहंस, देवी-देवता , पारम्परिक आचार-विचार और धार्मिक विश्वासों से मुक्त थे । उनके परम शिष्य --

स्वामी विवेकानन्द ने उनसे लिए ज्ञान,योग और भक्ति में 'कर्म' मिलाकर 'नव्य वेदान्त' से समस्त संसार को यह बता दिया कि भारत ही उनका आध्यात्मिक गुरु है । दूसरी ओर हीन [illegible] को उन्होंने ललकारा । पश्चिमी प्रभाव,ईसाई मिशनरियों के विष-वमन के बीच स्वयं अपने ही विरोधियों की शंका से संत्रस्त भारतीय मानस को उन्होंने बुद्धिगम्य, वैज्ञानिक, व्यावहारिक और प्रेरणादायक रूप में 'अद्वैत [illegible]' प्रदान किया । दुर्बलता को एकमात्र पाप मानकर निर्भीक बनने का संदेश दिया । संसार की धारा में कटे हुए भारत को अद्वैतवेदान्त और [illegible] समाज के मेल से

१- हिन्दुस्तान की कहानी,पृ० ४१६--जवाहरलाल नेहरू

उत्पन्न मानव धर्म को अपनाते हुए संसार के प्रगतिशील राष्ट्रों के साथ चलाना उनका उद्देश्य था । उस 'तूफानी हिन्दू' ने हिन्दू जनता के मध्यकालीन रूढ़ संस्कारों को धोकर वेदान्ती मस्तिष्क, इस्लामी शरीर के सहयोग की उद्भावना के रूप में समस्त मतवादों को एकसूत्र में बांधने का प्रयास किया । राष्ट्रीयता-अन्तर्राष्ट्रीयता, धर्म-अध्यात्म, राजनीति, समाज नीति सबों का उस 'नव्य वेदान्त' में स्थान था । इसी से टैगोर कहा करते थे कि " यदि कोई भारत को समझना चाहता है तो उसे विवेकानन्द पढ़ना चाहिए ।" प्रवृत्ति, शक्ति-साधना, राष्ट्रीय एकता, मातृभूमि प्रेम को अद्वैत वेदान्त के धरातल पर प्रचारित करने वाले विवेकानन्द ने धर्म को लेकर हमारी खिल्ली उड़ाने वाले पश्चिम को यह बताया कि भौतिक और यांत्रिक उन्नति के बावजूद उन्हें पूर्व से अध्यात्म और दर्शन सीखना होगा । सुप्तजाति के पौरुष और अभिमान को जगाकर उन्होंने सांस्कृतिक राष्ट्रीयता को जन्म दिया ।

रवीन्द्रनाथ टैगोर

विवेकानन्द के ही समकालीन थे । 'तत्वबोधिनी पत्रिका' के प्रकाशक महर्षि द्विजेन्द्रनाथ के घर में १८६१ में टैगोर का जन्म हुआ । फलत: उपनिषदों का संस्कार उन्हें परिवार से मिला । वे बंगाल के वैष्णव कवियों की ईश्वरवादी मानवतावादी धारा से काफी प्रभावित थे जिसमें क्रियावादी नैतिकता, वैराग्य मार्ग की मुक्ता, व्यावहारिक जीवन के मूल्य की स्वीकृति, दार्शनिक-धार्मिक दृष्टि से उदारता-सहिष्णुता और सामाजिक भेदभाव को शिथिल करने का स्वर पाया जाता है । इस दृष्टि से टैगोर बाउल, पंथियों, कबीर, दादू, तुकाराम आदि से भी प्रभावित हैं । बौद्ध दर्शन के अतिरिक्त यूरोपीय चिन्तन को उन्होंने इस ढंग से अपनाया कि वह पूर्णत: भारतीय हो गया है, क्योंकि उनके अनुसार *सत्य* मुख्यत: सम्बद्धता में निहित है और मुख्य विपरीत शक्तियों के सामंजस्य में[१] । बलियोंवाला बाग

१- "The Religion of man" Page 22. Rabindra Nath Tagore.

नृशंस
के जलियान हत्याकाण्ड के बाद 'सर' की उपाधि त्यागने वाले कवि का स्वप्न 'शान्ति निकेतन' के रूप में फला-फूला जो अंग्रेजी पढ़े-लिखे बाबू बनाने के कारखाने से पृथक् सच्ची शिक्षण संस्था के रूप में चलता रहा है।

गांधी के यहाँ जो सत्य शिव है टैगोर के यहाँ सौन्दर्य की मूर्ति ही मंगल की मूर्ति है। गांधी अटूट वैचारिक दृढ़ता से बंधे हैं तो टैगोर [illegible] से राह भटकने का सुख जानते हैं। गांधी का जीवनदर्शन तापसिक है तो टैगोर वैराग्य साधना में मुक्ति का निवास नहीं मानते। नेहरू के शब्दों में "वे खास तौर से हिन्दुस्तान की सांस्कृतिक परम्परा के नुमाइंदे थे -- उस परम्परा के जो जिन्दगी को उसके पूरे रूप में स्वीकार करती है और जिसमें नाच के गाने के लिए जगह है। गांधी जी खास तौर से जनता के आदमी थे, वे हिन्दुस्तान की पुरानी परम्परा के नुमाइंदे थे। यह परम्परा थी संन्यास और त्याग की।"[1] "प्रकृति और मनुष्य को परस्पर पूरक घोषित कर टैगोर ने बहुत दिनों से चले आते उनके पारस्परिक द्वन्द्व को मिटाकर मानवतावादी दृष्टिकोण से 'मानवधर्म' को असीम मानवता में परिभाषित किया।" उन्होंने श्रमिकों और किसानों में ईश्वर के दर्शन किए न कि गिरि-कन्दराओं में की जाने वाली निवृत्ति-साधना में।" भारत का वर्तमान विश्व को संदेश -- टैगोर' का मूल्यांकन करते हुए कहा जा सकता है कि अद्भुत मेधा सम्पन्न टैगोर पुरातन-नवीन, पूर्व-पश्चिम की संस्कृतियों के समन्वय-बिन्दु थे। आज आणविक युग में पूर्व और पश्चिम दोनों को टैगोर से शिक्षा ग्रहण करनी है[2]।

१- हिन्दुस्तान की कहानी, पृ० ४२१--जवाहरलाल नेहरू

२- "Tagore was a giant of mind; has stature stands out at the cross-roads of two ages, traditional and modern, and of of two cultural worlds, East and West.... and to-day, at the doorstep of the atomic age, both East and West still has must to learn from him".

— American Review. Page 5, April, 1961.

अरविन्दघोष

रामकृष्ण परमहंस और स्वामी विवेकानन्द से प्रभावित प्रारम्भिक आतंकवादी अरविन्द घोष ने संबुद्धि और दिव्य शक्ति से अतिमानव की कल्पना की। मानव-मन की गठन कर सूक्ष्म मार्मिक संश्लेषण उन्होंने किया और मानव चेतना के रूपान्तर में अपनी गहरी आस्था व्यक्त की। जाति वर्गों में विभक्त मानवता को अरविन्द ने सूक्ष्म आत्मचेतना का संदेश देकर जाव-ब्रह्म, लोक-परलोक पूर्व-पश्चिम, भूतवाद-आध्यात्मवाद को अविरोधी रूप से प्रस्तुत किया। १९१० में उन्होंने पाण्डिचेरी आश्रम की स्थापना की जो विस्तीर्ण आध्यात्मिक ज्ञान को योग साधना द्वारा प्राप्त करने का सामूहिक सिद्धि केन्द्र है। इंग्लैण्ड में शिक्षित दीक्षित अरविन्द में पूर्व और पश्चिम का सर्वांगपूर्ण संश्लेषण मिलता है। वे अंतिम मानव सृष्टा[1] हैं जो अपने हाथ के दृढ़ अशिक्षित पाश में सृजन शक्ति का विराट धनुष पकड़े हैं।

महात्मा गांधी

नेहरू के शब्दों में गांधी जी व रोशनी के उस किरण की तरह थे जो अंधकार में पैठ गई और जिसने हमारी आँखों के सामने से पर्दे को हटा दिया[2]। अफ्रीका में व्याप्त जातीय भेदभाव के खिलाफ मानवतावादी विचारक गांधी ने लोहा लिया। भगवद्गीता उनके स्वाध्याय और फिर जीवन का विषय बनी। ईसा, टालस्टाय, थोरो ने उन्हें प्रभावित किया। गांधी जी का कार्यक्षेत्र समाज धर्म, राजनीति, रहनसहन, शिक्षा आदि जीवन के समस्त क्षेत्रों को घेरे हुए है। अछूतोद्धार, सर्वधर्म समन्वय, सविनय अवज्ञा, असहयोग आन्दोलन, सत्याग्रह, नारी जागरण भारतीयता, बुनियादी शिक्षा प्रणाली, सत्य की खोज, पूर्ण स्वराज्य प्राप्ति, भारत के

१- रश्मियां रोला का कथन उद्धृत शिल्प और दर्शन, पृ० ३४२—सुमित्रानन्दन पन्त
२- हिन्दुस्तान की कहानी, पृ० ४४४—जवाहरलाल नेहरू

रामराज्यीकरण का स्वप्न— गांधी जी के सृजनात्मक अनुचिन्तन और भारत की मिट्टी के प्रति गहरे मोह का परिणाम है। उन्होंने सच्चे रूप में भारत का प्रतिनिधित्व किया। 'सत्य को परमेश्वर' कह कर 'संगच्छध्वं' के आदर्श को प्रतिफलित होने का अवसर दिया। जातियों, धर्मों, देशों, राष्ट्रों का सम्मिलन इसी व्यापक भूमिका पर सम्भव हो सकता था। गांधी जी का सत्याग्रह अनन्त शक्ति का परिचायक था। ~~कर्म-धर्म-का-सत्याग्रह~~ उनकी अहिंसा की विचारधारा कायरता की परिचायक नहीं थी, वह तो सबल की सामर्थ्य है, निष्क्रियता का नहीं, कर्म का दर्शन है। नवोत्थान के उस राजनीतिक नेता ने धर्म को जीवन व्यापी बना दिया। उनकी राजनीति भी धर्म से अनुप्राणित थी मगर उनका 'धर्म' प्रचलित 'धर्मान्धता' से भिन्न था। सत्य को ईश्वर मानने वाले का धर्म अन्ततः मानव-धर्म ही हो सकता है। वे दयानन्द, तिलक, गोखले आदि से अनुप्राणित राष्ट्रीयता की धारा का नेतृत्व कर वे देश को स्वाधीन कराने वाले राजनैतिक कार्यकर्ता मात्र ही नहीं थे, उन्होंने सच्चे अर्थ में 'भारत राष्ट्र' का निर्माण किया। इसीलिए राष्ट्रपिता द्वारा निर्मित आधुनिक युग 'गांधी युग' कहा जाता है। महात्मागांधी जी भारतीय पुनर्जागरण के चरम विकास हैं।

<u>साहित्य संस्कृति और महाकाव्य</u>

साहित्य सांस्कृतिक अभिव्यक्ति का अमोघ माध्यम है और साहित्य में भी यह ~~भी~~ दायित्व मूलतः महाकाव्य का रहा है। व्यास का महाभारत, वाल्मीकि का रामायण, तुलसी का रामचरित मानस, होमर रचित इलियड, ओडेसी, दान्ते की डिवाइनकामेडी, मिल्टन का 'पैराडाइजलोस्ट' आदि महाकाव्यों की अक्षय कीर्ति का रहस्य जीवन के उच्चतम आदर्शों के संवहन, तथा अपने विशाल कलेवर में विराट राष्ट्र की संस्कृति के संश्लिष्ट संचरण में निहित है। जातीय चेतना की चरम उपलब्धियाँ अपने प्रकाशन का माध्यम 'साहित्य' को मानती हैं। साहित्य के विविध रूपों में महाकाव्य को सर्वोपरि स्थान प्राप्त रहा है। महाकाव्य की महार्घता के मूल कारण उसके रचना उपकरण हैं। महत् उद्देश्य, सांस्कृतिक जीवनमूल्यों की स्थापना, प्राचीन

आदर्शों को उदात्त, विराट कल्पना और रागात्मकता की सुगंठित और प्रख्यात कथानक में जीवित मन पात्रों के द्वारा निर्मित करने की क्षमता महाकाव्य के 'महा' उपादानों की महार्घता के प्रकट प्रमाण हैं। महाकाव्य जातीय चेतना को संकलित कर युग-जीवन का उन्नत बोध प्रतिफलित करते हैं। कवीन्द्र रवीन्द्र ने कहा था कि एक व्यक्ति की कवित्व शक्ति जब समस्त जातीय संस्कारों को काव्य का बाना पहनाती है तभी महाकाव्य की सृष्टि होती है। महाकाव्य समस्त जाति के हृदय का दर्पण कहा जा सकता है।

सांस्कृतिक चेतना की खोज दार्शनिक तत्त्व चिन्तन के ग्रन्थों के आधार पर भी की जाती है परन्तु धर्म और दर्शन संस्कृति के एकमात्र निर्णायक नहीं हो सकते। शंकर-दर्शन का अद्वैतवाद उस अधिकांश जनता के मूल्यों और जीवन-दर्शन से दूर पड़ जाता है जो गृहस्थ धर्म को लेकर चल रहे हैं। मानवीय जीवन और स्थायी मूल्यों की चेतना उच्चकोटि के विचारशील साहित्यकार द्वारा रचित रचना में सांस्कृतिक प्रत्ययों, प्रतीकों द्वारा व्यक्त होती है। किसी जाति के रचनात्मक मूल्यों की समग्र अभिव्यक्ति को साहित्य में भली प्रकार खोजा जा सकता है। साहित्य में भी अन्ततः यह दायित्व 'महाकाव्य' का रहा है। महाकाव्य सांस्कृतिक तत्त्व की अन्तः प्रक्रिया है। दर्शन का प्रभाव, सभ्यता की विचारधाराएँ 'महाकाव्य' में सक्रिय रूप से जीवन्त रहती हैं। या तो वह साहित्यकार बड़ा होता है जो आवेश और आवेग को सौन्दर्यात्मक धरातल पर प्रस्तुत करता है (इसी अर्थ में मेघदूत की सार्थकता है) या वह साहित्यकार और उसका साहित्य महान् होता है जो सांस्कृतिक प्रक्रिया से परिचालित होकर विविध घात-प्रतिघातों के बीच जीवन की समग्रता का अंकन करता है। जीवन के तत्त्वों की कि विस्तृत चेतना को लेकर चलने वाला 'महाकाव्य' जीवन विवेक सम्पृक्त होने से जातीय महत्त्व रखता है। जातीय जीवन और उसके आदर्शों से सीधा सम्बन्ध 'महाकाव्य' द्वारा स्थापित किया जाता है।

महाकाव्य युगों की साधना के परिणाम कहे जाते हैं। 'विश्व के महाकाव्य मनुष्यता की प्रगति के मार्ग में मील के पत्थरों के समान होते हैं, वे व्यंजित करते हैं कि मनुष्य किस युग में कहाँ तक प्रगति कर सका है।'[१] परन्तु इसी

१- अर्धनारीश्वर, पृ० ४६-- रामधारी सिंह दिनकर

कारण से महाकाव्य को इतिहास नहीं कह सकते । इतिहास केवल अतीत का चित्रण करता है जब कि महाकाव्य की दृष्टि अतीत वर्तमान से होती हुई भविष्य तक जाती है । केवल इतिहास को छन्दोबद्ध करने वाला महाकवि नहीं कहा जा सकता । काव्यात्मक धरातल की निश्चित सीमा के भीतर महाकाव्य जातीय सत्यों, शाश्वत मूल्यों की समग्र अभिव्यक्ति करते हैं । दार्शनिक या धार्मिक साहित्य जहाँ जीवन का प्राणतत्त्व छूट जाता है वहाँ महाकवि अपनी रचना में धार्मिक और दार्शनिक चेतना को अपने जीवन का अंग बनाकर समस्त जनों के बीच सत्य को दिखाता है । अतः दार्शनिक आस्थाओं को संस्कृति का अंग मानते हुए भी भारतीय धर्म और दर्शन को संस्कृति का पूर्ण प्रस्तुतकर्ता स्वीकार नहीं किया जा सकता[1] । उनके लिए हमें वाल्मीकि का रामायण, व्यास के महाभारत, कालिदास के शकुन्तलम् तथा तुलसी के मानस की ओर जाना होगा । क्योंकि साहित्य के इस रूप महाकाव्य में ही यह संभव है कि वह जीवन के समग्र चिन्तन द्वारा "हममें उस वास्तविकता की चेतना उत्पन्न कर सके जो हमारी रागात्मक अन्तः प्रकृति के लिए सार्थकता रखती है[2] ।"

महाकाव्य की कसौटी और अध्ययनार्थ गृहीत महाकाव्य

साहित्य की इस विधा 'महाकाव्य' को पारिभाषित करने का प्रयास पूर्व और पश्चिम दोनों में काफी लम्बे समय से होता रहा है । आचार्य भामह, दण्डी, रुद्रट और विश्वनाथ प्रभृति विद्वानों ने महाकाव्य के लिए आख्यात, उत्पाद्य अथवा मिश्रित कथानक, धीरोदात्त, धीर प्रशान्त धीर ललित या धीरोद्धत नायक कम से कम सात सर्गों में अनुबन्धित प्रबन्ध कथा जिनमें अलग-अलग छन्दों का प्रयोग हो, विशाल वस्तु वर्णन, वीर, शृंगार या शांत में किसी एक रस का प्राधान्य तथा इतर रसों का सन्निवेश प्रारम्भ में मंगलाचरण सज्जनप्रशंसा, खलनिन्दा तथा प्राचीन संस्कृति

1- आधुनिक भारतीय संस्कृति, पृ० ३३-- डा० [illegible]

2- आधुनिक समीक्षा, पृ० ११-- डा० देवराज

की गरिमा का आधान होना अनिवार्य माना है । पाश्चिमात्य काव्यशास्त्र के जनक 'अरस्तु' की महाकाव्य विषयक प्रायः सभी विशेषताएँ भारतीय महाकाव्यों के लक्षणों से मिलती हैं । अरस्तु के अनुसार " महाकाव्य काव्यानुकृति का वह भेद है जो व्याख्यानात्मक हो, जिसमें एक छन्द का प्रयोग किया गया हो, जिसमें उन्नतर कोटि के व्यक्तियों का चरित्र चित्रण हो और सर्ग अनेक घटनाओं के उचित समावेश के कारण महत्त्व और गरिमा से युक्त हों।" सी.एम.बावरा, केर, एबरक्रोम्बी, डिक्सन अरस्तु, वाल्टरपेटर आदि नए पुराने पाश्चात्य मीमांसकों ने[3] महाकाव्य के जो लक्षण निर्धारित किये हैं उनमें उदात्त कथानक[1], व्यापक अनुभूति[2 उदात्त चरित्र-चित्रण] सामाजिक[4] विचार[5], कल्पना शक्ति[5], गरिमामय घटनाओं का आकलन तथा निर्दोष[6] विचार गर्भित शिल्प सौष्ठव[7] आदि हैं ।

उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी में हीगेल व शाबेनहावर प्रभृति विद्वानों ने महाकाव्य और जातीय जीवन की घनिष्ठता पर बल देते हुए कहा कि महाकाव्य में किसी जाति की सामूहिक भावनाएँ,आशा-आकांक्षाएँ, विश्वास और जीवन मूल्य प्रकट होते हैं । जातीय जीवन का प्रतिनिधित्व करने वाला महाकाव्य राष्ट्रीय संस्कृति का महोच्चार होता है । किसी भी देश की संस्कृति का परिचय उसके महाकाव्य दे सकते हैं ।

१- अरस्तु का काव्यशास्त्र,पृ०२२७ भूमिका -- डा० नगेन्द्र

२- साहित्य रूप पृ०२२३ पर डिक्सन के विचार--डा० रामअवध द्विवेदी

३- "Epic poetry agrees so far with tragic as is an imitation of great characters and actions by means of wor/ds.
- Aristotle's Poetics. Page 13. Demetrius.

४- The Prime material of the epic poet then, must be real and not invented .... It means that the story must be founded deep in the general experience of man" -The Epic.P. 55-56 Abercrombie

५- साहित्य रूप पृ०२२३-२४ पर डिक्सन का मत--डा० रामअवध द्विवेदी
An Epic poem is by common consent a narrative of such length and deals with events which have a certain grandeur and importance - From Virgil to Milton. Page 1 - C.M.Bowra.

७- साहित्य रूप,पृ०२२४ पर कौरेल के विचार -- डा० रामअवध द्विवेदी

आधुनिक हिन्दी महाकाव्यों पर निकले शोध के प्रबन्धों में महाकाव्य को पारिभाषित करके उस आधार पर कुछ महाकाव्यों को विवेच्य बनाया गया है। 'बीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध के महाकाव्य' में डा० प्रतिपाल सिंह ने इतिहास, विज्ञान और दर्शन के समन्वय द्वारा पूर्ण मानवता की सृष्टि, मानव जीवन की विविध परिस्थितियों का सम्यक् विवेचन, प्रकृति और मानव का पूर्ण सामंजस्य को महाकाव्य का लक्षण मानते हुए 'महाकाव्य प्रणयन को एक सांस्कृतिक प्रयत्न माना है'[1]। 'हिन्दी महाकाव्यों का स्वरूप विकास' में डा० शम्भूनाथ सिंह ने महाकाव्य के सामान्य लक्षणों से अधिक बल अनवरुद्ध जीवन की समग्रता को लेकर चलने वाली उस शक्ति पर दिया है, जिसमें जातीय भावनाओं और संस्कृति की सुन्दर अभिव्यक्ति हो[2]। वस्तुत: महाकाव्य की महाघता के उपकरण उसका भीमकाय कलेवर, गौरवता और मंगलाचरण आदि नहीं हैं, यह बाहरी साज-सज्जा है। अनुभूति की गहराई से युक्त महत्प्रेरणा, उच्च मानसिक धरातल और विराट कल्पनाशक्ति के कारण सम्भव गुरुत्व गाम्भीर्य, मानसिक क्षितिज के विस्तार से चित्रित जीवन की समग्रता, महिमाशाली नायक और सुसंघटित घटनान्त्त कथानक में कवि की महाप्राणता से प्रेरित गरिमामयी उदात्त शैली में अभिव्यक्ति पाकर गम्भीर रस व्यंजना द्वारा अनवरुद्ध जीवन शक्ति और सशक्त प्राणवत्ता के आधार पर 'महाकाव्य' का निर्माण होता है। जीवन की समग्रता का, संघर्ष, घात-प्रतिघातों और उत्थान-पतन के बीच प्रभावपूर्ण अंकन और गहन अवरुद्ध जीवनशक्ति का परिचय 'महाकाव्य' के उस आन्तरिक गठन की अन्त: प्रेरणा की ओर इंगित करता है जिसके आधार पर हम महाकाव्य को साहित्य के इतर अंगों, नाटक, कहानी, गीत आदि से पृथक करते हैं। महाकाव्य की रचना युग-जीवन के व्यापक संघर्ष, जीवनमूल्यों के क्रमागत उत्कर्षापकर्ष और

१- बीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध के महाकाव्य, पृ० २१२ -- डा० प्रतिपाल सिंह
२- हिन्दी महाकाव्यों का स्वरूप विकास, पृ०४१--डा० शम्भूनाथ सिंह

सामाजिक उत्थान-पतन को व्यंजित करती है । 'महाकाव्य' जैसे गंभीर काव्यरूप की इस महा उद्देश्य की महार्घता और विशिष्ट रचनाशिल्प के औदात्य का साहित्य के किसी अन्य रूप में समाहार होना सम्भव नहीं ।

अत: प्रस्तुत प्रबन्ध में 'भारतीय संस्कृति के स्वरूप निर्धारण' के लिए हिन्दी के विशिष्ट और प्रतिनिधि आधुनिक काल के महाकाव्यों को विवेच्य बनाया जा रहा है । यों तो आधुनिक काल का प्रारम्भ महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा 'सरस्वती' के सम्पादकत्व (१९०३) से ही प्रारम्भ हो जाता है परन्तु महाकाव्यों की दृष्टि से खड़ी बोली का महत्वपूर्ण महाकाव्य प्रियप्रवास १९१४ में लिखा गया है । तब से आज तक लगभग ५२ महाकाव्यों का प्रकाशन हुआ है । समय, शक्ति, शोध ग्रन्थ की सीमा-- किसी भी दृष्टि से यह सम्भव नहीं था कि उन तथाकथित भीमकाय कलेवर वाले महाकाव्यों पर भी विचार किया जाए जिनके मुखपृष्ठ पर बड़े बड़े शब्दों में अंकित है --'महाकाव्य'[1] । इसलिए उन्हीं महाकाव्यों को विवेच्य बनाया गया है जो जीवन की समग्रता के बीच आंशिक संरचना के माध्यम से सांस्कृतिक मूल्यों के स्थापन की ओर उन्मुख हैं ।

शोध-कार्य के प्रारम्भ से पूर्व वर्ष अर्थात् १९६३ तक के महाकाव्यों तक विषय की सीमा है । इसलिए यह सम्भव है कि ६३ से ६७-६० तक के कुछ आधुनिक महाकाव्य महत्वपूर्ण होने पर भी छूट गए हों । दूसरी ओर तुलसीदास राम की शक्ति पूजा, अंधायुग और उर्वशी को भी विवेच्य बनाया है जिन्हें महाकाव्यात्मक कविता (Epic poetry) कहा जाता रहा है । इन रचनाओं में जीवनमूल्यों को लेकर जन्मे वर्तमान सांस्कृतिक संघर्ष, पूर्व और पश्चिम की टकराहट, पुनर्जागरण काल की उपलब्धियों और वर्तमान सांस्कृतिक विघटन तथा अवरुद्ध सृजनशीलता के प्रति गहरी और सम्पृक्त दृष्टि मिलती है । अंधायुग , उर्वशी जैसी

१- पिछले दस वर्षों में लिखे गए महाकाव्यों की संख्या शायद उतनी निकलेगी, जितनी पिछले किसी शतक में नहीं है । ... इनमें से अधिकांश में द्विवेदी-युग के 'प्रियप्रवास' जैसी कलात्मकता युग के अनुरूप चरित्रों की उद्भावना भी नहीं की गयी है ।"

— साहित्य का नया परिप्रेक्ष्य पृ० १४६
डॉ० रघुवंश

'विचार-प्रधान प्रबन्ध काव्यों' में युद्ध और प्रेम की समस्याओं का सार्वभौम रूप दिया गया है । 'भारतीय प्रबन्ध-विन्यास परम्परा का नवीनीकरण, पाश्चात्य और भारतीय तत्वों का सामंजस्य और सर्वथा मौलिक प्रयोग भी उनके रूप-विधान में मिलता है[१]।' प्रस्तुत संदर्भ में महाकाव्य एक आकार नहीं, वरन् एक विशिष्ट रचना-विधान है, जिसमें 'प्रियप्रवास' से लेकर 'अंधायुग' और 'उर्वशी' तक का कृतित्व सम्मिलित है । समय का यह अंतराल अपने में हा भारतीय संस्कृति के एक नये और महत्वपूर्ण मोड़ को भी प्रतिफलित करता है ।

१- स्वतन्त्रता के बाद की हिन्दी कविता , साप्ताहिक हिन्दुस्तान, १५अगस्त ६

— डा० सावित्री सिन्हा

द्वितीय अध्याय

-0-

प्रिय प्रवास

-०-

आधुनिक काल के प्रारम्भ में महाकाव्यों की परम्परा का शुभारम्भ करने का श्रेय 'प्रिय प्रवास' (१९१४) को दिया जाता है। यद्यपि प्रिय प्रवास से पूर्व महाराज रघुनाथ सिंह भी एक विशालकाय प्रबन्ध काव्य 'राम स्वयम्बर' की रचना कर चुके थे परन्तु ब्रजभाषा में रचित उक्त महाकाव्य में वस्तुपरिगणन प्रणाली के आधिक्य से स्तर शास्त्रीय लक्षणों और उदात्त संदेशवाहक क्षमता का सर्वथा अभाव है। पुनरुत्थान - कालीन राष्ट्रीयता, बौद्धिकता, लोकहित की भावना, सुधारवाद, मर्यादावाद, मानवता-वाद आदि प्रवृत्तियों का सन्निवेश करते हुए संस्कृतनिष्ठ भाषा में संस्कृत के अतुकान्त छन्दों में, पौराणिक कथा को संस्कृत आचार्यों द्वारा लक्षित शास्त्रीय लक्षणों को हरिऔध जी ने 'प्रिय प्रवास' में आबद्ध किया। सर्वांश में इन लक्षणों को न मानकर (यथा मंगलाचरण, प्रस्तावना, दुर्जन निन्दा आदि को स्थान न देकर) द्विवेदीकालीन आन्तरिक प्रेरणाओं को प्रतिच्छायित किया।

भारतीय संस्कृति की रचनात्मक स्तर पर विवेचना का एक महत्वपूर्ण पृष्ठ इस म[illegible] में सन्निहित है। सर्वप्रथम प्रियप्रवास में ही पुराण को (जिसमें पूर्व काल की परम्परा कही गई हो) नवीन से सम्बद्ध किया है। पाश्चात्य शिक्षा का व्यामोह, तत्प्रदत्त तार्किक बुद्धिवाद ने भारतीय सामाजिक विरासत के अनेक अंश पर प्रश्न चिह्न लगा दिया। गज की पुकार पर दौड़ने वाले अवतारी भगवान से हमारा विश्वास उठ गया जो लदा-लदा आतंकवाद को अनसुना कर रहा है। राधा और कृष्ण के पौराणिक प्रतीक को [illegible] के मेल में पुनर्स्थापित करके कवि ने यह सिद्ध कर दिया कि 'पौराणिक गाथाएँ वास्तविकता का संवाद दे सकती हैं।[१]

१- Myth & Symbol in the New Testament. Page 145 - Amos. N. Wilder.

पौराणिक प्रतीक में सन्निहित वास्तविक अर्थ की द्योतक बोधात्मक अन्तर्दृष्टि को इस महाकाव्य में पहचाना गया है । कवि ने कृष्ण-कथा के परिवर्तनीय पात्रों को तार्किकता और बौद्धिकता द्वारा रंजित करके उनका आधुनिकीकरण कर दिया है । विगत के आगत, पुरातन को नवीन से स्वीकृत करने का प्रयास इस महाकाव्य की मूलभूत विशेषता है जिसके प्रतिस्थापन में पौराणिक प्रतीकों का नूतन अर्थवत्ता ने विपुल सहयोग दिया है ।

प्रिय प्रवास का रचनाकाल १५ अक्टूबर १९०६ से २४ फरवरी १९१३ ई० है । इस काल में अंग्रेज़ी शासन के विरुद्ध प्रबल राष्ट्रीयता का विकास हुआ । अधिकारों की प्राप्ति के लिए राज्यकीय दमन से असन्तुष्ट जनता ने सबल संगठन बनाया । अंग्रेज़ी सत्ता ने विवश होकर कुछ सुधार किए । १९०९ ई० के मार्लो मिण्टो सुधार को हमारी राष्ट्रीयता की अधिक बलवती भावना ने शासकीय निर्बलता का सूचक माना । जनता असन्तुष्ट बनी रही । १९१२ ई० के दिल्ली दरबार की महत्वपूर्ण घोषणाओं के बावजूद पराधीनता के कलंक, जातीय अपमान, आर्थिक शोषण और राजनैतिक निरंकुशता ने धीरे-धीरे भारतीय जीवन में एक नयी चेतना उत्पन्न की । कंस के अत्याचारों से प्रपीड़ित जनता को कृष्ण के रूप में लोकसेवी नेता मिला । राष्ट्रीयता के इस नवोन्मेष काल में जातीयता का साम्प्रदायिक संकुचित अर्थ नहीं था, प्रत्युत वह राष्ट्रीयता का अविभाज्य अंग थी । अस्तु, प्रिय प्रवास में नायक कृष्ण को जाति-उद्धारक के रूप में अंकित किया गया है ।

ब्रह्म समाज, आर्य समाज, रामकृष्ण मिशन, प्रार्थना समाज आदि ने अनुशासन, साहस, आत्म विश्वास तथा निश्चित कार्यक्रम द्वारा सामूहिक अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम निर्मित किया । भारतीय संस्कृति के पुनरुत्थान और राष्ट्रीयता के विभिन्न सुधारवादी और विद्रोही आन्दोलनों ने उस पथभ्रष्ट नव-शिक्षित वर्ग को मार्ग द्योतित किया जो योरोपीय अंधानुकरण की ओर 'अपनी सामाजिक विरासत के उपहास' को अपना चरम ध्येय मानता था । बीसवीं शताब्दी में पाश्चात्य संस्कृति के अनुकरण की यह प्रवृत्ति तो कम हो गई[१] किन्तु जर्जर मूल्यों और पौराणिक रूढ़ियों

१- दूसरे हैं टालते टाला करें, दूसरों के ढंग में हम क्यों ढलें ।
लोग क्यों अंधी बनाते हैं हमें, क्यों पकड़ अंधा किसी का हम चलें ।।
— [illegible] व्याख्यान पृ० १५७ 'हरिऔध'

के प्रति घृणा बनी रही । अत: पाश्चात्य संस्कृति के सार्वभौम उपकार तत्वों के साथ भारतीय संस्कृति के जीवन्त मानवीय मूल्यों के समन्वय की आवश्यकता महसूस हुई । 'प्रिय प्रवास' महाकाव्य में परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में उत्पन्न हुई सांस्कृतिक संरचना की प्रक्रिया का प्रायोगिक स्वरूप द्रष्टव्य है । हरिऔध जी न तो अध्यवसाय के विरोधी थे और न उद्योगशीलता के शत्रु । ' मैं उस जाति की पगधूलि अपने शिर पर वहन करता हूं जो भिन्नार्थशीलता का परिचय देती है ।..... प्राचीनता और नवीनता दोनों के लिए स्थान है और यथास्थान दोनों अभिनन्दनीय हैं ।'[1]

महाकाव्य सांस्कृतिक- संचरण का प्रमुख संवाहक होता है । जातीय चेतना के सौन्दर्य बोध की कलात्मक अभिव्यक्ति, उस जाति के चिरन्तन मूल्यों और आदर्शजीवी स्वप्नों की आत्मिक ऋत और सत्य पर आधृत नीति की भाति, जागरूक सामाजिकता का आर्थिक राजनैतिक संघटन-- अर्थात् सृजनात्मक क्षमता के विविध आयाम -- 'महाकाव्य' में अपना स्वरूप व्यक्त करते हैं क्योंकि महाकाव्य युगबोध का आकलन होता है, युगों की संचित साधना का वरदान होता है ।

समुन्नत जाति की रुचियाँ उपयोगिता की सीमा का अतिक्रमण कर बौद्धिक जिज्ञासा तथा सौन्दर्य की भूख से पीड़ित होता है । सौन्दर्य की प्रतीति सभ्यता की नाना मूल्यवान् सचेत दशाओं को उत्पन्न करता है । मूल जीवन-चेतना से निबद्ध होने के कारण सौन्दर्य व्यापक रूप से सांस्कृतिक पीठिका पर सम्पूर्ण जीवन विषय है । जीवन-दृष्टि,नैतिक बोध आदि विविध उपादान सौन्दर्य प्रतीतियों को वियोजित-संयोजित करते हैं । इन अन्त: सम्बद्ध मान मूल्यों के सैद्धान्तिक व्यावहारिक विवेचन द्वारा ही हम 'संस्कृति' की अखण्ड चेतना तक पहुंच सकते हैं । संस्कृति एक सृजनोन्मुख प्रक्रिया है । अत: भारतीय संस्कृति की अखण्ड अविच्छिन्न धारा ने किस प्रकार पुनर्जागरण काल में नया मोड़ लिया और उस संक्रमण काल में सर्वथा नवीन पश्चिमी दृष्टि ने हमारे भाव-जगत्, भौतिक जगत् की उपलब्धियों, नैतिक धार्मिक मापदण्डों, जीवन की प्रणाली को नए आयाम दिए — यह जानने के लिए आधुनिक युग के प्रथम महाकाव्य 'प्रिय प्रवास' को विवेच्य बनाया जा रहा है ।

१- बोलचाल पृ० २३, ११ -- हरिऔध

सर्वप्रथम हम यह देखने का चेष्टा करेंगे कि भोग, उल्लास, सौन्दर्य क्रीड़ा की सन्तुलित और सम्पृक्त भारतीय दृष्टि जनदि को जो रीतिकालीन सामन्तीय वासना में विकृत हो गयी थी, किस प्रकार नव जागरण के काल में कवि ने प्रतिष्ठित किया ।

प्रिय प्रवास में सौन्दर्य बोध

कृष्ण श्रृंगार के देवता के रूप में अधिष्ठित हैं । रीतिकाल में कृष्ण का सौन्दर्य और राधा का रूप मात्र विलासिता का उन्मेषक मान लिया गया । भोगवादी ऊष्मा के अतिरेक में जीवन का संतुलन डाँवाडोल हो गया । सौन्दर्य का सृजनात्मक पक्ष ओझिल होने से केलि, अभिसार, द्युति प्रसंग स्थानिक ध्येय हुआ और राधा-कृष्ण एक मात्र आश्रय । आधुनिक काल में रूढ़ सामन्ता संस्कारों के विरुद्ध [illegible] हुआ । प्रिय प्रवास कार ने यह मानते हुए भी कि सौन्दर्य का भौतिक आधार होता है यह स्वीकार किया है कि कतिपय आत्मिक आवेगात्मक और बौद्धिक गुणों में प्रतिफलित होकर सौन्दर्य प्रेमिक की सृजनशील शक्तियों को उकसाने की क्षमता रखता है[१] । राधा का सौन्दर्य कृष्ण को संघर्षपूर्ण जगत् से पलायन का प्रेरणा नहीं देता अपितु संतप्त-संत्रस्त प्राणों में उत्साह का संचार करते हुए मनोवृत्तियों को लोक-कल्याण की ओर अग्रसरित करता है । मध्ययुगीन कविता में जो राधा-कृष्ण ~~की-ओर-~~ [illegible] प्रेम-निकुंज में गल बाँही डाल कर क्रीड़ा करते हुए जन मानस को शैथिल्य में डाले रहे, वे ही प्रिय प्रवास को भूमिका में अपने अद्भुत त्याग, तपश्चर्या और लोकनिष्ठा के द्वारा इस युग की जनता के लिए स्वस्थ संदेश देने में सफल हुए हैं ।

किसी भी युग का कोई महत्वपूर्ण सांस्कृतिक प्रयत्न, प्रश्न या समाधान नष्ट नहीं हुआ करता, वह आने वाले 'आज' के परिवेश का अभिन्न त्याग बन जाता है । वनोपजीवी भारतीय संस्कृति में मोरपंख शृंगार, वेणु वादक, पीताम्बरधारी कृष्ण का जो सौन्दर्य वर्णित है-- वही अपने परम्परागत रूप में प्रिय प्रवास में प्रतिष्ठित है-

---

१-प्रिय प्रवास, पृ० २४८

"विलसता कटि में पट पीत था
रुचिर वस्त्र भूषित गात था
लस रही उर में वनमाल थी
कल-दुकूल-अलंकृत-स्कंध था"

\+ + +

"मुकुट मस्तक का शिखि पक्ष का"

\+ + +

"विशद उज्ज्वल उन्नत भाल में
विलसती कल-केसर खौर थी"

कोई भी साहित्यकार कोरी पटिया पर लिखना शुरू नहीं करता । जिस प्रकार बालकपन शिशुता पर और तरुणाई जैसे बाल्यावस्था पर निर्भर है उसी प्रकार आज के सांस्कृतिक प्रयत्न अनिवार्यत: अतीत के समान प्रयत्नों की अपेक्षा रखते हैं[1] । हरिऔध जी ने नयी आँखों से नये सौन्दर्य-असौन्दर्य मापदण्डों की सृष्टि या उद्भावना नहीं की अपितु उनकी सौन्दर्य-चेतना वैसी सौन्दर्य-चेतनाओं की परम्परा में एक कड़ी है

राधा, शोभा-वारिधि की अमूल्य मणि है, रूप के उद्यान में प्रफुल्लप्राय: कलिका है जिसका मुख चन्द्रमा के समान है, स्वर्णोपम शरीर-कान्ति है, बिम्बा फल को अकान्त करती ओष्ठ- रक्तता है । ऐसी तन्वंगी विशाल-नयना राधा का आन्तरिक शील सौन्दर्य ही उसे देवोपमा बनाता है --

..... रोगी वृद्धजनोपकार निरता सच्छास्त्र चिन्तापरा
सद्भावातिरता अनन्य-हृदया सत्प्रेम-संपोषिता
राधा थीं सुमना प्रसन्न वदना स्त्री जाति रत्नोपमा ।।

"कविता का राज्य सौन्दर्य है । वह सौन्दर्य बहिर्जगत् में भी है और अन्तर्जगत् में भी । जो कवि केवल बाहर के सौन्दर्य का ही वर्णन सुन्दर रूप से करते हैं, वे 'कवि' हैं किन्तु जो कविजन मनुष्य के मन के सौन्दर्य का भी सुन्दर रूप से वर्णन करते हैं, वे बहुत बड़े कवि या महाकवि हैं[2] ।" इस दृष्टि से इस महाकाव्य में राधा-कृष्ण

१- साहित्य चिन्ता, पृ० ७० — डा० देवराज

२- [illegible] और भवभूति, पृ०१२६ — [illegible] राय

के अन्तर्जगत् का सुष्ठु वर्णन है । इस वर्णना के मूल में उस युग की सांस्कृतिक संस्थाओं द्वारा लोकोपकार, देश सेवा, समाज सेवा, एकता, समता, विश्व प्रेम, लोकहित आदि का प्रचारण था । काल का यह प्रभाव, समस्त गुणों का अभिमान, रसिकताजन सौन्दर्यदृष्टि से परिचय दिलाता है । हरिऔध जी सौन्दर्य का बाह्यीकरण नहीं करते अपितु यह मानते हैं कि सौन्दर्य रस को दो कर नहीं रह सकता । [illegible] पान का नाम सुन्दर नहीं उसका पान करके पुलकित होता है, सुनकर कानों [illegible] नौका चाहता है उसका नाम श्रवण नहीं । क्षिति-जल-पावक-गगन-समीरा के संघात का प्रभाव सौन्दर्य ही आकर्षण का विषय हो सकता है[1] । प्रेम का बाह्य रूप प्रमाता को आकृष्ट करता है । 'रूप रिझावन हार वे, ये नैना रिझवार ।' अतः गोपियां कृष्ण-सौन्दर्य से आकृष्ट हैं और मथुरा-प्रयाण के कारण उन 'स्नेहोत्फुल्ला-विकच-वदना-बालिकाभोजिनियों' को 'हिमपात' सहना पड़ा । क्या कृष्ण उन सब बालिकाओं से विवाह करते ? समाधान में राधा की तीन पंक्तियां द्रष्टव्य हैं । विमल विधु की आराधिका अनेक तारिका हैं, भानु की प्रेमिका अनेक कमल कलिकाएं हैं और यदि समस्त बालिकाएं कृष्ण में आसक्त हैं तो क्या आश्चर्य ? [illegible] की भाषा मानना है तथा --

'प्रेमी का ही हृदय गरिमा जानता प्रेम का है[2] ।'

किन्तु प्रस्तुत समाधान बाल-बुद्धि को भी ग्राह्य नहीं हो सकता । उद्धव तो ज्ञानी हैं, उन्हें क्या ज्ञात है न बुध-विदित प्रेम की अंधता को कह कर सन्तुष्ट कराया जाता है । विधाता ने अवनि-तल में रूप की सृष्टि की है । मोह का अनुल्लंघ्य हेतु रूप है । कृष्ण के अप्रतिम रूप-सौन्दर्य से बहु ललना सुन्दरी बालिकाएँ क्यों कर विक्षुब्ध न होतीं ?

जो धाता ने अवनि-तल में रूप की सृष्टि की है
तो क्यों ऊधो वह न नर के मोह का हेतु होगा
माधो जैसे रुचिर जन के रूप की कान्ति देखे
क्यों मोहेंगी न बहु ललना-सुन्दरी बालिकाएं ।

१- [illegible], चतुर्दश सर्ग, पृ० २०१

२- प्रियप्रवास - पञ्चम सर्ग, पृ० १२१

प मोह को जन्म देता है -- यह कथन सत्य है किन्तु यहां पर गोपियों के कृष्ण के प्रति प्रेम का दिया गया समाधान बुद्धि-सम्मत नहीं है। 'वर्जित क्षेत्र से फूल तोड़ने वाला अपराधी नहीं है -- दोष मात्र उस फूल की खूबसूरती का है।' --स्वेच्छाचारी की यह व्याख्या, आधुनिक बुद्धिजीवियों को दिया गया यह समाधान कथि प्रद : समाधान सा ही है जो तर्कहीन, अशोभन और व्याहत है।

'मोह व्यक्ति के रूप पर आश्रित होता है, उसमें उद्दाम लालसा होता है जो मिलनोपरान्त प्रशमित होता है। मोह नाना स्वार्थों, सरस सुख की वासना मध्य हुआ, आवेगों से पालित ममतावान् है तो प्रणय में पूरी प्रमिति आत्मोत्सर्ग की होती है। प्रेम में शुचिता और सात्विकता का निवास होता है। पहले चित्त में मोह उत्पन्न होता है जिससे अपरा वृत्तियाँ विवश हो जाती है। मोह और वासना से पृथक है 'प्रणय' जिसके अनिवार्य उपादान आत्मदान, प्रिय सुख और स्वार्थ का त्याग है।'[1] प्रथम दर्शन वाली प्रेम की बात को अस्वीकार करते हुए आचार्य शुक्ल के समान ही हरिऔध जी यह मानते हैं कि साहचर्य ही प्रेम का प्रवर्तक होता है[2]। क्योंकि प्रथम दर्शन का प्रेम मात्र 'रूप' पर टिका होता है, उसकी भित्तियाँ आँधी-तूफान के बीच सुदृढ़ रह पाने में समर्थ नहीं होतीं --

आदौ होता गुण ग्रहण है उक्त सद्वृत्ति द्वारा
हो जाती है उदित उर में फेर आसंग-लिप्सा
होती उत्पन्न सहृदयता बाद संसर्ग के है
पीछे सो आत्म सुधि लसती आत्मोत्सर्गता है।

महाकवि हरिऔध ने क्रमशः काँच और मणि का उपमान देकर मोह और प्रेम का पार्थक्य सिद्ध करते हुए यह माना है कि सद्गंध, मधुरस्वर, स्पर्श और रस से मोह उद्भूत होता है और 'मोहों में है प्रबल रूप का मोह होता।' इस रूप को

१- प्रिय प्रवास, पृ० २४८

२- लालन का वय साथ स्नेह भी
निपट नीरवता सह था बढ़ा
फिर वही वर बाल स्नेह ही
प्रणय में परिवर्तित था हुआ।

-- प्रिय प्रवास, चतुर्थ सर्ग, पृ० ३८

शब्दों में व्याख्यित करना वस्तुत: दुरूह-कार्य है । दृष्टि-विभेद से रूप का स्वरूप भी सत्य के समान परिधियों से परे है । शरद चन्द्रिका में स्नान करती-माधुरी या विद्यापति की राधा भी अन्त में यही कहती है --

सखि, कि पुछसि अनुभव मोय
जन्म अवधि हम रूप निहारल
नयन न तिरपित भेल ।।

प्रिय प्रवास की बाल संगिनी राधा का यही मानना है कि --

दोनों आँखें निरख जिसको तृप्त होती नहीं है
ज्यों ज्यों देखें अधिक जिसकी दीखती लुनाई है
जो है लीला-निलय महि में वस्तु स्वर्गीय जो है
ऐसी राका उदित विधु सा रूप उल्लासकारी

'रूप' स्वयं में निरपेक्ष वस्तु है । व्यक्ति भेद से ही उसमें गुण या अवगुण का आधान होता है । एक ही पुष्प को देखकर पक्षी पुलकित होता है, भौंरा प्रमत्त होता है और माली तोड़ लेता है --

लोकोल्लासकारी छवि लख किसी रूप उद्भासिता की
कोई होता मदन वश है, मोह में मग्न कोई
कोई गाता परम प्रभु की कीर्ति है मुग्ध सा हो
यों तीनों को प्रखर प्रखरा दृष्टि है भिन्न होती ।।

जीवन दृष्टि

जीवन के विविध मूल्यों, चिरन्तन प्रश्नों यथा पाप-पुण्य की समस्या आशा-निराशा की समस्या, इतिहास तथा मानव जीवन की दिशा और लक्ष्य के प्रयत्न आदि को प्रत्येक बड़ा लेखक और विचारक अपने - अपने ढंग से सुलझाता है । --कलाकार की दृष्टि से जीवन-दर्शन का क्या महत्त्व है ? उत्तर यह है कि जीवन सम्बन्धी एक निश्चित दृष्टिकोण कलाकार को मानव जीवन तथा इतिहास के प्रति सुलकर, विशद एवं शक्तिपूर्ण ढंग से प्रतिक्रिया करने में सहायक होता है । जीवनदृष्टि से सम्पन्न कलाकार ही जीवन की समग्रता को अपनी रचना में समेट सकता है । किन्तु

ऐसा वह तभी कर सकता है जब उसने उस जीवन-दृष्टि को अपने चिन्तन-साधना से प्राप्त किया हो । वास्तविक कलाकार जीवन की विविध अनुभूतियों एवं इतिहास के आकलन के साथ ही जीवन दर्शन को प्रकट करने बैठता है तो उसे प्रमाणित तथा मूर्त करने वाली अनुभूतियाँ तथा चित्र सहज ही उसके सामने उपस्थित हो जाते हैं ।[1] युग के उन्नत बोध के बीच सच्चा कलाकार नव्य मान्यताओं और विचारों के निरन्तर अन्वेषण के सहारे एक सुनिश्चित जीवन-दर्शन का निर्माण करता है । हरिऔध जी का यह जीवनदर्शन निरन्तर प्रवाहशीला सरिता के समान रहा । उन्होंने समृद्ध अतीत संस्कृति की अवरुद्ध चेतना को नये मार्गों में गतिशील किया, क्योंकि वे यह मानते हैं कि गति का ही नाम जीवन है --

> गर्तों में गिरी कन्दरा निचय में, जो वारि था दीखता ।
> सो निर्जीव, मलीन, तेजहत था, उच्छ्वास से शून्य था ।।
> पानी निर्झर का समुज्ज्वल तथा उल्लास की मूर्ति था ।
> देता था गतिशील वस्तु गरिमा में प्राणियों को कथा ।।

इसी अर्थ में उनका पुरातन नवीन है और नूतन पुरातन है । हरिऔध ने भारतीय संस्कृति के मूल तत्व `अध्यात्म` को युगानुकूल जीवन-सापेक्ष बना दिया । श्रीकृष्ण `भगवान` न रहकर समाजसेवी महापुरुष के रूप में हमारे अपने नितप्रति के जीवन के अविच्छेद्य अंग बन गए । तार्किक युग की बौद्धिकता, तार्किकता तथा न्याय-सम्मतता को दृष्टि में रखकर कोरी मूर्तिपूजा तथा भक्ति के बाह्याडम्बरों का उच्छेदन करते हुए `भक्ति को धर्म की वह रसात्मक अनुभूति`[2] माना है जिससे न केवल वैयक्तिक जीवन ही सुधर सकता है अपितु सामाजिक जीवन में सामंजस्य `विश्वात्मा के प्रेम` का भी जन्म होता है । आर्त उत्पीड़ितों का कथन सुनना, दिव्य गुणों से तम-पतितों में ज्ञान का उन्मेष करना, देशप्रेमी आत्मोत्सर्गियों का नमन, पीर पराई जानना आदि का स्मरण वंदन, दास्य, कीर्तन आदि नवधा भक्ति में स्थान पाना यही सिद्ध करता है कि धर्म का उन्मेष जीवन से तथा जीवन के लिए है । गिरि-कन्दराओं में की जाने वाली एकांत साधना अनपेक्षित है । आज ऐसी आध्यात्मिक अनुभूति हमारे लिए कोई महत्व नहीं रखती जिसका लक्ष्य इहलौकिक जीवन का अतिक्रमण करना है। धर्म का संबंध मोक्ष

१- साहित्य चिन्ता, पृ०७५-- डा० देवराज

२- आचार्य शुक्ल -- [illegible] प्रथम भाग

अथवा 'निर्वाण' से न होकर आचार,कर्म पालन तथा नैतिकता से है । प्रिय प्रवास की विश्वप्रेमी-बन्धुप्रिया राधा और दूसरी और मथुराधिराज राधा प्रेमी कान्हा-- यही सिद्ध करते हैं कि मनुष्य एक साथ ही भौतिक तथा आध्यात्मिक साधन उपार्जित कर सकता है ।

मानवतावाद मनुष्य को सभी पदार्थों के केन्द्र में रखता है और वर्ग, जाति,वंश से सम्बद्ध उन सभी शक्तियों से संघर्ष करता है जो मानव शक्ति की प्रगति में बाधक है । पुनर्जागरणकाल में इस मानवतावाद की प्रतिष्ठा हेतु विभिन्न [illegible] ने विपुल कार्य किया जिसका परिचय हमें तत्कालीन युग-जीवन की पीठिका पर रचित इस महाकाव्य में मिलता है । विरहिणी राधा का कार्य कुंज-वनों में भग्नाशा [illegible] मन को भटकाना नहीं, ब्रज को अपने आँसुओं में डुबो देना नहीं -- वे सर्वभूतहित की मानव भावना से परिचालित होकर वृद्ध-रोगी की सेवा करती है,दीनों-हीनों,निर्बल विधवा आदि को मानने के कारण ही 'पूजी जाती ब्रज-अवनि में देवियों सी अत: थी ।' श्रेष्ठ मानवी से ही देवी की परिकल्पना की जा सकती है,क्योंकि मानवत्व का चरम निदर्शन ही देवत्व है ।' जिसे हम दैवी अथवा आध्यात्मिक अस्तित्व-क्रम कहते हैं उसकी अभिव्यक्ति भी मनुष्य के उन स्वप्नों तथा आदर्शों में होनी चाहिए वे दोनों ही मानव-व्यक्तित्व में क्रिया-प्रतिक्रिया करते हैं[1] ।' अतिमानवीयता की बुद्धि सम्मत व्याख्या इसी विचारधारा का परिणाम है । पूतना-वध,गोवर्धन धारण,तृणावर्तवध आदि कृष्ण-चरित-संबद्ध अनेक घटना प्रिय प्रवास में नर रूप में प्रस्तुत की गयी हैं ।

'सर्वभूत हित' के आदर्श को नायक और नायिका के रूप में प्रतिष्ठापित किया गया है ।'प्यारे जीवें जगहित करें गेह चाहे आवें न आवें' की उदात्त भावना से अनुप्रेरित होकर राधा आजीवन लोकहित में जीवन व्यतीत करती है --

> आटा चींटी विहग गण थे वारि औ अन्न पाते
> देखी जाती सदय उनकी दृष्टि कीटादि में भी ।।
> पत्तों को भी न तरुवर के वे वृथा तोड़ती थीं
> जी से वे थीं निरत रहती भूत संवर्धना में ।।

१- संस्कृति का दार्शनिक विवेचन ,पृ० ३३८ -- डा० देवराज

बालावस्था से अन्तिम समय तक श्रीकृष्ण --

प्रवाह होते तक शेष श्वास के
स-रक्त होते तक एक भी शिरा
स-शक्त होते तक एक लोक के
किया करूँगा हित सर्वभूत का ।।

के प्रण को निभाते रहे । सुख और भोग की लालसायें प्यारी और मधुर हैं किन्तु जगत-हित की आत्मोत्सर्ग की प्रेरणा-दायक लिप्सा सर्वाधिक मनोज्ञ है । मुक्ति की कामना से प्रेरित लोक-पराङ्मुखी तटस्थ-उदासीन भावना से अधिक महत्ता लोकहित में लगे, संघर्षों में जीने वाले, मानवता के उपासक की है --

जो होगा है निरत तप में मुक्ति की कामना से
आत्मार्थी है, न कह सकते हैं उसे आत्मत्यागी ।।
जी से प्यारा जगतहित औ लोक सेवा जिसे ह
प्यारा सच्चा अवनि-तल में आत्म त्यागी वही है ।।

'यदि तुम ईश्वर को खोजना चाहते हो तो तुम्हें स्वयं ईश्वर बन जाना होगा' -- हमारे युग की पुकार है । भूमिवासियों को स्वर्गप्राप्ति हेतु हठयोग,तप की जरूरत नहीं -- मानवता का विकास भूमि पर स्वर्ग की अवतारणा करेगा । 'भूमि के स्वर्गीकरण' की परिकल्पना उभारने में तत्कालीन स्वदेश-प्रेम की लहरों ने भी योग दिया । राधा को उद्धव ज्ञानी का योग संदेश नहीं भाता । वे उस मोक्ष को नहीं चाहतीं जिसमें ब्रज की माधुरी न हो, प्रियतम कृष्ण का अस्तित्व न हो-- 'सजन हीन मुक्ति के मुँह में धूर डाल कर उन्हें नरक की धरक नहीं यदि संग सजन हों ।' करील कामधेनु है, गवादि कामधेनु हैं, गरीयसी सुरेश क्या है जब नेत्र में श्यामघन, लुभावना कृष्ण रमा हुआ है । वे राजवंश की कामुका नहीं हैं,'यदुनाथ' उन्हें कर्णप्रिय नाम नहीं लगता, वे तो 'ब्रजेश' की अनन्य विरागिनी,पागलिनी और वियोगिनी हैं।[१]

१- प्रिय प्रवास,पृ० २३१ पंचदशसर्ग

जहाँ न वृन्दावन है विराजता
जहाँ नहीं है ब्रज भू मनोहरा ।
न स्वर्ग वांछित है जहां नहीं
प्रवाहित भानु-सुता-प्रफुल्लिता ।।
+ + + जहाँ न वंशी वट है न कुंज है
जहाँ न केका पिक है न सारिका
न चाह वैकुंठ रखें, न है जहाँ
बड़ी भली, गोपलली, रमा अली [1]

मानववाद का आदर्श विवादास्पद है । धार्मिकता का अभाव, मध्ययुगीन जीवन दृष्टि का अभाव, यूनानी जीवन दृष्टि (*Paganism*) और इन्द्रियजन्य सुखों के महत्व की घोषणा, इहलोकवाद, बुद्धिवाद और व्यक्तिया अर्धातियों की अर्थात् साहित्य, दर्शन और अध्यात्म से सम्बन्धित कलाकृतियों के अध्ययन में अभिरुचि, मानव जीवन और अनुभूति के महत्व में आस्था आदि उसके विभिन्न अर्थ रहे हैं[2] । प्रियप्रवास में मनुष्य को सब वस्तुओं का केन्द्र, प्रमाण और मापदण्ड मानते हुए इहलोक की प्रतिष्ठा, बौद्धिकता, मानवीय कल्पना और अनुभूति के लिए यथेष्ट स्थान है । पुनर्जागरणकाल का यह आदर्श रहा है कि मानव को अपना चतुर्मुखी विकास करना चाहिए और इसके लिए आवश्यक है कि इस धरती के जीवन में अधिकतम रस लिया जाए, उसके उपभोग करने का प्रयत्न किया जाए[3] । इसी अर्थ में (बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक युग की गौरवशाली रचना में) मानववाद की प्रतिष्ठापना है । आज मानववाद गुणात्मक मानववाद (*Qualitative Humanism* उद्दाम-उल्लास-मूलक, (*Exuberant*) पांडित्यमूलक (*Acadmic*)

१- तु०की० या लकुटी अरु कामरिया पर..... रसखान
२- संस्कृति का दार्शनिक विवेचन, पृ० १०
३- "Humanism as a Philosophy". P. 30-31 . C.Lament.

तथा समन्वयात्मक (Integral or catholic) आदि विविध व्यंजनाओं में समाहित तथा विकसित है[१]। प्रियप्रवास की राधा के जीवन-विकास को लक्ष्य करके महाकवि के मानवतापूर्ण हृदय तथा ईश्वर प्राप्ति विषयक साधना का वह रूप जो उन्हें विशेष रूप से प्रिय है -- हृदयंगम किया जा सकता है। धरती की गोद में धूप-छाया से कुम्हलाता-खिलता यह फूल 'मानव' ही ईश्वरत्व का चरम निदर्शन है। हरिऔध जी ने 'गिरीश जी' प्रति लिखित पत्र में कहा था--अतः मानवता का चरम विकास ही ईश्वरत्व की प्राप्ति है -- यही अवतारवाद है[२]।

सामन्त व्यवस्था से प्रपीड़ित और अनाहत मात्र भोग्या के पद पर समासीना नारी को 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता' के संदर्भ में लाने की आवश्यकता आधुनिक काल ने महसूस की। आर्य समाज को नारी-जागरण का विपुल श्रेय दिया जा सकता है। प्राचीन मर्यादा, आदर्श, शिक्षा और संस्कृति की ओर दमित नारी जाति को आकृष्ट करना इस संस्था का मुख्य कार्य रहा। अन्यथा पाश्चात्य शिक्षा प्रभावित अंध गति में हिन्दू समाज का ढहता हुआ असन्तुलन त्रस्त ध्वस्त हो जाता[३]। सेवा उदारता, पावन प्रेम, मृत संवर्द्धना, शान्तिप्रदायिनी, आर्तजन उद्धारक, मंगलकारिणी आदि गुणों के संकुल के रूप में नारी की उज्ज्वल उत्कृष्टता भारतीय संस्कृति में अंकित है -- जिसे प्रियप्रवास में संगुम्फित किया गया। नारी के गौरवपूर्ण अंकन में माता यशोदा, प्रेयसी पत्नी राधा का सहारा लिया गया है।

माता के हृदय की समस्त स्नेहमाधुरी, सारी ममत्वमयी दुश्चिन्तायें यशोदा में पुंजीभूत है। कल्पना कीजिए एक ऐसी व स्नेहमयी रमणी की जो दूधमुंहे पराए बच्चे को अपनाने के लिए अपनी [illegible] का त्याग करती है, जो उसकी मंगल कामना के लिए अपने स्वार्थों की बलि दे देती है -- उसी से बिछुड़ कर वह अपनाया बालक 'परायों' में जाकर भूल जाता है उसके माखन की स्निग्धता .... जिस माता का

१- "....This humanism remains a developing philosophy, open to experiment and testing its thesis in the light of newly discovered facts, fresh insights and greater understanding". - Is there any contemporary Indian Civilization? P. 161. Mulkraj Anand.

२- [illegible] हरिऔध, पृ० १९३ 'गिरीश'

३- [illegible] और [illegible] की आर्य समाज की देन, पृ०[illegible]--[illegible]

चित्र आँखों के आगे कौंधता है वह है `यशोदा ।` उसकी अति- ममता का गम्भीर सागर सदैव दुश्चिन्ताओं से तरंगाक्ति रहा[1]। होंठ सीकर वे कष्टों को सहती हैं कहीं कल मथुरा जाने वाला पुत्र जाग न जाए ।

हरि न जाग उठे इस शोक से
सिसकती तक भी थीं नहीं
इसीलिए उनका दुख वेग से
हृदय था शतधा हो रहा ।

`पुं` नामक नरक से छुटकारा दिलाने वाले को हमारे यहां `पुत्र` की संज्ञा से अभिहित किया गया है ।` तेरा प्यारा वदन रख के स्वर्ग को मैं तजूंगी`-- मैं यशोदा ही नहीं, समस्त भारतीय माताएँ बोलती हैं । यशोदा का भाग्य उस सीपी के समान है जिसने अपना मोती सा रत्न खो दिया है और रेती में सिसक रही है, उसकी सरस सरिता का पानी सूख गया, जीवन-विटप का सुमन-प्रसून लालिमा रूठ गई है[2]। पीड़ा नारी हृदय तल की नारी ही जानती है । पर यशोदा है कि अपने दुख से देवकी को व्यथित करना नहीं चाहती --

प्यारे जीवें पुलकित रहें और को उन्हीं के
धाई नाते वदन दिखला स्वदा और देवें ।।[3]

उनकी लकुटी का सहारा वृद्धावस्था में छिन गया, स्वर्णमन्दिर बिना दीप के सूना है, अंधियारा है । किन्तु उनकी व्यथा का मूल है कि कहीं उनका कान्हा व्यथित, माखन-विरहित, म्लान-खिन्न तो नहीं है ।। वस्तुत:` माता सदृश ममता अन्य की है न होती ।`

कृष्ण-गमन के नारी-व्यथा का चित्र उकेरा गया है । इन समस्त व्यथित ब्रज-कुमारियों में उस राधा का रोदन सर्वाधिक कचोटता है जो अपना हृदय तो कृष्ण-चरण में चढ़ा चुकी थी परन्तु सविधि वरण की कामना सदा को अधूरी

१- तु०की० हृदय में उनके उठती रही
भय-भरी अति कुत्सित भावना
— प्रियप्रवास, पृ०२५, प्रथम सर्ग
तु० यथा `प्रेम की अतिशयता में आशंकाएं भी भयंकर रूप ले लेती हैं`--शेक्सपियर

२- [illegible] प्रियप्रवास, सप्तम सर्ग, पृ० १२०
३- तु० देवकी सों कहियो । हौं तो धाय तिहारे सुत की मया करत ही रहियो ।

रह गई । भारतीय संस्कृति में नारी सहचरी 'अर्धांगिनी' माना गया है, जिसका स्थिति 'पुरुष' के बिना 'अशांग प्रकृति' सी है । देवार्पित कुसुम सी है जो अभाग्यवशात् धूलि में बिखरता हो --

संयोग से पृथक् हो पद-कंज से तू
जैसे अचेत अवनि-तल में पड़ा है
त्यों ही मुकुन्द-पद-पंकज से जुदा हो
मैं भी अचिंतित-अचेतनतामयी हूं ।

वह अपने को ऐसी अभागिनी मानती है जिसकी विपत्ति का कोई अन्त नहीं है[1]। नारी एक ऐसा पुष्प है जो छाया में ही अपनी कान्ति विकीर्ण करता है । इसी संदर्भ में अर्धनारीश्वर की परिकल्पना है । नील बादलों की गोद में समा जाने के लिए ही विद्युत चमकती है, बन्धुक पुष्प के समान वह किसी की अनुराग लालिमा में एकाकार हो जाने के लिए समुत्सुका है --

मैं गोरी हूं कुंवर-वर की कान्ति है मेघ सी
कैसे मेरा ,मधुर तन का, भेद निर्मूल होगा
जैसे तू है परम प्रिय के रंग में पुष्प डूबा
कैसे वैसे जलद-तन के रंग में मैं रंगूंगी ।।

प्रकृति-पुरुष का अद्वैत सांख्य दर्शन का मूल है । पवन को दूता बना कर भेजते समय यही कहती है कि यदि कोई कुसुम कुम्हला गेह में दीखे तो उसे कृष्ण-चरणों में डाल कर यह बता देना कि फूल सी एक बाला म्लाना हो, कमल-पग को चूमना चाहती है । वस्तुत: नारी, मधुमाधवी की वह लोनी लता है जो विटप का आश्रय लेने पर ही स्वप्निल कलिकाओं से फूलती है । प्रिय का आश्रय छिनजाने से राधा की स्थिति छिन्न लतिका सी है ।

नारी के आद्य-शक्ति रूप को नव जागरण काल में उभारा गया ताकि सामन्ती संस्कृति जन्य अभिसारिका, केलि सखि,अनन्त वियोगिनी आदि रूपों में अवरुद्ध नारी का व्यक्तित्व विकास का मार्ग खोज सके । समाज सेविका,विश्वप्रेमिका, वात्सल्या आदि विविध समुन्नत गुणों की अभिधान यह राधिका नारी जाति का सर्वोत्कृष्ट आदर्श बन सकने में सक्षम है ।' हिन्दी साहित्य में राधिका की यह सृष्टि

अद्भुत है, अनुपम है, बेजोड़ है, अद्वितीय है[1]।"

जब मधु-सपनों का संजोई कलियों के सुभव्य-भविष्य को भाग्य का निठुर विडम्बना असितभसि से रंग जाती है तो मानव-मन की निरुपायता यह मान लेती है कि --" भाग्यं फलति सर्वत्र न च विद्या न पौरुषम् ।" कर्म और पौरुष में विश्वासी भारतीय-मानस आंग्ल-शासन की विभीषिका से जर्जर था । नैराश्य मग्न भारतीयोंने विधि की विडम्बना , दैव की प्रबलता, भाग्य की महानता, होनहार और भाग्यलिपि की अटलता[2] के तट पर मार्ग भटकी तरणि को बाँध दिया । राधा के समान उन्होंने यह मान लिया --

"दिन जब खोटे हो चुके हैं हमारे
तब फिर रालि ! कैसे काम के वे बनेंगे "

हृदय अर्पित करने के बाद सविधि वर . की कामना पूरी न हो सका । परिस्थितियों के चक्र में पुरुषार्थ भी काम नहीं करता तो निरुपाय व्यक्ति के सम्मुख भाग्य का निर्बाध नियति पर विश्वास करने के अतिरिक्त चारा ही क्या रह जाता है --

" वह कब टलता भाग्य में जो लिखा है ।"

भाग्य की प्रबलता में विश्वास रखने का तात्पर्य जीवन की कर्मण्यता के प्रति निषेधात्मक दृष्टिकोण रखना नहीं है ।" यदि शिशिर का विजन है तो बसन्त भी आशा ।" उद्धव यही कहते हैं --

हाँ भावी है परम -प्रबला दैव-इच्छा बली है
होते होते जगत कितने काम ही हैं न होते
जो ऐसा ही कुदिन ब्रज की मेदिनी मध्य आए
तो थोड़ा भी हृदय-बल को गोपियाँ ! खो न देना ।।

१- हरिऔध अभिनन्दन ग्रन्थ,पृ०४६८ "भारतीय साहित्य में राधिका की परिकल्पना और उसके प्रियप्रवास की देन "
--आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी

२- विडम्बना है विधि की [illegible]
अकथनीया लिपि है ललाट की
भला नहीं तो कुदिना[illegible] की
[illegible] होता रवि [illegible] क्यों ।।

निराशा की नील-निशा में दूर कहीं आशा का दीप टिमटिमाता है और प्राणी अपने समस्त अस्तित्व सहित उधर चलता है कि अचानक तीव्र प्रभंजन आता है। कालान्तर में आँखें मलते हुए दास पाता है दूर दूर तक फैला अंधियारा, दीप विहीन आकाश में लिपटे तारा के छिन्न प्राय: ध्रुव को पकड़ कर पुन: पथिक चलता है। यशोदा ने प्रौढ़ावस्था के गहन अंधियारे में श्रीकृष्ण को पाकर प्रकाश का जादुई नगरी में निवास बनाया ही था कि मथुरा से "न्यौता" आया -- बालकृष्ण को कंस की सभा में जाना था। इन्द्रधनुषी जादू का जाल टूट गया और वे कराह उठीं।[1]

हा! आँखों से अविधु जिनसे हो गया दूर मेरा
ऊधो कैसे यह दुःखमयी मेघमाला टलेगा ।।

नीलम पत्तों से खचित मनोज्ञा आशा-लतिका शुष्क प्राय: हो गई, हीरे के कुसुम, लाल गोमेदों के फल, पन्नों वाली डंठियाँ उजड़ गयीं।[2] पर आशा के क्षीण तन्तु के सहारे उनके प्राण टिके हैं। "कृष्ण आयेंगे" यही आशा (?) ब्रजवासियों का सहारा है, उनकी चिन्तातुर यामिनी में छिटकने वाली ज्योत्स्ना है। हरिऔध जी की आस्तिकता आशा को मृतक हेतु संजीवनी, निविड़ निशा की कौमुदी, पीड़ा-मथित मन की शान्ति-धारा मानता है।

चिंता रूपी मलिन निशि की कौमुदी है अनूठी
मेरी जैसी मृतक हेतु बनती संजीवनी है
नाना पीड़ा-मथित मन के अर्थ है शान्ति धारा
आशा मेरे हृदय -मरु की मंजु मंदाकिनी है।

राधा इस कटु सत्य से अपरिचित नहीं है कि उसका सब कुछ सदा के लिए खो गया है पर निराशा और आंसुओं को लोककल्याणार्थ पोंछकर वह उद्विग्न विलखती यशोदा को धीरे-धीरे मधुर स्वर में विनीता हो यही बताती है रहीं। --

"हाँ आयेंगे, व्यथित ब्रज को श्याम कैसे तजेंगे ?"

1- ऊधो जो लौं तिमिर मय था भाग्य आकाश मेरा।
   धीरे धीरे वह हुआ स्वच्छ कान्ति शाली ।।
   ज्योतिमाली-वलित उसमें चन्द्रमा एक न्यारा ।
   राका-श्री ले समुदित हुआ चित्त उल्लासकारी ।। (प्रियप्रवास 10।55)
2- प्रिय प्रवास 10।76

परम्परा से पृथक निराशा यहाँ संसार की असारता का दर्शन सामने नहीं लाती अपितु संसार में कुछ करके जीने की महत् अभिलाषा को जन्म देती है। हरिऔध जी 'मूंड मुडाए भए सन्यासी' के आलोचक थे[1]। अस्तु राधा के चरित्र की लोकोपकारिता द्वारा प्रियप्रवासकार ने सुप्त हिन्दू जनता को एक नूतन जीवन दृष्टि दी है।

नैतिक बोध

नैतिक मूल्यांकन का अस्तित्व ही समाज को सच्चरित्र करता है। अनेक विधि-निषेध हमारी नैतिक विचारणा के अंग हैं। यह 'ऋत' सत्य से पूर्व उत्पन्न होता है[2]। सामाजिक विकास नैतिक व्यवस्था में परिवर्तन लाता है। पूर्वजों द्वारा दर्शित विधि-निषेधों को रूढ़ अर्थ में ग्रहण करने वाली नैतिकता की नींव खोखला होता है। भारत में 'नीति' सामाजिक नियमों से परिचालित नहीं होता प्रत्युत धर्म से आबद्ध है। धर्म-असम्मत किसी मूल्य का पनपना और मान्यता प्राप्त करना यहां दुष्कर कार्य रहा है। आधुनिक काल में रूढ़िजन्य नैतिकता को तर्कबुद्धि ने पुन: आलोचित किया। अहिंसा-हिंसा,पाप-पुण्य,कर्त्तव्य-प्रेम आदि मानवीय द्वन्द्वों को राष्ट्रीय आन्दोलन ने नया मोड़ दिया। उस युग में लिखित प्रेम पथिक (प्रसाद) मिलन (रामनरेश त्रिपाठी),प्रिय प्रवास आदि समस्त काव्यों में आदर्श चरित्र का अनिवार्य गुण स्वदेश प्रेम,राष्ट्रीयता, परोपकार बन गया।

समाज में सन्तुलन स्थापित करने के लिए,सुव्यवस्था कायम करने के लिए जीवनजन्य संघर्षों के समाधान के रूप में हमारे परम्परागत नीतिशास्त्र ने नया मोड़ लिया। यह रूढ़िजन्य नैतिकता का विकासमान नैतिकता में पर्यवसान कहा जा सकता है

१- 'संसार का मिथ्यात्व आजकल के हिन्दुओं का प्रबल संस्कार है और वह संस्कार हृदय में इतनी दृढ़ता से बद्धमूल है कि वह प्रकृतिगत और स्वाभाविक हो गया है। कोई दु:ख सामने आया, किसी कार्य में असफलता हुई, किसी शोक से अभिभूत हुए कि संसार की असारता सामने आयी। इस संस्कार से हिन्दुओं की कितनी अधोगति हुई और आज दिन भी कितनी क्षति हो रही है,इसकी चर्चा से हृत्कम्प उपस्थित होता है।' —संदर्भ सर्वस्व,पृ०२० (हरिऔध)

२- ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत... — ऋग्वेद १०।१९०।१

रूढ़िजन्य नैतिकता और विमर्शात्मक नैतिकता के बीच मौलिक अन्तर बिल्कुल स्पष्ट है । रूढ़िजन्य नैतिकता का पैमाना और आधार नियमों या आधार व्यक्ति के पूर्वजों की आदतें होता है । किन्तु विमर्शात्मक नैतिकता मनुष्य के अन्तःकरण ,तर्कबुद्धि या किसी ऐसे सिद्धान्त पर आधृत होता है जिसमें विचार का भी समावेश होता है[1]। नैतिक अन्तर्दृष्टि का निरन्तर विकास होता है । किसी निरपवाद नैतिक सिद्धान्त प्राप्ति की कल्पना नहीं की जा सकता । प्रिय प्रवास में सांस्कृतिक संकटजन्य मतिविभ्रम और तनाव की प्रारम्भिक स्थिति में विरोधी नैतिक मानों को सामन्जस्य देने का प्रयत्न किया गया है ।

'प्रियप्रवास में समस्या है स्थानीय और सार्वदेशिक, व्यक्तिगत और समष्टि मानवहितों, राग सम्बन्धों के वैषम्य और परस्पर समन्वय की । स्वच्छन्दतावाद का यह पहला रूप है जब व्यक्ति-चेतना इतनी मुखर नहीं हुई कि समष्टि-व्यष्टि के हितों में दुर्निवार वैषम्य दीखे और अत्यन्त जटिल मनोवैज्ञानिक समस्याएं पैदा हो गई हों । आदर्शवादी ढंग से अभी दोनों का समन्वय सम्भव है[2]।' आत्मरक्षा के उपकरण के रूप में ही नहीं, अपितु मानवीय धरातल पर आवश्यकताओं की सहयोगितामूलक पूर्ति में सहायक होने के कारण 'मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है ।' कृष्ण नरत्व का आदर्श है जिन्होंने 'पशुधर्मा' को 'मानव' बनाया है । लोकोपकार और सामाजिक का भाव भर कर उनके संकीर्ण मानस को उच्चता प्रदान की है[3]।

कृष्ण ने समाज-हित की कामना से नाना असुरों का संहार किया । बाल्यावस्था में अपने सुहृद-बन्धुओं के साथ खेलते समय उन्हें जिताने को हार जाने वाले कृष्ण के नेतृत्व में ब्रज-समाज एक इकाई के रूप में परिणत हो गया जिसमें सब अभिन्न थे । कृष्ण एक ऐसी व्यष्टि है जिसने सच्चरित्रता,सज्जनता,सहृदयता,उदारता से

१- नैतिक जीवन का सिद्धान्त,पृ० १ -- जाना ड्यूई

२- हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष ,पृ०७३-- शिवदान सिंह चौहान

३- अपूर्व आदर्श दिखा नरत्व का
प्रदान की है पशु को मनुष्यता
सिखा उन्होंने चित्त की समुच्चता
बना दिया मानव गोप-वृन्द को
— प्रियप्रवास, १३ सर्ग,पृ० १

समष्टि को अपना लिया है । उनके मथुरा-गमन के अवसर पर एक बूढा रोता हुई स्वर्ग लुटाने को आतुर है, वृद्ध आभीर मरणातुर है तो गोप-बालाएँ रथ की धूलि बनना चाहती हैं । भारतीय संस्कृति की 'एकता' से पूर्ण आदर्श समाज का समग्र चित्र ब्रज है जिसमें कृष्ण से नेता, राधा सी समाज-सेविका, गोप से सच्चे हितैषी सुसंगठित समाजसेवी सैनिक, गोपियों सी नैष्कर्म्या प्रेम-पुजारिन हैं । हरिऔध जी ने प्रिय प्रवास में ब्रज ने ऐसे समाज की झांकी अंकित की है जो अपार प्रेम और अगाम अनुराग का आगार है तथा 'जिसके जीवन में एकता, समता, अनन्यता, अभिन्नता के साथ साथ सांस्कृतिक समरसता पूर्णतया विद्यमान है जो श्रम-विश्वास से परिपूर्ण होने के कारण भेद में भी अभेद और अनेकता में भी एकता के दर्शन करता है ।

इसी परम्परा की अगली कड़ी सियारामशरण गुप्त कृत 'गोपिका' (प्रकाशन काल १९६४) है जिसमें परम्परा से सम्पृक्त किन्तु यथार्थ से संदर्भ ग्रहण किया गया है । गोपी-प्रेम की प्रतिनिधि इन्दुमता के माध्यम से कवि ने विक्षुब्ध भारतीय पुराण -कथा के सहारे भावमय चिन्तन किया है । कृष्ण-कथा को सामाजिक संदर्भ प्रदान किया गया है । हरि जी चुके ब्रज मण्डल से --' चले गये । पहले कहा क्यों नहीं । डर था क्या रोक कर बाँध लेती ?'[1] प्रिय प्रवास में कृष्ण-गमन की बात निश्चित और सर्वविदित थी । पर यहां पर पूर्व स्मृति का आलोड़न है --

श्यामा वनी चोटी ही -- उजाले रहो-- कहते गए हैं
श्याम यह क्या ?
दुर्गम अंधेरे में बाढ़ में मैं यहीं रहूँ
साथ नहीं ले गये कि भार ही बनूँगी मैं उनका ।'

'सखि वे मुझसे कहकर जाते' की सी मार्मिक निश्छल वेदना का पूर्णरूप से निजत्व प्रस्फुटित हुआ है । वाल्मीकि महारानी राधा का [illegible] रुक्मिणी करता है । गोपिका के समर्पण-आकांक्षी प्रेम की यथावत अभिव्यक्ति करते हुए कवि ने काव्य के भावात्मक पक्ष को उभारा है -- 'यदि विधिवश । वैरी धार में आ गिरें तो मम तन ब्रज मेदिनी में ही मिलाना' की आशावादी व्याख्या गोपी द्वारा नहीं कराई है ।

कहा जा सकता है कि गोपिका, प्रियप्रवास का विकसित चित्र है । इस काव्य में युगानुरूप जीवन-दर्शन के मूल्यों से प्राचीन को अनुप्राणित किया है जब कि प्रिय प्रवास में लोकरक्षक कृष्ण तथा समाज सेविका राधा का रूप सौन्दर्य तत्व और काव्यानन्द की भूमिका से पृथक् हो गया था । जीवन के मोह को समर्पित करने का साहस तुल्य है --

.... मेरा ध्यान छोड़ो सखे, अन्वेषण भद्र का
करो निश्चिन्त ।
स्थापित यहां हूं गिरि चूड़ा पर । चाहे जब ढूंढो
मुझे पाओगे संस्थित यहीं पर शिव स्वरूप ।[1]

प्रियप्रवास की राधा लोककल्याणार्थ यह जानते हुए भी कि कृष्ण द्वारिका चले गए हैं और राजनीति की उलझन उन्हें ब्रज न आने देगी -- यह कहकर यशोदा को समझाती है --

हां आवेंगे ,व्यथित ब्रज को श्याम कैसे तजेंगे ।[2]

तो सियाराम जी की 'गोपिका' यह कहने का सम्बल रखती है ' काल कैसे छीनेगा ? सुरक्षित है एक एक क्षण में यहाँ कहां[3] प्रेम की उदात्त आस्था समाजसुधार के अध्यारोपण में प्रियप्रवास में युगानुरोध से दब गयी है -- जब कि गोपिका में वे प्रकृत हो सूर की राधा के समान कह सकती है --

'ब्याहवें लाख धरें दस कुवरी
अन्तहु कान्ह हमारे ।।'

कृष्ण के चले जाने पर ब्रज की क्या स्थिति होती है इस ओर 'विरह व्यथित' ,'अश्रु बोझिल' 'स्मृति-व्याकुल' ब्रजवासियों का चित्र ही सूर से हरिऔध तक के कवियों ने उकेरा है । 'गोपिका' में ग्राम जीवी भारतीय सभ्यता के उस सांस्कृतिक संक्रमण की अन्तर्दृष्टि दी गयी है जिसका प्रतिनिधि लोकनायक ब्रज छोड़कर 'द्वारिका' चला गया है और इधर गांव में दुर्जन क्रूर जैसे दस्युओं का

१- ~~प्रिय प्रवास~~ गोपिका, पृ० ९६१

२- गोपिका, पृ० ७७

उत्पात है। यादव-प्रवीर स्वकेन्द्रित है, 'व्रज उलझा लगा समस्यायें स्वयं ही गढ़ अपनी'[1] -- कवि प्रदत्त समाधान है।

राधा, गोपियां, व्रज— सभी रोते रहे, नन्द ने मथुरा के राजपथ पर पलकें बिछा कर अपनी नीलाम ज़िन्दगी गुज़ार दी। 'राजनीति के दुर्निवार चक्रों' में प्रियप्रवास के कृष्ण को 'प्रिय मिलन की आशा निराश:' दूर होता जाता है। कुछ कोसों की दूरी पार न करने का कोई बुद्धिसम्मत समाधान यदि कवि निकाल पाता तो अधिक समीचीन होता। 'गोपिका' की मंजुला सोचती है -- 'जाकर कहूँगी तो यही गोकुल में जो कुछ यहाँ है, ठीक ही है सब ? फिर क्यों नहीं है अवकाश यहां हरि को ? दूर से ही दर्शन हुए क्यों नहीं उनके ? सोचती हूँ जटिल समस्याएँ यहां को कैसी है ? रक्षकों के प्रहरियों के दल ये क्या अकारण हैं ? अनुभव करती हूं अन्तराय है मय।' और कृष्ण गोकुल आते हैं। मानिनी इन्दु की वाटिका का रक्षक 'मोदू' भी मैथिलीशरण गुप्त की 'यशोदा' सा अभिमानी है, अन्तत: कृष्ण स्वयं उसके पास आये हैं। भारत जैसे देश में सभ्यता के क्षेत्र में के रूप में 'नागरिकता' कितना ही ऊँचा उठे, संस्कृति की दीक्षार्थ उसे ग्राम्यों की ओर आना होगा। इस तरह का अन्त: संघर्ष 'प्रियप्रवास' में नहीं मिलता, जिसके लिए कवि को दोष नहीं दिया जा सकता। रचना-काल, की दृष्टि से आधुनिक युग की उन दो कृतियों में भाव-भूमिगत यह क्रमिक विकास उचित ही है। युगद्रष्टा कवि युग की सृष्टि भी होता है।

हम लोकसेवा के पुनीत आदर्श की प्रतिष्ठा कृष्ण के चरित्र में अब प्रारम्भ से ही देखते हैं। गोप-गण उनकी प्रशंसा में कहते हैं --

रोगी दुखी विपद आपद में पड़ों की
सेवा सदैव करते निज हाथ से थे
ऐसा निकेत व्रज में न मुझे दिखायी
कोई जहां दुखित हो पर वे न हों।

[illegible] वे पारिवारिक कृष्ण स्नेह की मूर्ति राधा, ममता की देवी यशोदा और 'व्रज भू मनोहरा' का स्नेहसिक्त अंचल त्याग मथुरा तथा तदनन्तर द्वारिका को जाते हैं। महाकवि हरिऔध ने व्यक्ति धर्म और समाज धर्म का समन्वय

---

१ गोपिका, पृ. १६१

करते हुए यह माना है कि प्राणियों की सेवा से उत्पन्न सुख गंगादि के तुल्य है[1]।
प्रिय प्रवास की चरित्र नायिका राधा का मूलमंत्र ही जनोपकार है --

संलग्ना हो विविध कितने सान्त्वना कार्य में भा।
वे सेवा थीं सतत करतीं वृद्ध रोगी जनों का।
दीनों, हीनों, निबल, विधवा आदि को मानतीं थीं
पूजी जातीं ब्रज-अवनि में देवियों सी अत: थीं ।।

व्यक्ति सम्पूर्ण मानवता से सम्बद्ध होता है। जब तक हमारे चारों ओर के प्राणी सुखी न हों, हमें सुख नहीं मिलता। इसीलिए ईसा, बुद्ध जैसे नैतिक प्रतिभासम्पन्नों ने खोज की कि स्वार्थपूर्ण जीवन सुखी नहीं होता। दूसरों के प्रति उपकार, उनको सुखी बनाने का संकल्प ही हमें सुखी बना सकता है। कृष्ण ऐसे ही एक आदर्श हैं जो यह मानते हैं कि --

"श्रेय: कारी सतत दयिते सात्विकी कार्य होगा
जो हो स्वार्थोपरत भव में सर्वभूतोपकारी।"

पर पीड़न, छिद्रान्वेषण और मलिनता आदि से भरे हुए कार्य करने वाले व्यक्ति की वृत्ति तामसी है। राजसी वृत्ति सम्पन्न नाना भोगों में लीन वासना पूर्ति के लिए नाना स्वार्थपूर्ण कर्म किया करता है जब कि सात्विकी वृत्ति युक्त सदैव निष्काम भाव से विश्वप्रेमवश प्राणि-मात्र के प्रति सुखदायक कर्म करता है। परोपकार और लोकहित, अध्यात्मजीवी भारतीय संस्कृति की अप्रतिम विशेषता है 'संत' की परिभाषा है। "परोपकाराय: संतां विभूतयः।" दधीचि अपनी अस्थियों को अर्पित कर देते हैं तो कृष्ण अपने जीवन के सारे स्नेह-सम्बन्ध तोड़ कर मथुरा के राजपथ पर चल देते हैं -- ब्रज-वीथियाँ भुला कर।

१- तुलना कीजिए

प्राणि सेवा जनित सुख की प्राप्ति तो जह्नुजा है
-- प्रियप्रवास १६।४३

एवं

यस्तु सर्वाणि भूतान आत्मनि एव अनुपश्यति।
सर्वभूतेषु च आत्मानं ततो न विजुगुप्सते ।।

-- ईश उपनिषद

कभी-कभी आत्मदमन का उदय निर्वैयक्तिक (यथा देश की स्वतंत्रता प्राप्ति) होता है। ऐसा निःस्वार्थ त्याग असाधारण महत्व का वस्तु होता है। पराधीनता की शृंखला में जकड़े भारतीयों में देश-प्रेम जागरित करने की महती आवश्यकता को समसामयिक साहित्यकार हरिऔध ने पहचाना। अपने 'प्रेम' को छोड़ 'कर्तव्य' में संलग्न होना -- कृष्ण और राधा के इसी निर्वैयक्तिक आत्मदमन का परिचायक है। अंग्रेजी शिक्षा के जादू ने जिनके सर पर चढ़कर गाँव के पनघट, यमुना के कगार उत्सवमयी परम्पराओं को भुला दिया, उन्हें कोसते हुए कवि कहता है --

लीलाधारा ललित गलियाँ लोभ नीयाकृतों में
क्रीडाकारी कलित कितने केलिकाले थलों में
कैसे भूला ब्रज-अवनि को का सो भावुता के
क्या थोड़ा भी हृदय भला लाडिले का न होगा ।।

देश की प्रकृति के प्रति अनुराग बिना स्वदेश के प्रेम की कल्पना नहीं की जा सकती। सच्चे स्वदेशानुरागी की राधा मृत्युपरान्त भी जन्मभूमि में एकाकार हो फूल सा खिलने की इच्छा रखती है --

विधिवश तेरी धार में आ गिरूँ मैं
मम तन ब्रज की ही मेदिनी में मिलाना।
उस पर अनुकूला हो बड़ी मंजुता से
कल-कुसुम अनूठी श्यामता के खिलाना ।।

स्वामी दयानन्द ने कांग्रेस के जन्मकाल से पूर्व सर्वप्रथम 'स्वराज्य की परिकल्पना' को प्रस्तुत किया -- 'कोई कितना ही करे परन्तु जो स्वदेशीय राज्य होता है वह सर्वोपरि उत्तम होता है। अथवा मतान्तर के आग्रह रहित अपने पराए का पक्षपात शून्य प्रजा पर माता-पिता के समान कृपा, न्याय और दया के साथ विदेशियों का राज्य भी पूर्ण सुखदायक नहीं।[1]' 'कोटिन हैं कलधौत के धाम करील की कुंजन ऊपर वारौं' का स्वदेश प्रेम, स्वदेश प्रति अनुराग सम्भवतः दयानन्द से हरिऔध ने ग्रहण किया क्योंकि 'ब' स्वामी दयानन्द जी उनके विचारों और

१- सत्यार्थ प्रकाश, आठवां समुल्लास, पृ० १४५-- दयानन्द

भावनाओं के मूर्त आदर्श थे[१]।" राधा के अनुसार --

जहाँ न वृन्दावन है विराजता
जहाँ नहीं ब्रज भू मनोहरा ।
न स्वर्ग है वांछित, है जहाँ नहीं
प्रवाहित भानु-सुता-प्रफुल्लिता ।।

इस काल में जातीयता और राष्ट्रीयता की सुप्त-भावना को फिर से जगाया गया[२]। कालिय नाग के द्वारा अपनी जाति और राष्ट्र की दुर्दशा मनुष्य मात्र की विदीर्णता तथा जन्मभूमि की विभीषणता से कृष्ण को अपार आवेश हुआ और उन्होंने प्रण लिया --

स्वजाति और जन्मधरा निमित्त मैं
न भीत हूँगा विकराल काल से
+ + कभी करूँगा अवहेलना न मैं
प्राचीन-धर्मांग-परोपकार की ।

वनस्थली में दावाग्नि प्रज्वलित है। ग्राम,गोप तथा वन के समस्त प्राणी जल रहे हैं।" स्वजाति उद्धार महान् धर्म है" -- कृष्ण की इस पुकार में जातीयता और राष्ट्रीयता के कितने भाव हैं, वे कहते हैं --

"बढ़ो करो वीर स्वजाति का भला
अपार दोनों विध लाभ है इसमें
किया स्वकर्तव्य उबार जो लिया
सुकीर्ति पाई यदि भस्म हो गए ।।

"व्योम" नामक पशुपालक की दानव-सी दुरन्तता को सुधारने के लिए विनम्रतापूर्वक कृष्ण ने नाना प्रयत्न किए बहुपूर्व - पापावेष्टित आत्मा की दूषिता उपदेश से शुद्ध न हो सकी। अहिंसा की इस सम्यक व्याख्या करते हुए हरिऔध जी का

१- हरिऔध : जीवन और कृतित्व, पृ० ३६-- डा० मुकुन्ददेव शर्मा
२- जिसको नहीं निज जाति औ निज देश का अभिमान है ।
वह नर नहीं नर-पशु निरा है और मृतक समान है ।।
-- रामनरेश त्रिपाठी

कहना है कि यह सत्य है कि मानव तो क्या एक पिपीलिका वध अश्रेय का हेतु है पर आज भी —

" न पाप है किन्तु पुनीत कर्म है
पिशाच कर्मी नर का वध क्रिया ।।"

'साधु परित्राण' जितना सत्य है उतना ही 'विनाशाय च दुष्कर्मानाम्' । बौद्धदर्शन की निष्क्रिय अहिंसा ने हमारे पौरुष को कुंठा दिया — और हम पराजित किंकर्तव्य विमूढ़ से अनवरत विदेशी दासता में बंधे रहे । इस कुंठा के अपनोदन के लिए 'अहिंसा की कायरों का नीति न बनने देने के लिए' — हरिऔध ने पराधीन हत-पौरुष को जगाने का प्रयत्न किया —

अवश्य हिंसा अतिनिंद्य कर्म है
तथापि कर्तव्य प्रधान है यही
न सद्य हो सुरिल सर्प आदि से
वसुन्धरा में पनपें न पातकी ।।

हिन्दू समाज के उत्पीड़क, धर्म विप्लवी, दुरन्त पातकी, संस्कृति के शत्रु को क्या हम क्षमा करना चाहिए, छोटन को अपराध मान कर छोड़ दें ? सदियों से पथराए विष्णु को भृगु की लात का जवाब देने के वा जागना होगा । शिशुपाल की कितनी गालियों को शान्त-कृष्ण सुनते । उन्हें सुदर्शन-चक्र उठाना पड़ा । उपनिवेशवाद के प्रसारक ने मानवद्रोही प्रवृत्ति का परिचय दिया । 'क्षमा' का अनवरत असफलता ने एकमात्र अवशेष 'दंड' नीति की ओर संकेत किया । गर्मदल ने कांग्रेस में जन्म लिया —

क्षमा नहीं है सत्य के लिए भली
समान उत्साहक दण्ड योग्य है
कु-कर्मकारी नर का उबारना
स-कर्मियों को करता विपन्न है ।।"

मनुष्य के जीवन में प्राय: ऐसे क्षण होते हैं जब उसकी बुद्धि कठिन-वन प्रान्तर में थकित-चकित शिशु सी कोई [illegible] नहीं निकाल पाती उसकी विभिन्न इच्छाएँ, परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों के कारण । [illegible] में

चलने की प्रेरणा देती है । राधा-कृष्ण के जीवन में ऐसे ही अनाकांक्षित क्षण आए । जीवन-विवेक द्वारा उन्होंने मग्नमनोरथ और मथुरागमन, प्रेम और कर्तव्य के बीच मार्ग खोज निकाला । व्रजेश के जीवन का अत्यन्त उन्मुक्त प्रवाह प्रबल कर्तव्य में फँस गया । मथुराधिराज को व्रज नहीं बिसरता --

शोभा- संभ्रम-शालिनी-व्रज-धरा-प्रेमास्पदा गोपियाँ
माता-प्रीतिमयी प्रतीति-प्रतिमा, वात्सल्य धाता-पिता ।।
प्यारे गोप-कुमार, प्रेम मणि के पाथोधि से गोप वे
भूले हैं न सदैव उनको याद देती व्यथा है हमें[1] ।।

वे प्रतिदिन व्रज-प्रस्थान की कामना करते हैं किन्तु नव-राजनीति के पचड़े-धन्धे निरन्तर उन्हें निरस्त करते हैं । द्विधा में कृष्ण हैं[2] । वे ऐसे कठिन पथ पांथ हैं कि प्रिया मिलन की आशा निरन्तर दूर होती जा रही है । पय और नीर से अभिन्न प्रेमी-हृदय पृथक हैं और बीच में खड़े हैं दुर्लंघ्य परिस्थितियों के गुरु-गिरि । राधा की शान्ति प्रदायिनी ध्वनि राजनीति के दायरों को भेद कर कान्ह तक नहीं आ पाती । सर्व-संयोग-सूत्रों की विफलता के मध्य निहित 'श्रेय' को उनके जीवन-विवेक ने पहचाना है । भोग और सुख की लालसाओं से मनोज्ञ जन-हित-लिप्सा है क्योंकि उससे आत्मोत्सर्ग की वांछा उत्पन्न होती है । मुक्ति की कामना वाला तप-निरत न तो आत्मार्थी है और न आत्मत्यागी --

जी से प्यारा जगत-हित औ लोक सेवा जिसे है ।
प्यारी सच्चा अवनि-तल में आत्मत्यागी वही है ।।
+++ श्रेयकारी सतत दयिते सात्त्विकी कार्य होगा ।
जो हो स्वार्थोपरत भव में सर्व-भूतोपकारी ।।

१- दूसरी ओर राधा भी स्मृति-विह्वल है --

जब विरह विधाता ने सृजा विश्व में थी
तब स्मृति रचने में कौन सी चातुरी थी
यदि स्मृति विरचा तो क्यों बसे है बनायी
वपन-पटु कु-पीड़ा बीज प्राणी- उरों में

— [illegible] ,पृ० २२६,पंचदश सर्ग ।४८

२- प्रियप्रवास,पृ० ६७

त्याग और प्रेम के [illegible] कवि ने उद्धव-संदेश श्रवणोपरांत अत्यन्त कुशलता से व्यक्त किया है । राधा व्यामोहित है --

प्यारे आवें सुवचन कहें प्यार से गोद लेवें ।
ठंडे होवें नयन दुख हों दूर मैं मोद पाऊं ।।
ए भी हैं भाव मम उर के और ए भाव भी हैं ।
प्यारे जीवें जग हित करें गेह चाहे न आवें ।।

विहग बनकर देख पाने की कामना जागती है कि काश वे कृष्ण के पास जा पातीं । वे अधिकतर निश्चिंत सी हैं, निराश होती हैं तो भी श्याम की याद आते ही व्यथित हो जाती हैं और प्रिय-लाभ की लालसा के सामने जगत-हित की वांछा दब जाती है[1]। किन्तु लोकोपकारिता का आदर्श ग्रहण कर, आजन्म कौमार्य व्रत का पालन करती वे यही कहती हैं --

आशा भूलूं न प्रियतम की विश्व के काम आऊं
मेरा कौमार्य व्रत भव में पूर्णता पावे ।।

अपने महाकाव्य के नायक और नायिका में पर दुःखकातरता, करुणा, मुदिता, मैत्री, स्नेह, नम्रता, त्यागप्रियता, साहस आत्मसम्मान सहनशीलता आदि उदात्त नैतिक गुणों का एकत्रीकरण कर उन्हें 'आदर्श' बना दिया है[2]। जिन्हें हम अरस्तू के 'मनस्वी व्यक्ति' प्लेटो के 'दार्शनिक शासक' बौद्धों के 'बोधिसत्व' नीत्शे के 'अतिमानव' गीता के 'स्थितप्रज्ञ' आदि आदर्श पुरुष की विविध कल्पनाओं में साकार पाते हैं ।

१- प्रिय प्रवास, पृ० २४६

२- "Moral excellence (or virtue) is a deliberate habit which enables the individual, with the help of his reasoning faculty - Subject to an appeal to the man of practical wisdom - to attain what is for him the mean between vicious extravagances. The Principal moral virtues are courage, temperence, liberality, munificence, magnonimity or self-respect, gentleness and justice"

— Encyclopidia of Religion & Ethics. Page 289-90. Volume I "Aristotel on Ethics".

राजनैतिक सामाजिक संघटन

राज्य ऐतिहासिक और नैसर्गिक विकास का फल है जिसके मूल तत्व सम्पूर्ण प्रारम्भिक अवस्थाओं में से आनुक्रमिक और सतत् विकसित होते हैं। [illegible] गार्नर का कहना है कि राज्य न तो मनुष्य के द्वारा निर्मित किया गया, न पाशविक बल के प्रयोग से लाया गया, न समझौते द्वारा लोगों ने संगठित किया और न घर कुटुम्ब का ही विस्तृत रूप है। राज्य न तो आविष्कार की हुई वस्तु है और न बनावटी मशीन ही है वरन् ऐतिहासिक विकास का परिणाम है। गोकुल परिवार की सकल सामाजिक संरचना के सुन्दर चित्र अंकित करते हुए भी हरिऔध जी ने अरस्तू और बोदाँ के समान राज्य को परिवार का समुदाय न मानते हुए 'व्यक्ति' को राज्य की इकाई माना है। कृष्ण राजा होते हुए भी एक 'व्यक्ति' हैं, नाना सामाजिक सम्बन्धों में आबद्ध हैं। वे ईश्वर के प्रतिनिधि राजा नहीं, अपितु जनता के प्रतिनिधि शासक हैं जिनके सामने जन-कर्तव्य इतना महत्व रखता है कि वे अपना स्वप्नप्रिया के पास कुछ कोस की दूरी लाँघ कर भी नहीं आ पाते। स्वप्न में अनुरागिका स्मृत कुंजों में उनका मन-मधुप सर्वदा घूमता है, प्रणय प्रतिमा, प्रियजन की-जनक की सुधि में उनका उर उद्वेग से व्यथित होता है। उनके नीर-भरे नेत्रों को उद्धव-आना ने भी देखा है। किन्तु जिसे प्राणों से अधिक विश्व-प्रेम प्यारा हो वह अपने स्वार्थ और वपुज-सुख को तुच्छ बना देता है --

मीमांसा हैं प्रथम करते स्वयं कर्तव्य ही की
पीछे वे हैं निरत उसमें धीरता साथ होते
होके वांछा विवश अथवा लिप्त हो वासना से
प्यारे होते न च्युत अपने मुख्य कर्तव्य से हैं।[1]

शासक की इसी कर्तव्यपरायणता का आदर्श हमारे इतिहास की विविध गाथाओं में बिखरा हुआ है जिसे आज के युग में पौराणिक आख्यान और पात्रों के माध्यम से हरिऔध जी ने प्रकाशित किया है। यहां राजा के अपेक्षित

१- स्नेहं दयां च सौख्यं च यदि वा जानकीमपि।
आराधनाय लोकस्य मुंचतो नास्ति मे व्यथा ॥
— उत्तर रामचरित

गुणों और उसकी प्रशासकीय-नीति का न्याय दर्शाया गया है । वसुदेव-देवकी का सेवा में हों या गुरुजनों को सम्मान देते यदि उन्हें पेठा किसी का आर्त-यातना आ पड़े तो वे उसके सारकायार्थ चल देंगे --

> "जो वो बैठे रुदन करते कार्य होंवे अनेकों ।
> औ कोई आ कथन उनसे यों करे व्यग्र होके ।।
> गेलों को है दहन करती वर्णिता ज्वाला-माला
> तो दौड़ेंगे तुरंत तज वे कार्य प्यारे सहस्रों ।।

मात्र करुणा और दया के सहारे राजदण्ड स्थिर नहीं रहता । सामनीति के साथ यदि दण्ड व्यवस्था न हो तो राज्य में अव्यवस्था उत्पन्न हो जाता है । श्रेष्ठ दण्ड व्यवस्था अपने-पराए के विभेद से उपराम होती है । उसका अंधचक्र प्रत्येक दुष्टात्मा, पातकी पर धहराता है । लोकोपकार को सर्वप्रमुखता देने वाला शासक अपनी व्यक्तिगत वेदना और लगाव से अनासक्त होता है --

> कोई प्यारा-सुहृद उनका या स्व-जातीय प्राणी
> दुष्टात्मा हो, मनुज कुल का शत्रु हो, पातकी हो
> तो वे सारी हृदय-तल की भूल के वेदनायें
> शास्ता होके उचित उसको दण्ड और शास्त्र देंगे

कंस अनियंत्रित राजतंत्र (अरस्तु के शब्दों में Tyranny अर्थात कठोर शासन) का प्रतिनिधि है । एक तंत्र शासन (Monarchy) में प्रभुसत्ता एक ही व्यक्ति के हाथ में निहित होती है और वह अपनी अतुल-शक्ति का प्रयोग जनहिताय करता है जैसा कि हम कृष्ण-शासन कालीन वर्णना में पाते हैं । किन्तु कंस का शासन जनहित के प्रति उदासीन और अपने स्वार्थपूर्ण हितों की पूर्ति के लिए प्रयत्नशील है । अन्य जनों से पीड़ित व्यक्ति राज-दरबार में नरनाथ तक जाता है किन्तु --

> यदि निपीड़क भूपति ही की
> जगत में फिर रक्षक कौन है ?

प्रकारान्तर से महाकवि ने तत्कालीन अंग्रेजी शासन-तंत्र को व्यंग्यात्मक ग्रहण की है । सत्य धर्मभीरु, वसुधैव कुटुम्बकम् का विश्वासी 'अतिथि देवो भव' का

पुकारा -- एक भारतीय अपने उत्थान के लिए दूसरे का अनुसार नहीं भी सकता। किन्तु निष्प्रयोजन का विनाश ही जिनका प्रकृति से प्रिय कार्य है ऐसे अत्याचारियों के प्रतिनिधि कंस-शासन में त्रस्त यशोदा कादम्बिनी से विवश होकर अधूतरत्न और पर पुत्र दान की प्रार्थना करता है --

परम क्रूर महीपति-कंस की
कुटिलता अब है अति कष्टदा
कपट कौशल से जब नित्य ही
बहु पीड़ित है व्रज का प्रजा ।।

ऐसे शासन में समाज विशृंखलित है। अनेक कुमों या काट भक्षण कर रहे हैं, कुछ धूल-धूसरित अन्य सुमन भी दशा देखकर मानो म्लान है। खिलने और हंसने की अनुकूल दशा नष्ट हो गयी है[1]। ऐसी भीषण भयावह काल में हमें सहज ग्राम्य जीवन की आमोद - प्रमोदमयी उत्सवजीवी जिन्दगी याद आती है। सरल भारतीय अंग्रेजी शासन तंत्र से ऊबकर उस स्वराज्य की कल्पना करने लगा जिसमें हमारा प्रतिनिधि शासक कृष्ण के समान हमारे दुःखों- दर्दों से व्यथित हो, हमारा `अपना` हो। प्रियप्रवास ने अपनी सीमाओं के भीतर राष्ट्रीयता का उद्घोष मटल-मन्द किया, स्वराज्य की परिकल्पना को जन-मानस के पटल पर उकेरा।

सृजनात्मक क्षमता

इहलोक के प्रजापति कवि का मानस जन-सामान्य से अधिक संवेदनशील और सृजनात्मक प्रतिभासम्पन्न होता है। `निर्माण` का वरदान प्राप्त मानव-प्रज्ञा लीक से भिन्न सृजित करने को आतुर रहती है। सभ्यता का विकास और संस्कृति की सम्भावनाएँ -- इसी सृजनशील क्षमता जन्य हैं। यह सृजनात्मक क्षमता ही मनुष्य को प्रकृति और अन्य जीवधारियों से भिन्न बनाती है।

परम्परागत इतिवृत्त को पौराणिकता को नये युग के सन्दर्भ में ढालना वस्तुतः एक दुरूह कार्य है। पौराणिक पात्र भक्त `ध्रुव` के समान सांस्कृतिक-परम्परा से पृथक न हो जायें, यह ध्यान रखते हुए हरिऔध जी ने श्रीकृष्ण को `महापुरुष`

1- प्रियप्रवास पृ. 225

तथा महामानव का रूप दिया न कि 'भगवान्' और 'अवतार' का । कृष्ण के महान रूप की अवतारणा के लिए उन्होंने कथानक में पर्याप्त परिवर्तन किया । पौराणिक घटनाओं को बौद्धिकता संवेद्य बनाया । तृणावर्त को राक्षस नहीं अपितु भयानक उठने वाली आँधी थी जिसकी भयंकर गर्जना ने कितने ब्रजनिवासियों को कँपा दिया[1] । पूतना भी न दानवी नहीं, परम पातक की मूर्ति था । शकट(गाड़ी) का पात एक दुर्घटना था न कि शकटासुर का प्रकोप । कृष्ण गमन की रात्रि में डराते प्रेत दानवों के नृत्य का समाधान 'तिमिर - लीन- कलेवर लिए विकट-दानव से पादप बने' कह कर कवि ने दिया है । यह आधुनिक युग की बुद्धिवादिता का प्रमाण है ।

कालीय नाग की कथा में से अतिमानवता का बहिष्कार करते हुए साधारण व्यक्ति के रूप की प्रस्थापना की है कि कृष्ण ने वेणुनाद द्वारा भयंकर द्वारा भयंकर नाग को वशीभूत करके सयुक्ति गहन-वन से निकाल दिया[2] । यहाँ कृष्ण दावानल का पान नहीं करते प्रत्युत बन्धुओं और गायों की रक्षार्थ अग्नि में कूद कर उन्हें बाहर निकालते हैं[3] । इन्द्र प्रकोप पीड़ित ब्रजवासियों को उन्होंने गोवर्धन पर्वत की कन्दराओं में निवास करने का सुझाव दिया और सबकी सुविधा में इतने तत्पर रहे कि सबने समवेत स्वर में कहा कि 'श्याम ने पर्वत को उँगली पर धारण कर लिया है[4] । अघासुर,व्योम,केशी आदि के प्रसंगों को भी बुद्धिसम्मत रूप दिया है ।

सर्जना का अर्थ किसी सर्वथा नूतन वस्तु का निर्माण नहीं है क्योंकि वैज्ञानिकों के मतानुसार मानव न तो पदार्थ (matter) का निर्माण कर सकता है और न विनाश ही । हरिऔध जी ने कृष्ण के चरित्र को आधुनिक पाठकों की रुचि एवं बौद्धिक साधारणीकरण के अनुरूप बनाने के लिए अलौकिक घटनाओं या तो निरसन किया है फिर उन्हें अपनी प्रतिभा-कौशल से इस प्रकार प्रस्तुत किय

१- प्रिय प्रवास,पृ० ३७

२- प्रिय प्रवास, पृ० ५४

३- प्रियप्रवास,पृ० ६६

४- प्रियप्रवास,पृ० ६२

कि वे लौकिक तथा मानवीय बोध से दूर न जा गिरें । रूप उपयोगिता के सृजन (Creation of form utility) द्वारा उन्होंने भगवान् को 'प्यारे-भ्राता-तुल्-- स्वजन' सा बना दिया । पुराण स्मरण शक्ति के द्वारा ज्ञानवौद्धिकता का सन्निवेश करके नवीन सर्जित किया है ।

हर्बर्ट रीड की सम्भावना को हिन्दी के प्रथम आधुनिक युग में 'प्रिय प्रवास' में प्रतिफलित किया गया कि 'पौराणिक कथाएँ जो पहले निष्प्रभ थीं अब पुन: जीवित हो गयी हैं और सम्भव है कि सम्प्रदाय-भाव होने पर सभी देवता और नायक- नायिकाएँ जिन्होंने शताब्दियों तक मानव-मन का पोषण-पालन किया है, पुन: अपनी प्रतीकात्मक क्रियाओं को संस्थापित करेंगे[१] । बंगला में 'कृष्ण चरित्र' में बंकिम ने यह दिखलाया कि किस प्रकार कृष्ण के सहज मानवीय कृत्य अतिमानवीय रूप ग्रहण कर लेते हैं । राधा और कृष्ण -- इन दो पौराणिक प्रतीकों को समसामयिक और आधुनिक युग से संबद्ध करने का दुरूह कार्य हिन्दी में पहली बार हरिऔध जी ने किया । कृष्ण के व्युत्पत्तिपरक अर्थ में निहित 'आकर्षण' को सहज मानवीय गुणों के परिप्रेक्ष्य में कवि ने देखा और 'आराधिका' के कृष्ण-समर्पित-आराधन को लोकाराधन के रूप में प्रतिष्ठित किया । इस प्रकार कवि ने पौराणिक प्रतीकों तथा पौराणिक इतिवृत्त को युगीन व्याख्या करते हुए आध्यात्मिक चेतना के प्रकटीकरण तथा मानस-प्रतिमाओं का संस्थापन-- इन दो रूपों में पौराणिक प्रतीकों को देखा है ।

महाकवि ने बौद्धिक तर्कना के युग में पौराणिक रूप से ईश्वर की ऐसी व्याख्या की कि उसका धार्मिक रूप मुखर हो उठा । गोवर्धन-धारण ,पूतना-वध तृणावर्त-हनन आदि अतिप्राकृत घटनावलियों के अभिधेयार्थ से पृथक् प्रतीकार्थ की अवतारणा कवि का आधुनिक युग के पूर्वार्द्ध में दिया गया एक बड़ा योगदान है । पुराणों के कृष्ण से ईश्वरत्व निकाल कर उनकी आदर्श मानव रूप में पुन: सृष्टि करना साधारण काम न था । प्रियप्रवास में कवि ने यही कठिन कार्य पूरा कर दिखलाया है[२] ।'

१-- Collected essays in Literary criticism. P. 101.

२-- आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास,पृ०४६-४७-- डा० श्रीकृष्णलाल

प्रश्न यह उठता है कि पौराणिक नेतिवृत्त को नए युग से संबद्ध करने के प्रयास में कवि कहाँ तक सफल हुआ है ? मूल्यांकन की कसौटी पर परखते समय यह भी स्मरण रखना है कि प्रियप्रवास उस युग की कृति है जब भारतीय मानस मनोविज्ञान के सूक्ष्म अधिनियमों से सामान्य परिचित भी था । ऐसे काल में पौराणिक आख्यानों का पुनर्जीवन (समुत्थान) की प्रथम दृष्टि प्रियप्रवास में ही मिलती है । 'राधा' के लोकाराधन में कवि सहज मानवीयता को भूल सा जाता है । राधा अत्यन्त धैर्य पूर्वक पवन-दूती को परोपकार और लोकसेवा की शिक्षा देता है । अति प्रेमिका की (विरहावस्था में) चेतना की ऐसी जागरूक अभिव्यक्ति मानव-मन को छू नहीं पाती । लगता है कि एक समाजसेविका लोकसेवा का पाठ पढ़ा रही है । मेघदूत का यक्ष शोकातुरता के कारण निर्जीव मेघ से वार्तालाप करता है तो क्षम्य है किन्तु सचेत संयमावस्था में राधा का लम्बा-चौड़ा वार्तालाप अस्वाभाविकता उत्पन्न करता । मनोवैज्ञानिक दृष्टि से प्रेमाधार में सभी मानसिक वृत्तियों का केन्द्रीयकरण हो जाना चाहिए था, यहाँ कवि ने विकेन्द्रीकरण दिखाया है । यदि कृष्ण राधा को पूर्णत: निराश विमश कर देते या ऐसे स्थान पर चले जाते जहां से लौटना सम्भव न होता-- तो राधा के विश्वप्रेम की समीचीनता सिद्ध होती । फल यह है कि एक सामान्य पाठक की संवेदना राधा के नारी रूप से होती है। उनके उस दिव्य व्यक्तित्व से नहीं जो आरोपारोपण मात्र है । यदि थोड़ी सी मनोवैज्ञानिक संस्पर्शता कवि को प्राप्त होती तो पौराणिक प्रतीकों का युग संदर्भ अधिक सफल,समादृत होता ।

कृष्ण को महात्मा के रूप में कहना कविअभीष्ट है । कालीय नाग का प्रकरण कृष्ण की बाल्य अवस्था का ध्यान रखते हुए लौकिक नहीं लगता, ऐसे ही गोवर्धन घटना भी । कृष्ण के ने प्रणयी रूप में अन्तर्द्वन्द्वों के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के जिस भावना-क्रम (motivation) की आवश्यकता है, उसका भी यहां अभाव है । राष्ट्रीय भावना ने अविच्छिन्न तन्तु के अस्तित्व के लिए पुराणसम्मत कृष्ण का कायाकल्प कवि की युग की देन है पर अच्छा होता कि कवि कृष्ण के नीतिज्ञ,योगीराज रूप की संस्थापना के साथ उनके जीवन चरित्र से अपनी प्रतिमा के द्वारा कोई ऐसा सबल कारण स्थापित करते जिसके द्वारा वे मथुरा से तीन कोस तक आने में अपनी असमर्थता सिद्ध कर पाते ।

प्रतीकों की गत्यात्मकता ही पुरातन को नवीन के साथ जोड़ता है। वैयक्तिकस्तर पर पौराणिक प्रतीक विम्बों ग्रहण करने का समर्थ ... रहता है। इस नवनशीलता का दृष्ट ... प्रिय प्रवास में मिलता है। इस महाकाव्य की मूलवृत्ति है 'पौराणिकता की नवीन व्याख्या' जिसमें परिस्थितियों की तत्कालीन विलक्षणता को देखते हुए कवि ने सृजनशील क्षमता का पर्याप्त परिचय दिया है।

खड़ी बोली में 'संस्कृत वृत्त-रचना' अभिव्यक्ति की नूतन सामर्थ्य थी जो सबसे पहले प्रियप्रवास में देखने को मिलती है। राष्ट्रीयता का ऐसा उद्घोष, स्वदेश प्रेम का चरम आदर्श, जन्मभूमि का दुर्निवार आकर्षण इतने संश्लिष्ट रूप में तत्कालीन काव्यों में अन्यत्र प्राय: दुर्लभ है। कवि ने ... प्रकृति-सौन्दर्य को नूतन दृष्टि से देखा। प्रकृति और मानव का यह सामंजस्य अद्भुत है कि प्रकृति मानव के दु:ख में दु:खी और सुख में सुखी दीख पड़ती है। त्रस्त-ध्वस्त-थकित मानव का इस ममत्वशालिनी की गोद में सिर छिपा कर शान्ति पाना द्रष्टव्य है। 'दिवस का अवसान समीप था ....' के सक्षम प्राकृतिक बिम्ब से महाकाव्य का प्रारम्भ, गणेश और देवस्तुति की अवहेलना ध्वंसात्मक-निर्माण है।

सामन्ती साहित्य नारी के अभिसार - वियोग की ही कहानी है। 'प्रियप्रवास' ने आधुनिक काल में पहली बार यह बतलाया कि पुरुष भी प्रेमपीड़ित होते हैं, उनके भी आंसू बहते हैं, उन्हें भी वेदना कचोटती है। दीपशिखा ही नहीं यहां शलभ भी जलता है। 'क्यों बाधा और विपत्तिमय है प्रेम का पंथ होता' — यह समस्या नायक और नायिका दोनों के सामने उपस्थित होती है।

राधा कर्तव्य की पाषाणी शिला पर सिर पटक-पटक कर रोने वाली नारी जाति का जीवित दृष्टान्त है। स्नेहमयी के अमित अनुरागों को भुलाकर भ्रमरी वृत्तिसम्पन्न बना जाता है और वीरान वादियों में नारी-जाति का सनातन प्रश्न मुखरित हो उठता है —

> क्यों होते हैं पुरुष कितने, प्यार से शून्य कोरे
> क्यों होता है न ... उनका सिक्त स्नेहा ... धारा।

क्या राधा अपने को यह बन्ध्या मान ले जिसने अदि का न जाने कौन ऐसा दोष किया है कि वह प्रेम-वंचिता है, उसमें कौन सी ऐसी न्यूनता है जो प्रभु उसके पास हो नहीं आता । सम्भव था ऐसी स्थिति में अज्ञात निरादरा आत्मघात कर लेती या वियोगिनी आजन्म एकान्त में आँसू बहाती । किन्तु हरिऔध ने लोकाराधिका के प्रेम को भक्ति में परिणत किया । प्रिय प्रवासकार को अपने समाज को एक आदर्श की शिक्षा देना इष्ट है । यह आदर्श है स्वार्थमय मोह का परित्याग और निःस्वार्थ प्रणय का [illegible] । निःस्वार्थ प्रणय की परिणति विश्व प्रेम में होती है । प्रिय-वियोग से परम गरिमावान दो लाभ राधा ने पाए हैं --

मेरे जी में हृदय विजयी विश्व का प्रेम जागा ।
मैंने देखा परम विभु को स्वीय प्राणेश में हो ॥

कवि निवृत्तिमूलक अध्यात्मिकता के पक्षधर नहीं हैं अपितु वे प्रवृत्तिमूलक मार्ग को ही मोक्ष का साधन मान कर चले हैं -- यही उनके आध्यात्मिक चिंतन की युगानुरूपता है । यह नूतन आध्यात्मिकता निषेधपरक है न होकर इसमें जिजीविषा एवं संघर्षप्रियता का संचार करने वाली है । संसार के समस्त प्राणी, नदी, पर्वत, लता, वृक्ष उसी विश्वात्मा के रूप हैं -- उनसे दूर भाग कर [illegible]-मूर्ति के स्थापन की बात आज नहीं सोची जा सकती । आर्त उत्पीड़ितों, रोगी, व्यथितों की दीन पुकार सुनना, लोक उन्नायकों, सच्छास्त्रों का सुनना ही 'श्रवण भक्ति' है । सोए हुए जागें, अंधकार में भटके राह पायें, सन्मार्ग पाएं, ऐसे दिव्य मनोरम गुणों का गायन 'कीर्तन' है । देश प्रेमियों, विद्वानों, [illegible] आदि का नमन 'वंदना' है । संसार कल्याणी, प्राणी-उपकारक, मलिन जाति के उत्थान की चेष्टायें और बातें, सेवक पर कृपा 'दासता' है । 'स्मरण' का भाव है कि पर पीड़ा पहचानते हुए कंगालों विवश प्राणियों, अनाथों को याद रखते हुए उन्हें त्राण देना । 'आत्म निवेदन', का अभिप्राय आपद्ग्रस्त के लिए तन-मन-धन अर्पित करना है । 'अर्चन' का भाव है

१- तुलनी०   मोह मोर मुक्तिरूपे उठिबे ज्वलिया
            प्रेम मोर भक्ति रूपे उठिबे फलिया ।।
                                    -- रवीन्द्रनाथ टैगोर

कि भयभीत को शरण, संतप्त को शान्ति, पीड़ित को औषधि, भूखे-प्यासे को भोजन और निर्बोध को मति देनी चाहिए। संसार में आकाश और पृथिवी पर रहने वाले जितने भी प्राणी हैं, उन सब का सुहृद-सा होना 'सख्य' तथा जो प्राणि-वर्ग अपने कर्मों से सताया जाकर हमारी शरण में आता है उसे शरण देना 'पद सेवक भक्ति' है।[1]

भागवत वर्णित नवधा भक्ति से भिन्न यह भक्ति का [illegible] बहुजनहिताय पर आधृत है। '.... प्रिय प्रवास धर्मग्रन्थ नहीं है, काव्य ग्रन्थ है जिसमें लोकधर्म का तो ग्रहण है पर व्यक्ति धर्म के नाना पुराण [illegible] साम्प्रदायिक रूप का ग्रहण नहीं है।[2]'

परोपकार, लोकसेवा और विश्वप्रेम के अंकुर का भी कृष्ण में अशेषभाव विद्यमान थे, विरह ने विकास-हेतु उचित भूमिका निर्मित की। राधा गम्भीर प्रेमिका है जो जीवन और जगत के प्रति अद्भुत त्याग और उदात्त भावनाओं से अभिमण्डित है। उपर्युक्त नवधा-भक्ति राधा के विरह-व्यथित प्राणों की अपूर्व साधना है। वे ब्रज नृपति को शास्त्र सुनाती हैं, धूल में लोटता बाला को करुणा प्लावित अन्तर से सान्त्वना देती हैं जो कहीं तन्मय हो मूर्छिता पर व्यजन डुलाती हैं। चिंता-चिंतित घर में शान्ति-धारा बहाना उनका ध्येय है। भूत-संवर्द्धना के लिए चींटों को आटा विहग गणों को वारि अन्न देती हैं, पशु भी कृपा नहीं तो[illegible] थी। यशोदा को 'कृष्ण' अवश्य आयेंगे कह आशा के क्षीण तन्तु में उनके प्राणों को बांधे रहती हैं।

> वे छाया थीं सु-जन शिर की शासिका थीं खलों का।
> कंगालों की परम निधि थीं औषधि पीड़ितों की॥
> दीनों की थी बहिन, जननी थीं अनाथाश्रितों की।
> आराध्या थीं ब्रज-अवनि की प्रेमिका विश्व की थीं॥

1- प्रियप्रवास पृ. २५६

2- प्रियप्रवास की [illegible], पृ० [illegible] — विश्वनाथ प्रसाद मिश्र

हरिऔध जी के अनुसार कोई भी प्राणी लोकमंगल की भावना तथा सत्कर्मों द्वारा अनुप्रेरित हो परमात्मा तक पहुँच सकता है । वे परमात्म तत्व का आधान मानवात्मा में ही करते हैं । विज्ञान-प्रधान सभ्यता का उदय हिन्दुओं की कंकालवत रूढ़ियों से टकरा कर उन्हें छिन्न-भिन्न करने पर उतारू हो गया और जिसके प्रभाव से हरिऔध जी भी अछूते नहीं रह सके । स्वामी दयानन्द के आर्य समाज अथवा राजाराम मोहन राय ने ब्रह्म समाज या अन्य ऐसी प्रगतिशील संस्थाएँ उन्हीं पश्चिमी झोंकों की प्रतिक्रिया में फली-फूली । हरिऔध जी पर भी प्रतिक्रिया का प्रभाव पड़ा । और 'प्रियप्रवास' सामने आया । यह अपने युग-जीवन की मार्मिक अभिव्यक्ति है । १६०० से १६२०ई० तक के काल में थियोसोफिकल सोसाइटी आदि के माध्यम से पुनर्जागरण की ज्योति जगाई ताकि भारती विदेशी बंधनों से मुक्त होने के लिए पुरातन संस्कृति का गौरव दीन दुःखी जनता को उत्साहक सिद्ध हो ।

हरिऔध जी ने रामचरित को लेकर 'वैदेही वनवास' की रचना की पर प्रियप्रवास में अपेक्षाकृत स्वच्छन्द विराट परिकल्पना, नयी कल्पनाओं का संस्पर्श अधिक है क्योंकि मर्यादा पुरुषोत्तम ' राम' का चरित्र सीमाओं में पूजित है -- प्रेम और सौन्दर्य के अधिष्ठाता कृष्ण के चरित्र और कथा में रचनात्मक सम्भावनाएँ अधिक हैं । पुनर्जागरण-काल में महाकवि हरिऔध ने 'कृष्ण' चरित्र की कल्पनात्मकता को नए सन्दर्भों में अधिष्ठित किया । पुरातन के ग्रहण और नवीनता से उसके सामंजस्य-काल में पारम्परिक प्रतीकों को अपना कर, राष्ट्र प्रेम, सांस्कृतिक निष्ठा, परोपकार, सर्वजन [illegible] आदि आदर्शों का स्थापनार्थ 'प्रियप्रवास' की अवतारणा हुई है । इस दृष्टि से यह हिन्दी का सर्वप्रथम महाकाव्य है जिसमें गतानुगति का रूढ़ मान्यताओं को नवीन वैज्ञानिक तथा बौद्धिक दृष्टि से परख कर युग-सन्दर्भ के अनुकूल बनाया है ।

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के मर्यादावादी युग में, ब्रह्म समाज, आर्य समाज आदि सांस्कृतिक संस्थाओं के काल में प्रिय प्रवास का पौराणिक [illegible] को युग-सम्पृक्त बनाने का प्रयास सराहनीय है। उसने सूर सागर से चली आती उस परम्परा को नयी वर्तमान झांकियाँ दी हैं जिसे सामन्तीय संस्कृति ने पंकिल कर दिया था । अंग्रेजी शिक्षा के सघन झंझावात में आक्रान्त सुधार- सनातन-आदर्शों की वल्लरियों को कवि ने बौद्धिक तर्कों द्वारा अवलम्ब दिया, प्रेम और सौन्दर्य के देवता

'कृष्ण राधा' के पौराणिक प्रतीक को नया रूप दिया। (भले ही उसमें तत्कालीन सीमाएँ, कवि का धर्मशीलता, समाज सुधारक व्यक्तित्व आड़े आया हो।) हरिऔध जैसे सात्विक धर्मपरायण और संस्कृति के उपासक कवि में भारतीय संस्कृति के प्रति अपराजित व्यामोह रहा है फलतः "प्रियप्रवास न केवल महाकाव्य ही रहा अपितु भारतीय संस्कृति मूल तत्वों के उद्घाटन का महत्वपूर्ण संदर्भ ग्रन्थ बन गया है[१]।"

१- महाकवि हरिऔध और उनका प्रियप्रवास,पृ० २०१ -- देवेन्द्र शर्मा

साकेत

साहित्य किसी देश के किसी युग विशेष का सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक क्रिया-प्रतिक्रियाओं का प्रतिबिम्ब होता है। 'महाकाव्य' युगों की साधना का परिणाम होने के कारण संस्कृति का संवाहक होता है। उसके महत् स्वरूप में व्यक्ति चेतना सार्वभौम बन जाती है। किन्तु महाकाव्य की इस मांगलिक भूमिका के पीछे रचयिता का विशद जीवन दृष्टि, स्वस्थ विचार परम्परा, सौन्दर्यबोध एवं व्यापक नैतिक धरातल को प्रस्तुत करने में सक्षम बहुमुखी सृजनात्मक प्रतिभा का होना आवश्यक है।

नवयुग के वैतालिक श्री मैथिलीशरण गुप्त भारतीय संस्कृति के व्याख्याता हैं। वे ऐसे साहित्यिक हैं जिन्होंने युगीन परिस्थितियों के बीच परम्परागत संस्कारों को परिवर्तित-परिवर्द्धित करते हुए नवीन सम्भावना की दिशाओं को उन्मुक्त किया। ऐसे समन्वित दृष्टिकोण सम्पन्न जन-जीवन के कलाकार ने यह सिद्ध कर दिया कि साहित्यकार किसी युग विशेष का सृष्टि ही नहीं स्रष्टा भी होता है। महावीर का 'प्रसाद' प्राप्त करने वाले महाकवि ने अनादृत और उपेक्षित उर्मिला को महाकाव्य 'साकेत' का केन्द्रीय चरित बनाकर भारतीय संस्कृति को प्रतिष्ठापित किया।

साकेत का प्रकाशन-काल सन् १९३२ है । काव्य के प्रथम चार सर्गों का प्रणयन १९१६-१७ में हो चुका था । कवि प्रतिभा ने तत्कालीन युग-जीवन के व्यापक संघर्ष, सामाजिक उत्थान-पतन और मान्यताओं के उत्कर्ष-अपकर्ष को उन्मेषित किया । इस सामंजस्यवादी कलाकार ने एक ओर आभिजात्य की कृत्रिमता की अवहेलना की तो दूसरी ओर गँवारपन या लोकतत्त्व को छोड़कर 'साकेत' में भारतीय जन-मानस की उस संस्कृति को उपस्थित किया जिसमें देशप्रेम का सम्पूर्ण भाव है । इस दृष्टि से महाकाव्य 'साकेत' अपने सर्गों में जातीय चेतना के जागरण का साहित्यिक प्रयास है ।

सन् १९१४ में प्रथम महायुद्ध प्रारम्भ होने पर अंग्रेज़ों और उनके साथी राष्ट्रों ने युद्ध का उद्देश्य घोषित करते हुए कहा कि यह युद्ध स्वतन्त्रता, जनतंत्र और नागरिक अधिकारों की रक्षा के लिए लड़ा जा रहा है । हमें आशा थी कि जो युद्ध प्रत्यक्षतः राष्ट्रों के स्वभाग्य निर्णय के सिद्धान्त तथा प्रजातंत्रीय शासन की सुरक्षार्थ लड़ा जा रहा है उसके फलस्वरूप भारत में भी उत्तरदायी शासन की स्थापना हो जाएगी । परन्तु युद्धोपरान्त 'भारत-रक्षा-कानून' की कठोर धाराओं को फिर से अमल में लाने की व्यवस्था ने शासकीय नीति को स्पष्ट कर दिया । दक्षिण अफ्रीका तथा छोटे पैमाने पर भारत में खेड़ा व चम्पारन जिलों में सत्याग्रह का प्रयोग हुआ । दुर्भाग्यवश इस सिलसिले में पंजाब और अहमदाबाद में जनता की ओर से कुछ उत्पात हो गए, जिनसे दोनों पक्षों के जानमाल का नुकसान हुआ और 'जलियाँवाला बाग-हत्याकाण्ड' और फौजी व शासन के भीषण दृश्य सामने आए । देशव्यापी हलचल व रोष को 'हण्टर कमीशन' की रिपोर्ट शान्त न कर सकी । असहयोग आन्दोलन प्रारम्भ हुआ । राष्ट्रीय जागृति की लहर और सरकारी-दमन साथ-साथ चले । १९२९ के लाहौर अधिवेशन में कांग्रेस का लक्ष्य बदल कर शान्तिपूर्ण और उचित उपायों से पूर्ण स्वराज्य (पूर्ण स्वाधीनता) की प्राप्ति हो गया । १९३० के प्रारम्भ में अनैतिक कानूनों की सविनय अवज्ञा तथा कर बन्दी का आन्दोलन संगठित हुआ[१] ।

१- कांग्रेस का इतिहास, पृ० १० प्रस्तावना लेखक डा० राजेन्द्र प्रसाद

ऐसे राजनैतिक उथल-पुथल के युग में राष्ट्रीय भाव ने प्राचीन पृष्ठिका पर नवजागरण का सन्देश देने के लिए 'साकेत' की रचना की। उन्होंने रूढ़ि में घिरे सारे वातावरण को छोड़कर भारतीय जनता को नवयुग का और अग्रसरित किया भारतवर्ष का पुरातन संस्कृति को आधुनिकता के वैज्ञानिक प्रकाश में जगाया। 'अंधकार में ग्रस्त ऐतिहासिक पुरुष, भ्रान्त में किंकर्तव्यविमूढ़ ऋषि मुनि, रूढ़ि और प्रमाद में ग्रस्त संकुल महात्माओं के पात्र, पुराने पन में फंसे हुए गतानुगतिक से प्राप्त टेढ़ी-मेढ़ी रेखाओं पर चलने वाले केवल मौखिक उत्तराधिकार पर जीवित प्राणी--सबों को गुप्त जी की लेखनी के चमत्कार ने अर्वाचीन वातावरण में उपस्थित किया। इतिहास बिगड़ने नहीं पाया, पुराणों और उपनिषदों के नाम भी बने रहे, काव्यों के नायकों के स्वरूप भी विकृत नहीं हुए, भारतीयता भी रक्षित रही तथा हमारी संस्कृति को नया प्रकाश और नयी कला मिला।[1] साम्राज्य के घेरे में आदर्श का मुकुट धारण कर सारी प्राचीनता उनके काव्यों में मुस्काती है और भारतीय संस्कृति की नयी टीका करती है।[2] गुप्त जी के काव्य-वीणा के तार-तार में भारतीय संस्कृति की पावन-गाथा झंकृत होती है। भारतीय संस्कृति के विविध सोपानों की प्रबुद्ध चिन्तना के द्वारा कवि ने पनपते हुए साहित्य की भूमिका में आर्य संस्कृति के बीज उगाए हैं। जीवन और जगत् के बीच निरन्तर आने की पर्यालोचित करके संकीर्ण हठधर्मिता विहीन जीवन-विवेक सम्पन्न महाकवि गुप्त जी ने नवजागरण के अग्रदूत की भूमिका का सफल निर्वाह किया है।

द्विवेदीकालीन जड़ आदर्शवादिता तथा शुष्क गद्यात्मकता के उपदेश प्रधान वातावरण में कवि की कलम ने लिखना सीखा। महर्षि दयानन्द, स्वामी विवेकानन्द, राजाराम मोहन राय आदि संस्कृति के उद्धारकों का यथेष्ट प्रभाव उनके साहित्य पर छाया हुआ है। मध्ययुगीन रूढ़ियों के विनाश के लिए कवि उपदेशक बना और उसकी कविता सत्य और शिव की अनुगामिका। काव्य का वास्तविक विचरण-स्थली सौन्दर्य है। मानव-मानस की समस्त भौतिक-अभौतिक उपलब्धियों के पीछे सौन्दर्य-सृजक कलाकार छिपा रहता है। 'साकेत' के रचनाकाल तक उपदेष्टा

१- साहित्य तरंग, पृ० २०६-- श्री सद्गुरुशरण अवस्थी

कवि काफी बदल चुका था । युगानुकूल परिवर्तन की उस असाधारण क्षमता के कारण ही वे हिन्दी के प्रतिनिधि कवि माने जाते हैं । सौन्दर्यासक्ति सांस्कृतिक कहानी की निर्मात्री है । कवीन्द्र रवीन्द्र के शब्दों में "सौन्दर्य मूर्ति ही मंगल की पूर्ण मूर्ति है और मंगलमूर्ति ही सौन्दर्य का मूल स्वरूप ।"[1] गुप्त जी भी इसी विचारधारा को स्वीकार करते हुए कहते हैं --

> सत्य सदा शिव होने पर भी
> विरुपाक्ष ही होता है ।
> और कल्पना का मन केवल
> सुन्दराक्ष ही होता है ।।

<u>सौन्दर्य बोध और साकेत</u>

सौन्दर्यप्रवण कलाकार ने उर्मिला, सीता माण्डवी जैसे नारी पात्रों तथा लक्ष्मण, राम, भरत जैसे पुरुष पात्रों के आन्तरिक और बाह्य सौन्दर्य का ऐसा समीकरण प्रस्तुत किया है कि बहिर्मुख और अन्तर्मुख सौन्दर्य उपकरण एकाकार हो गए हैं । सौन्दर्य को दो दृष्टियों से कवि ने अंकन किया है, एक ओर वह बहिर्मुखी हो लक्ष्मण-राम को मानव-कल्याण रत बनाता है तथा दूसरी ओर उर्मिला की उस भावुक भक्ति में प्रकट होता है, जो हमारी संस्कृति की अक्षय सम्पत्ति है[2]।

उर्मिला चौदह वर्ष की कठिन विरह अवधि में रूप-पयोधि के पूर्व पान के सहारे ही जीवित रहती है --"वह रूप पयोधि पी सकी, तब तो मैं आज जी सकी ।" सौन्दर्य, जीवन-कगारों में फुलसे प्राणों को अवलम्बन देता है । जीवन के पहले प्रभात में जब उर्मिला की आँख खुली तो सम्मुख दृष्टि का वैभव शुभ भावों की भेरी बजा रहा था । "शैसव जौवन दुहु मिलि गेल" की अवस्था में नेत्रों की अपांग तीक्ष्णता (खने खन नयन कोण अनुसरहीं) को "साकेत" में उतारा गया है --

---

१- साहित्य, पृ० ४४ मूल, रवीन्द्र, अनुवादक-- वंशीधर विद्यालंकार

२- गुप्त जी की काव्यधारा, पृ० १७-- गिरीश

तिरछी सी यह दृष्टि हो उठी
तकली सी सब दृष्टि हो चली ।

यहाँ वय: संधिकाल का शारीरिक और मानसिक संक्रान्ति का अंकन है ।

सौन्दर्य आकर्षण का अनिवार्य हेतु है । उर्मिला के सुमन स्फुट हाथ से गिर जाते हैं और मन पैरों पड़ा सा चला जाता है । पुष्पवाटिका का यह प्रसंग पाश्चात्य प्रथम दर्शन के प्रेम सा आभासित होता है जिसका निराकरण करते हुए कालिदास की उपनिषदात्मक विचारधारा का परिपोषक कवि कहता है कि यह जन्मान्तरीण सम्बन्ध होता है --

दृढ़ प्रत्यय के बिना कहाँ
यह आत्मार्पण दासता यहाँ
मधु को निज पत्र क्यों, बता
करती अर्पित पूर्व ही लता ।।[1]

'साकेत' के प्रारम्भिक अंश में इन्द्रधनुष की रंगीनियों से परिपूर्ण विनोद की प्रेम प्रसंगों की उद्भावना तथा भोगवादी ऊष्मा को वियोग में तपाकर अन्त में उसका योग में प्रत्याहार यही सिद्ध करता है कि कवि कालिदास का अनुवर्ती है । जैसा कि बाबू को लिखित एक पत्र में स्वयं कवि ने लिखा है -- 'साकेत में मैंने, कालिदास की प्रेरणा से उसी प्रेम की झलक दिखाने की चेष्टा की है, जो भोग से प्रारम्भ होकर, वियोग झेलता हुआ योग में परिणत हो जाता है'[2] । 'प्रेमियों के इस गीतातीत प्रेम का, जिसमें हार में भी परस्पर जीत है -- नाक के मोती का अधरकान्ति से दाड़िम बनने, 'स्वप्न निधि' और 'जागरण' में क्रमश: उर्मिला लक्ष्मण के नयन लगने आदि प्रसंगों में अंकन है । उर्मिला को जो केवल प्रेम और सौन्दर्य में

१- रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्पर्युत्सुकीभवति यत्सुखितोऽपि जन्तु
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि ॥
— अभिज्ञानशाकुन्तल, ५/२

२- राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० २०४ से उद्धृत

लीन होने के कारण जीवन और जगत की उपेक्षा भी भूले था, उपयोगिता बनकर ही यह ज्ञात होता है --

> जाना मैंने इस उर में था, ज्वाला भी जलधार भी ।
> प्रिय ही नहीं यहाँ मैं भी था, और एक संसार भी ।

यही कारण है कि आदर्श सर्ग में वर्षा की बाढ़ बह जाने के बाद यदि लक्ष्मण अपने को 'स्वामी' पद का उचित अधिकारी मानते हैं तो प्रथम सर्ग में देवी उर्मिला स्वयं को 'दासी' कहकर भाव भक्ति का उत्तम उदाहरण प्रस्तुत करता है ।

सामन्तीय संस्कृति में पंकिल प्रेम-धारा को प्राकृत रूप में आधुनिक युग में अधिष्ठित किया गया है । 'साकेत' में केवल नायिका के आँसू और विरहजन्य पीड़ा ही नहीं है, यहाँ केवल चकोर ही व्याकुल नहीं है, चाँद भी आकुल है । उभयपक्षीय प्रेम की स्थापना की गई है --

> "दोनों ओर प्रेम पलता है
> सखि पतंग भी जलता है हा ! दीपक भी जलता है ।"

प्रेम और सौन्दर्य के कोमल लोक को त्याग कर यथार्थ भूमि पर संचरण दुष्कर कार्य है । परन्तु सौन्दर्यमयी प्रेमिल झंकार टंकार के आश्रय पर ही जीता है । यथार्थ और सौन्दर्य अविरोधी समवाय है । उपयोगितावादी दृष्टि से यह प्रश्न करना कि 'झंकार' और 'टंकार' में कौन श्रेयष्कर है -- निरर्थक है ।

> सुभे धन्य झंकार है धाम में
> रहे किन्तु टंकार संग्राम में ।
> इसी हेतु है जन्म टंकार का
> न टूटे कभी तार झंकार का !!

रीतिकालीन श्रृंगारिकता के अतिरेक की प्रतिक्रिया में द्विवेदीकालीन आदर्शात्मकता ने नारी को समाजसेविका तथा राष्ट्रसेविका के रूप में उसके आन्तरिक सौन्दर्य को तो वाणी दी किन्तु अत्यधिक मर्यादा के कारण उसका बाह्य सौन्दर्य, उसके हृदय में जन्म लेने वाली करुणा, प्रेम, वेदना आदि भावुक वृत्तियाँ प्रायः विलुप्त हो गयीं । समन्वयवादी कलाकार ने उर्मिला, सीता, माण्डवी आदि के सजीव रूप-चित्रण द्वारा इस रिक्ति को भरा --

देखती है जब जिधर यह सुन्दरी,
दमकती है दामिनी सी द्युति भरी।
हैं करों में भूरि भूरि भलाइयाँ,
लचक जाती अन्यथा न कलाइयाँ?
चूड़ियों के अर्थ जो हैं मणिमयी,
अंग की ही कान्ति कुन्दन बन गई।
एक ओर विशाल दर्पण है लगा,
पार्श्व से प्रतिबिम्ब जिसमें है जगा।
मंदिरस्था कौन यह देवी भला?
किस कृति के अर्थ है इसकी कला?
स्वर्ग का यह सुमन धरती पर खिला
नाम इसका उचित ही है उर्मिला।

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी के अनुसार इन पंक्तियों में 'कामिनी की दृष्टि में दामिनी की दमक', 'लचकती हुई कलाइयाँ', 'शरीर कान्ति में मणियों का प्रतिबिम्बित होना' किसी कृति के लिए इस कृति का उपयोग आदि ऐसी अभिव्यंजनाएं हैं, जिनमें तटस्थ सौन्दर्य रेखाओं के स्थान पर औपचारिक अतिरंजित चित्रण की प्रवृत्ति है। शारीरिक पक्ष को इतनी प्रमुखता दी गयी है कि सौन्दर्य का मनोवैज्ञानिक प्रभाव गौण हो गया है[१]। किन्तु 'शरीर माद्यं खलु धर्म साधनम्' की अनुयायी तथा उदार और उत्सवप्रिय भारतीय संस्कृति बाह्य तत्व को समाहृत करती हुई आत्मसाधना की उपदेष्टा है। गुप्त जी गार्हस्थ्य जीवन के अनुगायक हैं। 'गृहस्थ जीवन का प्राण है दाम्पत्य। कवि यह मान कर चला है कि मानव

१- आधुनिक साहित्य,पृ० ५१ -- नन्ददुलारे वाजपेयी

जीवन में आत्मा का निदर्शक शरीर है । उसका उपेक्षा करना या तो दम्भ है या प्रकृति विरोध[1] । यही कारण है कि उर्मिला के प्रगल्भ सौन्दर्य का, नाना आंगिक भंगिमाओं का पर्यवसान `योग` में होता है । विरहिणी उर्मिला की समस्त चित्तवृत्तियों का निरोध (योगश्चचित्तवृत्ति निरोध:) हो जाता है ।

भारतीय संस्कृति में गृहस्थाश्रम से सन्यास को श्रेष्ठ मानने का जो मत चल पड़ा था उसके विरुद्ध पुनर्जागरण काल में आन्दोलन हुआ । गुप्त जी ने अपने काव्यों द्वारा निवृत्तिप्रधान धारा के विरोध में पारिवारिक जीवन के बीच दाम्पत्य प्रेम की मधुर छवियों को चित्रित किया है । उर्मिला और लक्ष्मण, सीता और राम, माण्डवी और भरत के दाम्पत्य जीवन के विनोद रंग रंगे चित्रों का `साकेत` में प्राधान्य , यही सिद्ध करता है कि कवि सौन्दर्य और प्रेम का गायक है । इन प्रसंगों को लेकर यह आक्षेप करना कि कवि भारतीय संस्कृति की परम्परागत धारा से उच्छिन्न पाश्चात्य सभ्यता की चकाचौंध में मग्न आधुनिक पति-पत्नी के रूप में नायक-नायिका को अधिष्ठित करना चाहता है -- असंगत है । `साकेत` का कवि परिवार का कवि है । आधुनिक युग में तुलसी की भक्ति को घर आंगन तक ले आने का विपुल श्रेय कवि को है । नवीन के मोह में मर्यादा को तिलांजलि देने में कवि का विश्वास नहीं है । सीता का सौन्दर्य अंकन करते समय--

पास खड़ी थी जनक सुता
गोट जड़ाऊँ घूँघट की--
बिजली जलदोपम पट की-
परिधि बना था विधुमुख की --

कहकर कवि नख शिख की परम्परा का कितने संयत-सुन्दर रूप से निर्वाह करता है --

भाग सुहाग पदों में थे
अंचल बद्ध करों में थे ।

प्रेम और कर्तव्य के सनातन द्वन्द्व को कवि ने यह मानकर प्रस्तुत किया है कि द्वन्द्वों के बीच ही जीवन विकसित होता है । छाया सा अनुगमन करती सीता

१- साकेत एक अध्ययन, पृ० २४ -- नगेन्द्र

वन की कुटिया में मनभावन राजमहल की स्थापना करती है पर घर का सुख भुला नहीं भूलती[१]। उर्मिला उस शिखा की तरह है जिसका दिन चला गया हो। प्रतिदान में तरी को भ्रष्ट करने की कामना चिन्गारी मानस में पनप उठे तो झुक जाती है। स्वप्नावस्थिति में यदि 'आओ' कहता है तो तत्काल चैतन्य 'जाओ' कह उठता है। और वह अपने विकल प्राणों को समझाती है --

'रो मत फिर आयेगा कान्त

जैसे मेरे प्रिय प्रेमवन्त ।'

फलत: वेदना उसके प्राणों को कचोटने वाला उपादान नहीं, प्रत्युत वह तो ऐसी 'सजनी' है जो उसकी निरन्तर -मरणातुर- देह को पुष्ठा बनाती है --

वेदने तू भी भली बनी

पाई मैंने आज तुझी में अपनी चाह घनी ।

... सजग रहूं मैं साल हृदय में तू प्रिय -विशिख अनी ।

लक्ष्मण की तपोनिष्ठता में उर्मिला का अनुराग आड़े नहीं आता क्योंकि उसे यह विश्वास है कि उसकी अनुरागमयी साधना निष्फल नहीं जायगी[२]। उर्मिला का अनुराग लक्ष्मण के त्याग से किसी भी अंश में न्यून न दिखाने का कवि-उद्देश्य यह सिद्ध करता है कि जीवन का सौन्दर्य न तो कोरे त्याग में सन्निहित है और न एकान्तिक अनुराग में। त्याग और अनुराग अभिन्न हैं। अपनी रंगीन कल्पनाओं और स्वप्नों के मूल्य को उर्मिला का अनुराग त्याग में पाना चाहता है --

---

१- तु०की०

मैं पली पक्षिणी विपिन-कुंज-पिंजर की

आती है कोटर सदृश मुझे सुध घर की

मृदु तीक्ष्ण वेदना एक एक अन्तर की

बन जाती है कल गीति समय के स्वर की

कब उसे छेड़ यह कण्ठ यहाँ न अघाया।

मेरी कुटिया में राजभवन मन भाया। -- साकेत ८।२२४

++ कारागार स्वर्ण का भी क्यों न हो

अच्छा लगता है क्या वह बन्दी को ?

स्वर्ण के भी पींजड़े में पंछी सुखी होगा क्या

करता विहार है जो मुक्त कुंज-वन में ? -- मेघनाद, पृ०२७३

२- सच्चा जहाँ अनुराग होता

वहाँ स्वयं ही वह त्याग होता --चन्द्रहास, पृ०१२८--मैथिलीशरण गुप्त

कहा उर्मिला ने हे मन !
तू प्रिय पथ का विघ्न न बन
आज स्वार्थ है त्याग भरा
हो अनुराग विराग भरा।
तू विकार से पूर्ण न हो
शोक भार से पूर्ण न हो ।

'गुप्त जी के रूपचित्रों की अपेक्षा उनके पात्रों के मुद्राचित्र, वस्तु, भाव अथवा व्यापार चित्र-- आन्तरिक सौन्दर्य का यथोचित उद्घाटन कर सके । इनके द्वारा नाटकीय रोचकता का विनियोग हुआ है और मनोभावों को मूर्तरूप दिया जा सका है ।'[1] कवि की कुशल तूलिका में मानो काव्य-फलक पर एक झटके से मुद्राओं, भावावेशों और स्थितियों को उतार दिया है । 'आँचल पट की कटि में खोंस कर कछोटा मारे सीता माता अनोखा 'ध्वज' मारती है । 'भक्ति सा प्रत्यक्ष झूलना' उर्मिला की प्रणाम मुद्रा को कवि ने इन शब्दों के सहारे निपुणता पूर्वक उतारा है --

झुकता था भूमितल को अर्द्ध विधु सा भाल ।
बिछ रहे थे प्रेम के दृगजाल बनकर बाल ।।
छत्र सा सिर पर उठा था प्राण पति का हाथ ।
हो रही थी प्रकृति अपने आप पूर्ण सनाथ ।।

जीवनदृष्टि और साकेत

जीवन की व्यापक अनुभूतियों, राष्ट्रव्यापी हलचलों, गार्हस्थ्य जीवन की आधुनिक समस्याओं, भारतीय संस्कृति की परम्पराओं, युग की निरन्तर परिवर्तनशील विचार सरणियों, काव्य शैलियों के नूतन प्रयोग आदि को एकाकार करने के लिए 'साकेत' की रचना हुई है । सांस्कृतिक परम्पराओं में आस्थावान् महाकवि ने युगधर्म की उपेक्षा नहीं की है । यही कारण है कि उनके समृद्ध जीवन विवेक में उनको '[illegible]' के माध्यम से विकसित जीवन दृष्टि में वर्तमान के

1- मैथिलीशरण गुप्त व्यक्ति और काव्य, पृ० ४७१--डा० कमलकान्त पाठक

निर्माण को अतीत से प्रेरणा ग्रहण कर भविष्य की आयोजना के लिए पर्याप्त अवकाश है[1] "पंथ बने निर्माण अपनी कथा कहे, परन्तु उदय सम्मुख रहे।" गुप्त जी के काव्य मानस और प्रेरणा का स्रोत चतुर्विध था। अतीत स्मृति और कला का प्रेम उसका एक अंश रहा। वर्तमान और उसी के साथ जुड़ा हुआ प्रवृत्तिवाद या कवि के शब्दों में गेह गान्धवाद तथा वर्तमान युग के प्रति आस्था और राष्ट्रीयता क्रमश: तीसरे दूसरे अंश थे। मानव की गरिमा का अनुमान या महिमा के प्रति आस्था और आशा एवं उसी आधार पर मानवतावाद या व्यष्टि का समष्टि में पर्यवसान, यह दृष्टिकोण उसका चौथा अंश है। इन चारों का जहां पर एक साथ सम्मिलन होता है, भगवान विष्णु के उस प्रभविष्णु चतुर्मुखी रूप का परिचायक गुप्त जी का काव्य है[2]।"

"प्रियप्रवास" के द्वारा महाकवि हरिऔध ने ईश्वर को मानवता दिखायी तो "साकेत" में मानव की ईश्वरता का निरूपण किया गया है। स्वयं राम के शब्दों में उनके अवतार ग्रहण करने का ध्येय मर्यादा का रक्षण तथा दीन आर्तों को अभयदान प्रदान करते हुए आर्यों का आदर्श बतलाना है --

सुख देने आया दु:ख झेलने आया।
मैं मनुष्यत्व का नाट्य खेलने आया
...... भव को नव वैभव व्याप्त कराने आया
नर को ईश्वरता प्राप्त कराने आया।
संदेश यहां मैं नहीं स्वर्ग का लाया
इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया"।।

१- वर्तमान यह आयोजक
जिस भावी जीवन का।
कुछ अतीत संकेत मिलें तो
अधि लोम इस जन का।। -- द्वापर -- गुप्त

२- साप्ताहिक हिन्दुस्तान, २५ अप्रैल ६५, गुप्त विशेषांक पृ०६५--डा० वासुदेवशरण अग्रवाल

कवि की आस्तिकता अंधानुयायी नहीं है । मानवता को सर्वोपरि महत्ता देने वाला धरती का कवि, अवतारवाद का मूल इस पुण्यभूमि धरा का आकर्षण मानता है[१]। यदि दशरथी राम मानव मात्र में परिव्याप्त नहीं हैं तो ऐसे असाधारण ईश्वरत्व को अस्वीकार कर अनीश्वरवादिता का आरोप सहन करने में गुप्त जी को भिझक नहीं । आधुनिककाल में आध्यात्मिकता का विकसित रूप दिखाने में निम्नलिखित पंक्तियाँ सक्षम हैं, जिनमें मानवता का जयगान है --

राम तुम मानव हो ? ईश्वर नहीं हो क्या ।
विश्व में रमे हुए नहीं सभी कहीं हो क्या ? ।।
तब मैं निरीश्वर हूँ, ईश्वर क्षमा करें ।
तुम न रमो तो मन तुममें रमा करे ।।

इस दृष्टि से साकेत का मानवतावादी दर्शन आधुनिक युग के विकसित चिन्तन का परिचायक है । बिखरती हुई आस्थाओं से लुप्त होती आध्यात्मिकता के पुनर्स्थापनार्थ कवि ने मानवतावादी भूमिका में सीता-राम की गाथा गाई है । राजनैतिक, आर्थिक शोषण के साथ अध्यात्म और नीति के ह्रासकाल में युगानुरूप ढलने और युगप्रवर्तन की दोहरी क्षमता सम्पन्न कवि ने मानवादर्श का उद्घाटन पाँच रूपों में का --

"१ करुणा की अन्तर्धारा के रूप में
२ नारी चरित्र की गौरव व्यंजना के रूप में
३ मानव के चारित्रिक उत्कर्ष के रूप में
४ देवों की श्रेष्ठता की प्रतिक्रिया के रूप में मानव के त्याग और पुरुषार्थ का जयगान है और देवों की भोगवृत्ति और स्थिरशीलता का सीमा निर्देश ।
५ वर्तमान में आस्था और भविष्य में आशा तथा प्रयत्न में उत्साह और फल में संतोष रखने वाली सात्विक जीवन, विधि के रूप में जिसका लक्ष्य पूर्णत्व प्राप्ति है, परमतत्व की उपलब्धि है[२]।"

१- [illegible] का . [illegible] ।म का ऐसा [illegible]
अवतरित हुआ मैं, आप उच्च फल पैसा ।।-- साकेत, पृ०२३४

प्रसिद्ध मानवतावादी लेखक विक्टर ह्यूगो के प्रसिद्ध उपन्यास 'लामिज़राब्ज़' के समान यह मानते हुए कि परिस्थिति और पर्यावरण अपराधों का निर्माण करते हैं[1], गुप्त जी ने कैकेयी के कलंक का प्रक्षालन किया है । उर्मिला केवल उपेक्षिता थी पर कैकेयी अभिशिप्ता थी । कालिदास, वाल्मीकि, तुलसी द्वारा भी जो कलंक न धुल सका उसे सदा सदा के लिए परिमार्जित कर गुप्त जी ने हिन्दी साहित्य को 'साकेत' के रूप में एक अमूल्य निधि भेंट की है और कैकेयी के चरित्र के कारुण्य को एक नयी गतिविधि दी है[2] । कैकेयी एक मानव चरित्र है जिसमें अच्छाई बुराई का स्वाभाविक संगम होता है । कैकेयी का अनुताप --

युग युग तक चलती रहे कठोर कहानी
रघुकुल में भी थी एक अभागी रानी
निज जन्म जन्म में सुने जीव यह मेरा
धिक्कार उसे था महा स्वार्थ ने घेरा

उसके समस्त अपराधों का प्रक्षालन कर देता है । मन्थरा दासी क्या कर सकती थी जब कि उसका मन ही निज विश्वासी न रह सका । मानवतावादी विचारक, चाहे टाल्सटाय हों या गांधी, यह मानते हैं कि पापी के प्रति सबसे बड़ा दण्ड दया है जो ग्लानि की ज्वाला में समस्त कल्मष को दूर कर देता है । आत्मग्लानि में तपी कैकेयी यह कह सकती है --

अब कहें सभी वे पाश नाश के प्रेरे ।
मैं वही कैकेयी, वही राम तुम मेरे ।।

नारकीय जीवन व्यतीत करने वाली उपेक्षित नारी को सहज मान्यता का धरातल प्रदान कराने के लिए नवयुग के साथ ही आन्दोलनों की श्रृंखला प्रारम्भ होती है । नारी जाति की गरिमा के गायक गुप्त जी ने अपनी विविध रचनाओं के माध्यम से इस नवोत्थानवादी विचारधारा को रचनात्मक स्तर पर प्रतिष्ठित किया । 'एक नहीं दो दो मात्राएँ नर से भारी नारी' मानते हुए उन्होंने विधृता, यशोधरा, उर्मिला आदि को समादृत किया । विधाता की कमनीय

1- "The world is full of darkness and sin is committed. But the guilty persons not who commits the sin but who produces the darkness"

२- हिन्दी साहित्य, पृ० ७७ -- हजारी प्रसाद द्विवेदी

कलाकृति के रूप में नारी भूमि का सहज आकर्षण है --

> 'भनि के कोटर, गुहा, गिरि गर्त भी
> शून्यता नम की, सलिल-आवर्त की
> प्रेयसी, किसके सहज-संसर्ग से
> दीखते हैं प्राणियों को स्वर्ग से ?'

'जहाँ प्रकाश वहाँ छाया' सा अभिन्न पति-पत्नी सम्बन्ध विवाह को समझौता मात्र मानने वाली इतर संस्कृतियों में नहीं मिल सकता । कोमलांगिनी होने के नाते विटप का आश्रय लेकर फैलने वाली लता के समान नारी सदा से सहारा ख खोजती है --'

> 'खोजती हैं किन्तु आश्रय हम ।
> आन्तरिक सुख-दुःख हम जिसमें धरें
> और निज भव भार यों हल्का करें ।।

यही कारण है कि जीवन मरण की संगिनी होने के नाते राम द्वारा वर्णित वन के कष्टों से भयातुर न होकर सीता यही कहती हैं कि ' यदि तुम्हें सुख होगा तो मुझे भी होगा । क्या सुख में घेरना और संकट में मुंह फेरना मेरे लिए शोभास्पद है ?' पति ही पत्नी की गति है ।' अतः --

> ' नाथ न भय दो तुम हमको
> जीत चुकी हैं हम मन को ।।
> सतियों की पति-संग कहीं ।
> अगम गहन क्या दहन नहीं ।।

तादात्म्यीकरण का भारतीय दाम्पत्य जैसा उदाहरण अन्यत्र अप्राप्य है । पति को आत्मदान कर अपने स्वात्म-सन्ताप की अनुभूति को भुला देने वाली 'वैदेही की जाति सदैव विदेहिनी' ही है । जिस प्रकार कपोत अपने डैनों से अपने घाव छिपा लेता है उसी प्रकार प्रेममयी नारी अपनी व्यथा के होंठों पर अंगुलि धर प्रिय-सुख की मनौती मनाती है --' यही दुःखिनी सीता का सुख सुखी रहें उसके प्रिय राम ।'

बदलते हुए युग के साथ मनुस्मृति की श्रृंखला में आबद्ध नारी का सुप्त गौरव जागा है और उसके जगाने वालों में गुप्त जी का नाम सर्वोपरि है[1]। कौमारावस्था में पिता, यौवनावस्था में पति तथा वृद्धावस्था में पुत्र के आरक्षण में सिमटा नारी व्यक्तित्व खुली धरती पर दो डग चलने की कल्पना भी नहीं कर सकता था। खोया गौरव पाकर नारी को लगा कि वह अब नहीं पालना, अब भाषण भार से प्राण पिसते हैं[2]। बन्धनों में अनवरत रहने के कारण बहुत दिनों से पिंजर-बद्ध पक्षी के समान नारी व्यक्तित्व के टूटे उन झोंकों में बहु परिश्रम अपेक्षित था। "प्रवाह बहे किन्तु मर्यादा में रहे" -- ऐसा कह कर "फूलों को चुन रंग चुवाने वाली" स्वैरिणी लता के प्रति महाकवि को अमर्ष है। नारी समानता और स्वतन्त्रता के प्रशंसा होते हुए भी कवि पश्चिमी जगत् में प्रचलित उच्छृंखलता का पोषक नहीं है। घनश्याम तनु धारे राम के साथ पाप पुंज पर बिजली सी टूट पड़ने को आतुर सीता[3], दशरथ के संग असुर-समर में जाने वाली कैकेयी को नवयुग के परिप्रेक्ष्य में ही धारणा दी गयी है। परम्परा से चले आते अधिकार को आधुनिका पाना चाहती है।" राम के साथ यदि जानकी जा सकती है तो हम कौन सी अनोखी हैं जो पुरुष का वेश धारण कर स्वतन्त्रता संग्राम में भाग नहीं ले सकती?" -- यह प्रश्न उठा।

वेदविहित निज शपथों में गौरवान्वित सूत्र को मनमाना स्वार्थी पुरुष एक झटके में तोड़ डाले-- पत्नीत्व कराह उठता है। उसे लगा कि षट्पदी ही उससे अधिक भाग्यवान है जो सरसिज-युक्त तो है, जहां उर्मिला को सप्तपदी देकर भी जड़ता मिली है। परम्परा के प्रस्तोता कवि ने खोटे सिक्कों की खनक को अच्छी तरह बजाकर समाज के सामने रखा --

---

१- राम के शब्दों में -- तूने तो सहधर्मचारिणी के भी ऊपर
धर्मस्थापन किया, भाग्यशालिनी, इस भू पर

२- साकेत, १२।५५६

३- गु०की०   मह अधरों में, विष रखती हैं आँखों में
इस, बल है क्या नहीं इन मृदु बाहों में ? + +
बिजली सी टूट पड़े वैरियों के बीच में
- वैतनाद वध, पृ०२३०

साधो उसको और मनाओ युक्ति से ।
सखे, समन्वय करो भक्ति का मुक्ति से ।।

लोक चेतना को धुरी पर धारण करने वाला धर्म लोक रंजक होता है[1]। धार्मिकता का तात्पर्य लोककल्याण है । अवतार का अर्थ उसी महद् भावना से मानव का अवतरण है ~~। अवतार का अर्थ~~ जिसके लिए हम कह सकें --

लेकर उच्च हृदय अपना
नहीं हिमालय भी जितना
तुमने मानव जन्म लिया
धरणी तल को धन्य किया

मनुष्य की पशुता को मिटा कर मानवत्व और फिर शिवत्व को और पुरस्कृत करने वाली भारतीय संस्कृति 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की अनुयायी है । प्रवृत्ति और निवृत्ति का सामंजस्य करने वाले उस अध्यात्म का विवेचन 'साकेत' की उपलब्धि है जिसकी बृहद् सम्भावना में ऐहिक और पारलौकिक परिधियाँ एक हो जाती हैं --

अपनों के ही नहीं परों के प्रति भी धार्मिक
कृती प्रवृत्ति निवृत्ति-मार्ग-मर्यादा धार्मिक
राजा होकर गृही गृही लेकर सन्यासी
प्रकट हुए आदर्श रूप घट घट के वासी

भगवद्-भक्ति का तात्पर्य निर्वाण प्राप्ति के लिए की जाने वाली साधना नहीं है । मुक्ति का तात्पर्य परमात्मा से सायुज्य नहीं अपितु विश्व-मानव के साथ सायुज्य है । जीवन को आराध्य के गुण कर्म स्वभावानुसार व्यतीत करना ही उसके प्रति की गई सच्ची उपासना है, ऐसी आधुनिक भक्त गुप्त जी की मान्यता है । ~~अतः~~ भक्ति के ~~क~~ अन्तर्गत 'स्मरण' कर्म में परिणत होकर विकास

1- [illegible] ।
[illegible] ।।
--[illegible]

की परम्परा में योगदान देता हुआ, प्राणिमात्र की संवेदना में संलग्न होकर ही सच्ची भक्ति का अंग कहलाता है । आधुनिक युग में भक्ति का तात्पर्य ~~समस्त~~ एकान्त साधना से नहीं है । सच्चा भक्त भगवान का स्वरूप होकर औरों का भी उद्धारक बन जाता है[1]। भरत राम के ऐसे ही उपासकों की श्रेणी में गिने जा सकते हैं ।

आशावादिता कर्मप्रेरक होती है और निराशावादिता निष्क्रियता की जननी । मानवीय मनोवृत्तियों के परिष्कार में आशा और विश्वास का विपुल योग होता है । आस्था का उदय भी ऐसी ही मनःस्थिति में सम्भव है । वन-गमन-प्रसंग में उर्मिला और सीता का संवाद 'साकेत' में विश्वासी सहज आस्तिकता के सहारे संघर्ष से निकल जाने की क्षमता को घोतित करता है ।--

बहन धैर्य का अवसर है
वह बोली --'अब ईश्वर है'
सीता बोली कि 'हां बहन
सभी कहीं गृह हो कि गहन ।'

नैराश्य मग्न दिग्भ्रमित चेतना को आशा प्रदत्त यह संदेश 'रात चाहे जितनी हो उसके पीछे एक प्रभात' महान् सम्बल देता है । कालिदास के समान गुप्त जी यह मानते हैं कि आशा के क्षीण तन्तु के सहारे प्राण टिके रहते हैं । राम के राज्याभिषेक का उल्लास रोदन में डूबा है । कौशल्या को लगता है कि वे मरने पर भी शान्ति नहीं पायेंगी । ऐसी स्थिति में सुमित्रा उन्हें समझाती हैं --

जीजी! विकल न हो
आशा हमें जिलावेगी
अवधि अवश्य मिलावेगी ।।

नित नूतन जन्मते अनिश्चय के कारण हमारे घरौंदों का भाग्य ढह जाता है, हरे भरे खेतों पर उपल वृष्टि हो जाती है[2]। जनमन-कल्पना नित्य नये चित्र बनाती है पर चंचला उसमें पल भर भी सुख से नहीं बैठ पाती[3]। ऐसी स्थिति

1- जो नाममात्र भी स्मरण मदीय करेंगे
   वे भी [illegible] बिना प्रयास तरेंगे
   पर जो मेरा गुण, कर्म स्वभाव धरेंगे
   वे औरों को भी तार, पार उतरेंगे ।।--- साकेत,पृ०२३४

2- साकेत ३।८६

3- नित्य जन-मन-कल्पना
   नया चित्र बनाती है
   किन्तु चंचला उसमें सुख से
   पल भर बैठ न पाती है ।"

में हम संसार को असार मान कर रो देते हैं --

व्यर्थ आशा व्यर्थ यह संसार

रो दिया, हो मौन राजकुमार

पर साधना के समस्त संताप, कष्ट सिद्धि मिल जाने पर स्मृति विनोद मात्र रह जाते हैं । नंदी ग्राम में आशा और संसार की व्यर्थता से कातर राजकुमार भरत की साधना के समस्त दुःख, सारी तपन राम-आगमन की रिमझिम में धुल जाएगी--

यह विषाद भी प्रिये अन्त में

स्मृति विनोद बन जावेगा

दूर नहीं अब अपना दिन भी

आने को है आवेगा ।

भाग्यवाद का मूलमंत्र है -- "ईश के इंगित के अनुसार हुआ करते हैं सब व्यापार ।" परन्तु एक परोक्ष सत्ता को समस्त जागतिक क्रिया-व्यापारों का सूत्राधार मानने का यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि मानवीय उद्यम और कर्मठता निरर्थक हैं । "सभी कुछ यदि भाग्य का योग है, तो भाग्य भी पूर्व कर्म का योग है ।" अर्थात् कर्म श्रृंखला ही भाग्य का निर्माण करती है । अस्तु नामभेद की दृष्टि में रखकर हम कह सकते हैं --" लक्ष्मण का उद्योग, भाग्य है राम का ।" फलेच्छा से विरत कर्मयोग ही भारतीय संस्कृति का काम्य है । भाग्य में आस्था रखने का तात्पर्य कर्म से बहिर्मुख होना नहीं है । यही कारण है कि 'साकेत' में --

"समझ लो दैवकी इच्छा यही है

करे जो कुछ कि वह होता वही है ।"

के साथ --" मन: शासक बनो तुम हा न ठानो" का संदेश दिया गया है ।

पापपुण्य विषयक धारणा जन्मजन्मान्तर के साथ बहुत गहरी तरह से सम्पृक्त है । पुनर्जन्म न मानने वाला चार्वाक दर्शन यदि आजन्म ऋण-प्राप्त घृत पान करने का उपदेश दे देता है तो जन्म मरण की अटूट श्रृंखला मानने वाला "जातस्य ही ध्रुवोमृत्युर्ध्रुवम्जन्ममृतस्य च" का -- मानने वाला दर्शन, पाप और पुण्य के प्रति अधिक जागरूक पाया जाता है । कर्म केवल क्रियमाण ही नहीं होते, प्रारब्ध और संचित कर्म का फल भी हमें अनेक जन्म तक भोगना होता है । राम मेघनाद से कहते हैं कि रावण ने अपना मानवजन्म जैसे बिगाड़ा है उसको भी वैसा पैतृक रोग होगा ....--" जन्मान्तर के लिये बाधक वो पातक है । वह अपना ही नहीं

वंश का भी घोतक है ।"

पश्चिमी दर्शन में भौतिक वादी दृष्टि के कारण संघर्ष का अधिक प्रसार है । भारतीय संस्कृति आत्मा की अनश्वरता में विश्वासी होने के कारण पुनर्जन्म को मान्यता देती है । "और मरण ? वह नया जन्म है पुरातनों का ।" इस प्रकार धर्म में पाप पुण्य की भावना समाहित होने के कारण यदि एक ओर हमारा जीवन उदात्त और समुन्नत बनने में सक्षम हुआ तो कालान्तर में विकृत अंधानुकरण के कारण कर्मठता का ह्रास हो गया । पुनर्जागरण काल में छुआछूत, पाप पुण्य के आवर्जन में अवरुद्ध भारतीय-मानस को जगाने का प्रयास किया गया । पुरातन के महान अनुयायी, नवीन के अनन्य प्रस्तोता महाकवि गुप्त जी ने हमें यह सोचने को विवश किया कि धर्म यदि छलता है तो भी क्या हम दुर्बल बने रहें ।

"दुर्बल हैं हम क्या ।
छले धर्म ही हमें हमारा ।
तो है यही भला कम क्या ।"

गति और परिवर्तन ही संसार का मूल है । जड़ता चैतन्य के लिए शोभास्पद नहीं । नाना विघ्न-बाधाओं के बीच झुकना क्या अपने पौरुष के अस्तित्व को विस्मृत कर नियति के महार्णव में स्वयं को अबाध बहने दें ? ऐसा ही प्रश्न भारतीय स्वातन्त्र्य आन्दोलन ने अनेक व्यक्तियों के सामने प्रस्तुत किया । परतन्त्रता को दुर्दैवजन्य मानकर उसके विनाश के लिए तैयार होने के लिए राष्ट्र के नेताओं ने आह्वान किया । भारतीय मानस में जो ठहराव आ गया था, उसके स्थान पर जो गत्यात्मकता लाने के लिए प्रयत्न किया[1] जिससे देशप्रेमी वीर यह कह सकें --

---

१- अब उठो हे वत्स, वीरवकार
बैठे हैं वीर क्या थक हार
— साकेत, ७।२१०

तथा

हार बैठे जीवन का दाँव
जीतते जिसको मर कर वीर । — कामायनी

इस रुकें क्यों चल रहा है नीरें
गति न बिगड़े दे नियति माँ और
विघ्न तो है मार्ग के कुश धोरें
फस न जाये उर हृदय में फाँसें ।।

मातृभूमि के प्रति "पृथ्वी माता है मैं उसका पुत्र हूँ" की भावना जगाये बिना स्वराज्य प्राप्ति की कल्पना भी नहीं की जा सकती थी । स्वदेश प्रेम का उत्कट भावना का दर्शन उस समय होता है जब श्रीराम साकेत की सीमा पार कर विदेश-गमन को प्रस्तुत है । यहां हमें अथर्ववेद "पृथ्वी-सूक्त" की सी प्रगाढ़ भक्ति का परिचय मिलता है --

जाते हैं हम किन्तु समय पर आयेंगे ।
आकर्षक तब तुझे और भी पायेंगे ।।
उड़े पक्षिकुल दूर दूर आकाश में ।
तदपि [illegible] बंधा [illegible] गृह पाश में ।।

\+ \+ \+

हो जाऊं मैं लाख बड़ा नर लोक में ।
शिशु ही हूँ तुझ मातृभूमि की गोद में ।

राम अपने को जन्मभूमि का सुमन मानते हैं । "भले कहीं कुछ सरसें, कहीं भी बहु बरसें पर जलदअयोध्या के ही हैं ।"

नेयं [illegible] लंका रोचते मम लक्ष्मण
जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी ।

अर्थात् जननी और जन्मभूमि का स्थान स्वर्ग से भी महान् है-- ऐसी उदात्त भावना के उन्मेष के बिना राष्ट्रीयता की [illegible] नहीं की जा सकती । स्वदेश प्रेमी अपनी प्रकृति के वस्तु वस्तु के प्रति ममत्व और लगाव का अनुभव करता है । किताबी आँकड़ों के आधार पर अपने को स्वदेशानुरागी मानने वालों के प्रति अमर्ष व्यक्त करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कहा है कि बिना

प्रकृति के प्रेम के स्वदेश प्रेम कैसा ? वनोपजायी भारतीय संस्कृति में "मुक्त गगन है मुक्त पवन वन है प्रभु का खुला भवन" माना जाता है । भारतीय मनीषा का पालन पोषण ऐसे ही वातावरण में हुआ है । कवि ने वनवासी राम के मुख से गंगा स्तुति कराई है तथा प्रशंसा की है --

रक्षा रहे भरतभूमि तुमसे सदा
हम सब की तुम सब एक अजावत सम्पदा ।

ऐसी परिस्थिति में यह आक्षेप कि भारतीय संस्कृति केवल धर्म अर्थ काम व मोक्ष लेकर चली है यहां संयम पुरुषार्थ स्वाधीनता का स्थान ही नहीं है-- सर्वथा भ्रामक है । देश प्रेम का उत्कृष्ट उदाहरण यहाँ मिलता है -- विष्णु पुराण में कहा गया है --

गायन्ति देवा: किल गीतकानि धन्यमन्तु ते भारतभूमि भागे ।
स्वर्गापवर्गास्पदमार्गभूते भवन्ति भूय: पुरुषा सुरत्वात् ।।
--(विष्णु पुराण १।३।२४)

अर्थात् जो लोग भारत भूमि में जन्मग्रहण करते हैं वे धन्य हैं । देवता लोग भी उनका कीर्तिमान करते हैं, क्योंकि भारत कर्मभूमि है -- यहाँ जन्म ग्रहण करके ही स्वर्ग या अपवर्ग प्राप्त किया जाता है । देवताओं को भी अपवर्ग की प्राप्ति के लिए इस भारत में ही आना पड़ेगा, अतएव भारतवासी स्वर्ग के देवताओं की अपेक्षा भी भाग्यशाली हैं । सभ्यता का प्रथम प्रभात हमारे ही गगन में हुआ था । भारत के तपोवन में ही पहली बार सोम-रव गूँजा था । समस्त विश्व को जगाने वाला सबको ज्ञान का आलोक बाँटने वाला यह भारत परवर्तीकाल में विदेशी [illegible] में बँधकर स्वयं अकिंचन स्वरूप हो गया । उसके सनातन मूल्यों, आदर्शों और चिरन्तन सत्यों के ऊपर [illegible] की मलिन काई जम गई । लार्ड मैकाले की कूटनीति के अनुरूप दी जाने वाली पाश्चात्य शिक्षा की चकाचौंध में भटके नव शिक्षित भारतीयों को मार्ग पर लाने की आवश्यकता थी । "साकेत" के कवि का इसी दिशा में प्रयास है

इतिहास को अपने काव्य का आधार बनाकर गुप्त जी ने उसकी नवीन व्याख्या प्रस्तुत की है । राजाराम मोहनराय, केशवचन्द्र सेन, रवीन्द्र, दयानन्द आदि के साथ [illegible] तथा धार्मिक पुनर्जागरण के [illegible] की विविध व्याख्यात्मक काव्यों द्वारा सांस्कृतिक और साहित्यिक धरातल पर उतारने का श्रेय गुप्त जी को है । अतीत के [illegible] पर [illegible] की [illegible] के स्वाधीन रूप में स्थापित करने वाली दृष्टि

के कारण कवि यदि एक ओर वर्णनाश्रम व्यवस्था, परम्परागत सामाजिक रीति नीति, आदर्श, सत्य प्रेम आदि में आस्था रखता है तो दूसरी ओर सती-प्रथा जैसी कुरीतियों का विरोधी और नारी स्वातन्त्र्य का पोषक भी है। परम्परा और प्रगति के इस सम्मिश्रण (न कि समन्वय) में परम्परा का आधिक्य तथा प्रगति की न्यूनता है। कवि की समष्टिमूलक जीवन दृष्टि वैज्ञानिक और विशिष्ट नहीं भावात्मक और सामान्य है। पर प्रगतिशील भारतीय जीवन प्रणाली में कवि की आस्था अटूट है।

गार्हस्थिक वातावरण 'साकेत' का प्राण-बिन्दु है। मर्यादावादी कवि गुप्त में माइकेल सा परम्परा विच्छिन्न नव आवेश यद्यपि नहीं है, परन्तु हमें यह स्वीकार करने में संकोच नहीं करना है कि अनुवादक के रूप में गुप्त जी की भावभूमिका बंगला के इस विद्रोही कवि से यथेष्ट प्रभावित हुई है। रामायण में राक्षस परिवार के कोमल भाव सम्पन्न अंश का उल्लेख नहीं है। रावण को पुत्र निधन के बाद की स्थिति, मंदोदरि का पुत्र रक्षार्थ शिवाराधन, मेघनाद और प्रमीला की परस्पर विदाई का दृश्य -- आदि गार्हस्थ्य कलकियों को इस रूप में माइकेल ने ही प्रस्तुत किया है। दाम्पत्य जीवन की बहुपदनीय अवतारणा मेघनाद और प्रमीला आख्यान में है। 'साकेत' में उर्मिला और लक्ष्मण के दाम्पत्य जीवन का सर्वांगीण अंकन है। यहाँ एक ओर यदि राम के वियोग में प्राण त्यागते दशरथ की कथा है तो दूसरी ओर पुत्र निधन से हत-प्राय: रावण के पितृत्व को भी वाणी दी गयी है। महाकेसरी रावण के कोमल अंश का प्रकटीकरण यही सिद्ध करता है कि उसके व्यक्तित्व में राक्षसी मनोवृत्तियों का प्राबान्य पारिवारि[illegible] कोमलता को समाप्त नहीं कर देता।

भारतवर्ष के सभी मर्यादाप्रेमी कवि परिवार के कवि रहे हैं। गुप्त [illegible] में यह परम्परा पूरी तरह उतरी है .... उनकी दृष्टि परलोक में नहीं इस लोक में निबद्ध है।[1] गेह गौरवाद उनके काव्य-मानस का अमिट स्रोत है। सफल सुखी संयुक्त परिवार के चित्र अंकन में कवि को असाधारण नैपुण्य प्राप्त है। डा० नगेन्द्र तो य[illegible]

१-- हिन्दी साहित्य,पृ० ४४३ -- डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी

धारणा करते हैं कि राष्ट्रीयता का युग होने के कारण लोग उनको राष्ट्रीयता को ले उड़े, अन्यथा गुप्त जी की अपनी प्रधान विशेषता गृहस्थ जीवन के सुख दुख की व्यंजना ही है।[1] वसुधा को कुटुम्ब मानने वाली भारतीय संस्कृति में पारिवारिक इकाइयों का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। सभी आश्रमों के मूल आधार गृहस्थाश्रम की महत्ता तथा गौरव को गुप्त जी ने पूरी तरह से उद्घाटित किया है। भारतीय संस्कृति के अनुरूप संयुक्त परिवार प्रथा में दृढ़ आस्था रखते हुए उन्होंने गार्हस्थिक कलह, द्वेष, स्वार्थ तथा परिवार विच्छिन्न प्रेम का एकान्तिकता जागृत करने वाले भावावेग को कोई स्थान नहीं दिया है। दशरथ के घर में परस्पर स्नेह और सौहार्द है। त्रिवेणी तुल्य तीन रानियाँ नित नूतन सुख प्रवाह बहाता हैं[2] -- धीराम्बर-कला से रामसीता, शौर्य -- ख्याति से लक्ष्मण उर्मिला, क्वां-क्रिया से भरत मांडवी तथा कीर्ति से शत्रुघ्न प्रिया को लिये इनका पारिवारिक जीवन अत्यन्त सफल था।[3] एक ओर कवि ने कैकेयी द्वारा राम-वनप्रेषण का मनोवैज्ञानिक समाधा प्रस्तुत किया है तो दूसरी ओर अभिमानहीन कौसल्या के द्वारा सौमनस्य भावना का चरम सीमा प्रस्तुत की है। माण्डवी, उर्मिला भरत के त्यागमय चरित्र में ईर्ष्या का लेश भी नहीं है। जननी, पत्नी और प्रेयसी तीनों ही रूपों में नारी गौरव की स्थापना कवि का ध्येय रहा है। राम तो आनर्शों की परिकल्पना की चरम सीमा हैं -- जो "कुसुम सम तात के कंटक चुनूं मैं" को व्यवहार में उतार कर दिखाते हैं। गोपा के मान तथा उर्मिला के विनोद का पुट देकर उन्होंने युग धर्म को यथोचित स्थान दिया है।

आधुनिक युग में उत्तरोत्तर बढ़ते हुए व्यष्टि और समष्टि के द्वन्द्व का निराकरण करने का प्रयास गुप्त जी ने किया है। वैयक्तिक चेतना के स्वार्थ त्याग

१- साकेत एक अध्ययन, पृ० १८ -- डा० नगेन्द्र

२- साकेत, पृ० ५२

३- साकेत, पृ० १८

तथा समष्टि द्वारा व्यक्ति स्वातन्त्र्य और विकास की सम्भावनायें -- ऐसी व्यवस्था में उनका विश्वास है । जहाँ तक प्रवाह बहने की बात है , वह अवश्य बहें किन्तु मर्यादा की कगारें टूटे नहीं[1] । वैयक्तिक चेतना ही समूह या सामाजिक स्थिति का निर्माण करती है । यदि आत्म प्राप्ति ही प्रत्येक व्यक्ति अपना ध्येय मान ले तो उच्छृंखलता और अराजकता उत्पन्न हो जाये । भारतीय संस्कृति को धार्मिक स्वातन्त्र्य सामाजिक स्वातन्त्र्य तथा व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य भी इष्ट है । किन्तु इनका उपयोग सत्यदर्शन के लिए ही ऐसा अनिवार्य माना गया है । चैतन्य पर आश्रित भारतीय संस्कृति अवरुद्धकारी बन्धनों में विश्वास नहीं करती । यहां बन्धन की स्थिति पोषक रूप में है[2] ।

मर्यादा में बंधकर नद जब किसी का उपकार करता है तो क्या उसे सन्तोष नहीं होता ? व्योम से पानी अपने लिए नहीं बरसता है । इसमें भी समष्टि के लिए व्यष्टि बलिदानी होना चाहिए -- यह "सर्वेभवन्तु सुखिन:" का आदर्श है --

> निज हेतु बरसाता नहीं व्योम भी पानी
>
> हम भी हों समष्टि के लिए व्यष्टि बलिदानी ।

इसी आदर्श के अनुयायी राम है --

> उभयविध सिद्ध होगा लोकरंजन ।
>
> जहां जन भय वहां मुनि-विप्र--विभंजन ।।
>
> मुझे भी आप ही बाहर विचरना ।
>
> धरा के धर्म भय को दूर करना ।।

वैयक्तिकता को उचित स्थान देने वाले महाकवि ने अनादृता उर्मिला की उपेक्षित इकाई को नायिका का पद प्रदान किया है । समन्वयवादी होने के नाते कवि की जीवन दृष्टि और संवेदना अन्तत: एवं मलत: समष्टिमूलक संचेतना से

1- जितने प्रवाह हैं, बहें, अवश्य बहें वे
   निज मर्यादा में किन्तु सदैव रहें वे ।। -- साकेत,पृ०२३०

2- संगच्छध्वं सं वदध्वं
   सं वो मनांसि जानता
   देवा भागं यथा पूर्वे
   संजानाना उ ासते । -- संज्ञानसूक्त ऋग्वेद १०।१६१

प्रभावित है -- एक तरह के विविध सुमनों से खिले, पोषण रहते परस्पर हैं मिले ।"
यहां "व्यक्ति" समाजापेक्ष है । निरभिमानी उर्मिला सद्गृहिणी की व्यथा में
साझीदार बनना चाहता है । डा० कमलाकान्त पाठक के इस निष्कर्ष में पूर्ण सत्य
है कि गुप्त जी ने व्यक्ति निरपेक्ष समाज या समाज निरपेक्ष व्यक्ति की कल्पना
नहीं की है ।[१]

व्यक्ति और समाज की सुविधार्थ वर्णाश्रम व्यवस्था का जन्म हुआ ।
ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र-- इन चार प्राकृतिक विभागों द्वारा समाज की
चार प्रधान इकाइयों की सृष्टि की गयी । गुण और कर्म के आधार पर गीता
द्वारा अनुमोदित चातुर्वर्ण्य को महात्मा गान्धी ने आधुनिक युग में मान्यता दी ।
पर साथ ही अहंकार को जन्म देने वाली वर्ण और जाति व्यवस्था को उन्होंने
'अधर्म' की संज्ञा दी । राम को चित्रकूट में मनाते हुए दीन कैकेयी को स्वाभिमान की सुध आती
है । क्षात्र तेज सम्पन्न क्षत्राणी कैकेयी की यह वाणी उन्हीं के अनुरूप है --

"मैं सहज मानिनी रही, सरल क्षत्राणि ।
इस कारण सीखी नहीं दैन्य यह वाणी ।।

"स्वे स्वे कर्मण्यभिरत संसिद्धिं लभते नरः" -- के समान कवि ने यह माना
है कि " करने में निज कर्तव्य कुयश भी यश है ।" आनुवंशिक व्यवसाय या वृत्ति पर
आश्रित वर्णों में विश्वास करने वाले गांधी जी ने यह माना है कि भिन्न भिन्न
वर्णों के लोगों का परस्पर विवाह और भोजन परस्पर हो सकता है । कालान्तर
में हिन्दुओं में ऐसी व असंख्य जातियों का निर्माण हुआ जिनमें अन्तर्जातीय विवाह
और सहभोजनादि विषयक अनावश्यक और हानि कारक प्रतिबन्ध थे[२] । "मांडवी,

---

१- मैथिलीशरण गुप्त : व्यक्ति और काव्य, पृ०१११-- डा० कमलाकान्त पाठक

२- "When Hindu were seized with inertia, abuse of Varna resulted in innumerable castes, with unnecessary and harmful restrictions as to inter marriage and inter-dining. The Varna has nothing to do with these restrictions. People of different Varna may inter-marry and interline" - Young India 4th Jany, 1921.

शूर्पनखा— मोह ' लेकर छूटता होती है कि पहले नाक़ा अब शूर्पनखा । ऐसा लगता है कि क किसा विद्याधरा का बारा आने वाला हो । भरत समझाते हैं कि उनमें भी आलोचनाएं हैं और हमारे यहां भी अंध है । अन्तर्विवाह का समर्थन करते हुए माण्डवी कहती है —

नाय क्यों नहीं, भी न सब गह
जुड़ता है उनसे सम्बन्ध

रूढ़ि जर्जरित भारतीय समाज के उद्धारक होने के नाते राजाराम मोहन राय का नाम इस सन्दर्भ में सबसे पहले लिया जाता है । भारतीय नारी के आत्मोत्सर्ग और आत्म समर्पण की पराकाष्ठा के नाम पर प्रचलित सती प्रथा को कानूनन बन्द करने का प्रयास १८१६ ई० में राजाराम मोहन राय ने किया । इस आत्महत्या के स्थान पर आत्म सहन को महत्ता प्रदान की गयी —

सहन कर जीना कठिन है देवि
सहज मरना एक दिन है देवि

\+ \+ \+

सह मरण के धर्म से भी ज्येष्ठ
वाद्ध मरण स्वामि मरण है श्रेष्ठ

जीते जी सती होना इस व्यक्ति को अग्निमय शुचिता प्रदान करता है, इस दृष्टि से सती प्रथा कबीर के 'जीवन मृतक कौ अंग' की छायी है । जब इस प्रतीक का अभिधेयार्थ ही प्रचलन — शेष रह गया तो पुनर्जागरण काल में युगानुकूल व्याख्या और सन्दर्भ देने की आवश्यकता महसूस हुई जिसे साहित्य के माध्यम से गुप्त जी ने अभिव्यक्ति प्रदान की ।

भारत कृषि प्रधान देश है । परवर्ती औद्योगिक विकास के साथ नगरों के आकर्षण में हमने यंत्र के सामने मानव की उपेक्षा की। कृषक के खोये मान-सम्मान को वापिस लाने का प्रयास करते हुए कवीन्द्र रवीन्द्र ने कहा —" यदि तुम्हें ईश्वर की खोज करनी है तो वहां जाना होगा जहां जेठ की दोपहरी में कृषक एड़ी चोटी का पसीना एक कर रहा है ।" गांधी जी ने कहा कि बिना ग्राम स्वराज्य की ओर जाये सच्चा स्वराज्य नहीं मिल सकता —

हम राज्य लिये मरते हैं

सच्चा राज्य परन्तु हमारे कर्षक ही करते हैं

उत्सव और पर्वों के लिए औद्योगिक जीवन में कोई स्थान शेष न रह गया । उत्साह और उमंग का अंश निकल जाने के कारण निर्जीव हुए जीवन को अनुप्राणित करने के लिए पुन: गांवों की ओर जाने की आवश्यकता को आधुनिक युग के सभी विचारकों ने महसूस किया । श्रम की महत्ता और स्वावलम्बन की स्थापना के लिए कवि ने सीता के चरित्र को नये ढंग से मोड़ा है । वन में उनका गार्हस्थ्य जमता है, वे सीताफल आदि की क्यारी सींचती हैं तकली कातती हैं ।

पर पुरातन की पीठिका पर नवीनता को अंकित करते हुए 'साकेत' में सविनय अवज्ञा आन्दोलन की भी झलक प्रस्तुत की गयी है । राम वन गमन के लिए तैयार हैं, किसी भी प्रकार उन्हें रोक पाने में प्रजा असमर्थ होकर मार्ग में लेटकर मद्र अवज्ञा, विनत विद्रोह का प्रयोग करती है । सोने की लंकापुरी लूटने की बात सुनकर लक्ष्मण पत्नी उर्मिला का वीरोचित आर्य स्मरण योग, सन्देश गांधी युग का प्रभाव है । 'धान्य और अन्न से फल और फूल से हमारे खेत और उपवन भरपूर हैं देव दुर्लभ पुनीत भारतभूमि है । यहाँ कौन से धन की कमी है ? आवश्यक यही है कि हममें इतनी जागरूकता रहे कि चन्द्र [illegible] भाल झुके नहीं और गंगा यमुना का पानी उतरे नहीं ।' पूरे अवनि तल को आर्य अर्थात् सुसंस्कृत बनाने का महत्कार्य भारत ने किया है । अहिंसा, दया, क्षमा, भारत की परम विभूतियाँ रही हैं --

'पावें तुमसे आज शत्रु भी ऐसी शिक्षा ।

जिसका अथ हो दण्ड और इति दया तितिक्षा ।।

प्रवंचना, नैराश्य, ग्लानि और आत्महीनता के युग में 'साकेत' की साहस, विश्वास, आशा और उद्बोधन का — काव्य बनाकर आर्य धर्म का सन्तुलित रूप प्रस्तुत करने की गुप्त जी में असाधारण सामर्थ्य थी ।' अत्यधिक भाव प्रवण, शास्त्रज्ञ और आध्यात्मिक मूल्यों के प्रति आस्थावान् ज्योति की हम आर्य धर्म कहकर उपदेष्टा कहते आए हैं । इस दृष्टि से गुप्त जी बीसवीं शती के श्रेष्ठ आर्य पुरुष सिद्ध होते हैं ।... आर्य धर्म का सन्तुलित रूप आधुनिक युग में यदि किसी कवि की रचनाओं में [illegible] है तो गुप्त जी की रचनाओं में ही है ।'

१- [illegible] मैथिलीशरण गुप्त [illegible] [illegible] साकेत

सीता को भारत लक्ष्मी मान कर विदेशी शासन को लंका का केन्द्र मानते हुए उनके उद्धार के लिए प्रयत्नशील होने की आवश्यकता को 'साकेत' में मूर्तरूप दिया गया है[1]। हमारा धन सिन्धु पार ले जाकर पराधीन देश को अकिंचन बना देने वाले दस्यु-शासन को नष्ट करने के लिए भरत-चक्र-धारि कार हैं --

भरतखण्ड के पुरुष अभी मर नहीं गये हैं।
कट उनके वे कोटि कोटि कर नहीं गए हैं।।

असभ्य द्राविडों को आर्य संस्कृति में दाखिल करने का जैसा प्रयत्न प्राचीन काल में हुआ था, उसी की पुनरावृत्ति आधुनिक युग में स्वामी दयानन्द ने की। अस्पृश्यता, भेदभाव, वर्ण उच्चता आदि अमान्य विचारों ने निम्न-शूद्र-वर्ण-को धर्म-परिवर्तन के लिए विवश कर दिया। ब्रह्मा के पैरों से उत्पन्न हुआ जान उनका तिरस्कार करते समय हमने यह नहीं सोचा कि पैरों के बिना हमारी गति रुक जायगी। उन्हें आर्यत्व प्रदान करने के लिए महर्षि दयानन्द ने शुद्धि आन्दोलन को जन्म दिया। ऋण वानर के समान पशुवर्ग[2] को आर्यत्व देने के लिए राम दण्डक वन जाते हैं। दक्षिण दिशा की निवासी बर्बर, भौतिक मद में चूर्ण कोणप जाति को आर्यत्व प्रदान करने के लिए सिंधुपार गिरि-वन में वेद-वाणी के प्रसारण हेतु ही राम ने वन-गमन में लाभ के दर्शन दे किए। गुरुवशिष्ठ ने भी कहा था —

मुनि रक्षक सम करो विपिन में वासी तुम।
मेटो तप के विघ्न और सब त्रास तुम।।
हरो भूमि का भार भाग्य से लभ्य तुम।
करो आर्य सम वनचरों को सभ्य तुम।।

१- भारत लक्ष्मी पड़ी राक्षसों के बन्धन में।
सिन्धु पार बिलख रही है व्याकुल मन में।। — साकेत १२।४५३

२- आगे ऋष्यमूक पर्वत पर
वानर ही कहिए सब थे।
विषम प्रकृति वाले होकर भी।
आकृति में नर के सम थे।। — साकेत ११।४२७

यथा:

> गोदावरी तीर पर प्रभु ने
> दण्डक वन में वास किया ।
> अपनी उच्च आर्य संस्कृति ने
> वहाँ अबाध विकास किया ।

प्राचीन गाथाओं को नवयुग की दृष्टि से व्याख्यायित करने वाले गुप्त जी में 'प्राचीन के प्रति पूज्य भाव और नवीन के प्रति उत्साह -- दोनों हैं[1]।' टी० एस० इलियट ने कवि को अपनी कृतियों में अपने युग के साथ सम्पूर्ण अतीत की ऐतिहासिक चेतना लेकर लिखने का आग्रह दिया है[2]। 'अतीत की ऐतिहासिक चेतना' में किसी देश अथवा जाति की रीति-नीति, प्रथाएँ और संस्कार अन्तर्भुक्त होते हैं।' सामाजिक जीवन की प्रथाएँ और संस्कार भी संस्कृति के भव्य निदर्शन हैं-- उनमें संस्कृति का स्वरूप न जाने कब से संरक्षित चला आता है[3]।' भारत की परम्परा में प्रचलित प्रथाओं, संस्कारों और विश्वासों को 'साकेत' में यथोचित स्थान देकर कवि ने उसे 'जनकाव्य' बना दिया है । 'साकेत' में अभिव्यक्त भारतीय संस्कृति के स्वरूप का निर्माण न तो 'आभिजात्य' करता है और न 'लोक' । इसमें सच्चे जन-जीवन को वाणी दी गयी है -- राजन्य जीवन का चित्रण भी 'माटी के लिए पुते घरों' की दैनिक गाथा सा है । यही कारण है कि हम लक्ष्मण और उर्मिला से दूरी का अनुभव नहीं करते । 'साकेत' की चित्रपटी पर कवि ने उस जन-मानस को उकेरा है जिसके पास पैतृक विरासत में प्राप्त विश्वासों, मान्यताओं, संस्कारों और परम्पराओं की एक सामान्य भाव-भूमि है । गौरवशाली अतीत की स्वर्णिम यादों को लिए हुए भी कवि का संवेदनशील और चिन्तनशील

१- हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ५३६ -- आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
२- द्रष्टव्य -- 'Tradition and the Individual Talent' शीर्षक लेख, द्वारा T. S. Eliot

३- साकेत एक अध्ययन, पृ० ११४ -- डा० नगेन्द्र

व्यक्तित्व अपने युग से पश्चात्पद नहीं हुआ है --

'मैं सुनता हूं वह दूर देश है सपना ।
तुम उसे देख कर मन न जाना अपना ।।'

समन्वयवादी गुप्तजी ने भारतीय धार्मिक विश्वासों का अंकन किया है। तीर्थ-व्रत, यज्ञ-योग, पूजा-पाठ, जप-तप-- सब उनकी भक्ति श्रद्धा और पुण्य बुद्धि के विषय हैं। सीता की माता निराहार कृश होने पर भी नित नये व्रत करती हैं।[1] गिरिजा ने शंकर के वरण हेतु महान् तप किया और 'अपर्णा' कहलाईं। भारतीय कुमारियों के लिए वे परम आराध्य हैं। उर्मिला की माता अपनी चारों पुत्रियों को गिरिजा-पूजन के लिए भेजती हैं[2] ताकि उन्हें मनोवांछित पति मिल सके। यह लोकविश्रुत विश्वास है जिसे 'साकेत' में स्थान दिया गया है। देवार्चन में लगी कौशल्या और उन्हें आरती और धूप का सामान देती पुत्रवधू सीता का दृश्य वैसे जीवन का उदाहरण है। राम को आशीर्वाद देकर वे उन्हें पूजा का प्रसाद देती हैं।[3] तप और यज्ञ में भी गुप्त जी की आस्था है। राम तपोधनों के विघ्न दूर करने 'गिरि-कानन सिंधु पार तक कल्याण। वेद वाणी के प्रचार' के लिए, 'अम्बर में पावन होम-धूम घहरावे'-- इस महत् आदर्श से परिचालित होकर वनगामी होते हैं --

आहुतियां पड़ती रहें अग्नि में क्रम से
उस तपरत्याग को विजय वृद्धि हो हमसे ।

दशम सर्ग में रघुवंशीय राजाओं का बखान करती हुई उर्मिला अन्यान्य विवरणों के साथ यह भी कहती है --

कितने शत यज्ञ हैं किये
...... किसने मख विश्वजित किया ?

आधुनिक युग में बौद्धिक मानव ने यज्ञों की उपयोगिता के आगे प्रश्नचिह्न लगाते हुए

१- साकेत, पृ० २५६
२- साकेत, पृ० २५८
३- साकेत, पृ० ६५

शंका की कि घृत और वनिता को अग्नि में जलाना कहाँ तक संगत है, कहाँ तक मानवीय है जब कि अनेक मानव उनके अभाव में मरणासन्न हैं? महर्षि दयानन्द ने 'सत्यार्थ प्रकाश' में उसका निराकरण करते हुए बतलाया कि समिधा जन्य धूम्र बादलों का रूप धारण कर धन धान्य की वृद्धि करता है। ऐसा ही तात्विक समाधान भी कवि ने किया है --

अम्बर में पावन होम-धूम पहरावे।
वसुधा का हरा दुकूल भरा लहरावे ।।

इससे यह सिद्ध होता है कि कवि के मन में यज्ञों के प्रति आदर भाव है। परन्तु पशु बलि देकर होने वाले नृशंस यज्ञों के प्रति कुछ सा अमर्ष है जो मेघनाद वध प्रसंग में स्फुट हुआ है। निरीह हत्या का कवि प्रबल विरोधी है[1] --

होने दो यह -- शत्रु खड़े हुंकार रहे हैं --
तेरे आयुध यहां दीन पशु मार रहे हैं।

'साकेत' में हमारे सामाजिक जीवन के अनेक मनोरम चित्र ग्रथित हैं, जिनमें हमारी परम्पराएं स्थानीय रंग के साथ बोलती हैं। विवाह पूर्व कुमारिकाओं की पूजा से लेकर उनके स्वयंवर, विदा आदि के दृश्यों में भारतीय मिट्टी का सौंधापन है। राम ने पिनाक चढ़ा दिया और सीता ने स्वयंबर भूमि में उन्हें वरमाला पहनाई। जयदुन्दभी बजी और सजी हुई बारात (वरयात्रा) कन्यापक्ष के यहां आयी। भारत में विवाह निर्बन्ध भोग की स्वीकृति नहीं अपितु त्याग का आख्यान है --

कर-पीड़न प्रेम याग था
वह स्वीकार कहें कि त्याग था ?
वह बंधन-मुक्ति मेल सा।
विधि का सत्य किन्तु खेल सा।
नर का अमरत्व तत्व था
वह नारी कुल का महत्व था ।।

१-- द्रष्टव्य -- कहाँ स्वर्ग उद्धार, कहाँ यह निपट नरक विस्तार
कलुषित करो न पशु-शोणित से मां के पैर पखार
--शक्ति संस्करण २००५, पृ०१८

उर्मिला विदाई का दृश्य याद करती है । उसे लगता है कि सरयू मां जब स्वगेह (पहाड़ की गोद से) से पति के गेह (सागर के यहाँ) चली थी तब वह भी कितनी शान्त पछाड़ें मारती थी । जनक की चार कन्यायें अहर्निश घर में नाटक मण्डली के उत्सव मनाती थीं -- आज घर आँगन सूना कर चली जा रही हैं । विदाई का यह दृश्य-जिसमें अपने बच्चों से माँ का मन भी उनकी छायों किया पराये को दे देना होता है -- 'साकेत' में अद्भुत कौशल से चित्रित किया गया है --

'मत रो' -- कह आप रो उठी
तुम क्यों माँ, यह धीर रो उठी ?
'यह मैं जानी प्रीति-क्रिया,
पर तू है शिशु आप क्रीड़ा ।'
'फिर क्यों शिशु को हटा रही ?
तुम माँ का ममता घटा रही ।'
'हटती यह आप मैं यहाँ
तुम हो और सुखी सदा वहाँ !'

विदेहराज जनक भी 'दुख' को भी सर्वाधार ज्ञानियों का उपदेश देते देते अपना सुध-बुध बिसरा बैठे । इस कारुणिक प्रसंग की एक-एक रेखा भावनीय है ।

उत्सवप्रिय भारतीय संस्कृति में जन्म और विवाह का ही नहीं, मृत्यु का भी स्वागत उत्साह से किया जाता है । अन्त्येष्टि संस्कार यहाँ एक प्रकार का उत्सव ही है । राजा दशरथ के 'सुर-धाम-यात्रा-पर्व' में शत शत केतु फहराते हैं , लोक -- पारावार उमड़ता है, अश्व,गज,रथ सुसज्जित हैं, स्यन्दन घहरती है -- सूत मागध, वन्दी आदि जीवन-विजय के गीत गाते हैं । इसके पश्चात् अगरु-चन्दन की चिता प्रज्ज्वलित की जाती है । महावशिष्ठ कुल आचार्य कुल पुरोहित तथा अन्यान्य विप्रगण आहुति देते हैं । ऐसे शुभ मुहूर्त पर झाँझ, झालर और शंख बज उठते हैं --

---

१- साकेत सप्तम सर्ग,पृ० २१३-१४

फिर प्रदक्षिण, प्रणति जय जयकार ।
स्तोत्र - गान समेत शुचि सत्कार ।।
बरसता था घृत तथा कर्पूर ।
धूयें पर था एक लघु घन दूर ।।

एवं 'राम नाम सत्य' का उद्घोष होता है --

कण्ठ कण्ठ गा उठा ।
शून्य शून्य छा उठा ।।
सत्य काम सत्य है ।
राम नाम सत्य है ।।

पुत्र पितरों को पिण्डदान करके उन्हें 'पु' नामक नर्क से छुटकारा दिलाता है -- इसी कारण भारतीय समाज में पुत्र का विशिष्ट स्थान है । पितरों की तृप्त्यर्थ स्मृतियों में तर्पण (तिल तण्डुल मिश्रित जलदान) का उल्लेख किया गया है । राम भी राजभवन तृषित पिता को व श्रद्धांजलि देने चलते हैं ।

..... पिता के भक्ति भाव से भर के ।
अपने हाथों उपकरण इकट्ठे करके ।
प्रभु ने मुनियों के मध्य श्राद्ध विधि साधी

गुप्त जी लोक प्रचलित मान्यताओं ,आस्थाओं को आघात नहीं पहुँचाते पर साथ ही वे रूढ़िजन्य धर्मान्धता के प्रचारक नहीं हैं । इसी कारण 'श्राद्ध' का अर्थ स्पष्ट करती हुई कैकेयी कहती है -- " है श्रद्धा पर हो श्राद्ध न आडम्बर पर ।"

निमित्त अर्थात् शकुन-अपशकुन का भी इस देश में काफी प्रसार और विश्वास है । यहां के विधि-व्यवस्थापक चाणक्य ने भी इनमें आस्था प्रकट की है[1]।

१- कार्य संबद्ध निमित्तानि निवेदयन्ति -- चाणक्य प्रणीत सूत्र ३२२
न[illegible] [illegible]प निमित्तानि [illegible]वधान्ति -- चाण[illegible] प्रणीत सूत्र ३२३

मुझे फूल मत मारो
बल हो तो सिन्दुर-बिन्दु यह -- यह हर नेत्र निहारो ।
रूप दर्प कन्दर्प, तुम्हें तो मेरे पति पर वारो ।
लो, यह मेरी चरण-धूलि उस रति के सिर पर धारो ।।

कथा प्रसंग मुख्य जो ने सौगन्ध, शाप, योग आदि का भी चित्रण किया है । कौशल्या राम की सौगन्ध खाता है -- यथा--

भरत में अभिसन्धि की हो गंध
तो मुझे निजराम का सौगंध

कैकेयी का निम्न उक्ति में उक्त शाप और सौगन्ध प्रतिबिम्बित है --

यदि मैं उकसा गई भरत से होऊँ ।
तो पति समान हो स्वयं पुत्र भी खोऊँ ।।

इस प्रकार हम देखते हैं कि गुप्त जी भारत के बृहत्तर जन समुदाय द्वारा गृहीत प्राय: समस्त परम्पराओं और विश्वासों के प्रति आस्थावान् हैं । किन्तु एक ओर जहां उनका आस्थावान् संस्कारी व्यक्तित्व परम्पराओं का विश्वासी है तो दूसरी ओर उनका युग जागरूक विचारक अनेक स्थलों पर मतभेद प्रकट करता है "युग के [illegible] जीवन का साक्षात्कार करते और उसे वाणी का परिधान पहना कर [illegible] बना देने के कारण इस युग में गुप्त जी जन समाज के प्रथम कृती कवि कहे जायेंगे ।"[१]

साकेत और नैतिक बोध

सफल और समादृत सामाजिक जीवन व्यतीत करने के लिए 'सत्य' के जागरूक साधक को 'ऋत' की महत्ता को स्वीकार करना होता है । 'साकेत' में उस सफल समाज का अंकन है जहां "नीतियों के साथ रहती रीतियाँ ।"

१-- हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, पृ० ३० आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी

जब कभी विमर्शात्मक जागरूक नैतिकता रीति की बँधी-बँधायी लीक पर चलने लगती है तो समाज में पहले एक गतिहीनता उत्पन्न होती है और कालान्तर में उस जकड़ाव से मुक्ति हेतु सुनिश्चित और सुनियोजित मार्ग न निकाल पाने के कारण प्रतिक्रियात्मक अनैतिकता उत्पन्न होती है । मध्यकाल गतिहीनता का काल था जिसमें मनुस्मृति की काराओं में जड़ नैतिकता का निवास था । उन्नीसवीं सदी का पूर्वार्द्ध प्रतिक्रिया-काल था । नव-शिक्षित अंग्रेजी पढ़ा तरुण भारतीय परोपकार, दया,करुणा, मुदिता, औदार्य आदि अनेक पूर्व स्वीकृत मान मूल्यों से सर्वथा विमुख हो जाना चाहता था । सभ्यता के उपकरण उधार लिए जा सकते हैं परन्तु मानमूल्यों को बिना अनुकूल परिप्रेक्ष्य और समान भावभूमि और विचार-सरणि के स्वायत्त नहीं किया जा सकता । रूढ़ नैतिक बोध का पुनर्संस्कार करने के लिए, घिसे हुए सिक्कों के पुनर्स्थापन के लिए यह आवश्यक हो गया कि आदर्शवाद की ऊँचाइयों में विचरने वाला जीवन से कटा पलायनवादी यथार्थ की ओर सम्बन्ध भूमि में तक आए । महाकवि गुप्त जी ने प्राच्य आदर्शों के ऊपर जमी हुई मलिनता को स्वच्छ कर उनका संस्कार किया और जीवन की मधुरता को धर्म(नीति) से संबद्ध कर, समाज में मर्यादा स्थापित करने का चेष्टा की ।[१]

आज के युग में पूर्ण अहिंसा की नीति कवि को स्वीकार्य नहीं है । सभ्यता के प्रत्यूष-काल से ही भरतखण्ड का द्वार विश्व भर के लिए खुला हुआ है । निरन्तर प्रपीड़ित और अपमानित होने पर भी अहिंसक होने के नाते शिलाखण्ड को रखने वाले गरलधारी शिव को भी तीसरा नेत्र खोलना पड़ जाता है । इतना शक्ति-अर्जन अपेक्षित है जो मातृभूमि की रक्षार्थ कह सके --

> जो इस पर अत्याचार करने आवेंगे ।
>
> नरकों में भी वह ठौर न पाकर पछतावेंगे ।।

विनयशीलता का तात्पर्य कायरता नहीं है । क्षमा,विनय,दया कायरों की ढाल नहीं है अपितु वीरों का धर्म है । परन्तु जब अधिकार मांगे से नहीं मिलते तो

१- साकेत एक अध्ययन,पृ० १७४--- डा० नगेन्द्र

प्राप्य के लिए याचना नहीं, अपितु कठिन-कुठार-भुजबल की आवश्यकता होती है । राम की अनुनय-विनय से न पसीजने वाले सागर को राम का बाण प्रणत करता है । आत्मगौरव की मन्त्रणा देती हुई उर्मिला वीर रमणी के रूप में 'साकेत' में मुखरित है --

स्वत्वों की भिक्षा कैसी
दूर रहे इच्छा ऐसी
उर में अपना रक्त बहे
आर्य भाव उद्दीप्त रहे
+ + प्राप्य याचना वर्जित है
आप भुजों से अर्जित है ।

'त्याग' यदि निर्बलता से परिचालित है तो उसकी ओर से विमुख होना होगा । उर्मिला राम के प्रति किए गए अन्याय से विक्षुब्ध हैं --

हम पर भाग नहीं लेंगी
अपना त्याग नहीं देंगी
+ + वीर न अपना देते हैं
+ + भिक्षा मृत्यु इसे सम है
राघव ! शान्त रहोगे तुम ?
क्या अन्याय सहोगे तुम ?

सरलता जीवन में अपेक्षित गुण है बशर्ते कि वह अज्ञान और अबोध की परिचायक न हो । 'सरलता भी ऐसी है व्यर्थ समझ जो सके न अर्थानर्थ ।' सहज विश्वासी जब निरन्तर ठगा जाता हुआ, विकल होता है तो उसका सुप्त स्वाभिमान जाग उठता है । जीवन और जगत् के बीच अपने को निरन्तर पर्यालोचित करते हुए अनेक स्वीकृत, अस्वीकृत और अर्ध स्वीकृत मूल्यों के बीच चुनाव की समस्या उत्पन्न होती है । परम्परा के नाम पर भावनात्मक ममता से रक्षित होने से अमृत भी विष बन जाता है । भीतर में गंगा का जल सड़ जाता है और गतिशील चिन्तन के अभाव में सार भी असार हो जाता है । धर्म का ढोंगकारी स्वरूप अन्धानुकरण व

और बुद्धि का पर्याय बनकर (मार्क्स के शब्दों में अफीम बनकर) महाघातक सिद्ध होता है। 'हो गया पुण्य हो पाप मुझे दे रहा धर्म हा! त्रास मुझे।'

आपद् धर्म को स्वीकृति न देने से 'सत्य' भी शव क सा अकम्प कठोर बन जाता है। युधिष्ठिर को 'अश्वत्थामाहतो नरो वा कुंजरो' कहना पड़ा और धर्मभीरु, युद्ध उपराम अर्जुन को 'युद्धस्व' श्रीकृष्ण ने कहा। परिस्थिति और देशकाल के बीच ही नैतिक, अनैतिक की मीमांसा हो सकती है। देश जाति गौरव की रक्षार्थ क्रान्तिकारी देशभक्तों के आत्म-बलिदान को किसी भी अवस्था में अनैतिक नहीं माना जा सकता क्योंकि कहीं गुण (धर्म) भी विशेष अवस्था में दोष हो जाता है और दोष भी विधान होने के कारण गुण (विशेष धर्म) हो जाता है[1]। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस विवेक बुद्धि के अभाव के कारण भारतीय दासता के वर्ष इतने लम्बे रहे हैं।

राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि में संतुलन को नष्ट न करने वाला, गीता के शब्दों में 'आत्मा से आत्मा में संतुष्ट हुआ' स्थितप्रज्ञ समत्व रूप योग को प्राप्त होता है। आनन्द या प्रसन्नता की प्राप्ति के लिए यह सहनशीलता और संतुलनशीलता आवश्यक है। कैकेयी का क्रोध ही सुख-शान्त परिवार को अशान्त नष्ट कर देता है। ईर्ष्या और क्रोध विष प्रवाह बहाता है, क्योंकि --

> मानिनी कैकेयी का कोप
> बुद्धि का करने लगा विलोप

द्वेष ने गुणदर्शिता की आँख पर पट्टी बांध दी --

> दोषदर्शी होता है द्वेष
> गुणों को नहीं देखता लेश[2]।

१- क्वचिद्गुणोऽपि दोषः स्याद् दोषोऽपि विधिना गुणः
— [illegible] ११।२१।१६

२- तुलनी० क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृति विभ्रमः
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति
— गीता २।६३

सुख और दुःख, हानि-लाभ, जय-पराजय का द्वन्द्व दिन-रात के समान सनातन है। जहाँ कण्टक है, वहीं फूल भी है। एक वृक्ष यदि फूलता है तो दूसरा झरता है। ऐसा ही नरलोक है जहाँ कहीं हर्ष है तो क्वाँ शोक। यदि धरतीमाता कुसुम और कंटकित झाड़ झंकाड़ को एक साथ धीरतापूर्वक वहन कर सकती है तो[1] क्या विधाता की सर्वोत्कृष्ट कृति मानव शोकाकुल और पराभूत जड़ हो जाएगा ? "पुरुष हो है न क्यों पुरुषार्थ माने ?" उर्मिला को धैर्य बँधाता सुलक्षणा कहती है कि धीरज की ही सर्वाधिक अपेक्षा है फिर विधि भी वाम नहीं रह पायेंगे। जीवन-संघर्ष में धैर्य खोकर हार बैठने वाले भीरु को चाहे वह अर्जुन हो या भरत या मनु, भारतीय नीति ने सदैव कर्मठता की ओर अग्रसर किया है --

अब उठो हे वत्स धीरज धार

बैठते हैं वीर क्या थक हार ?

पुरुषार्थी में ही इतना कह सकने का सम्बल होता है -- "मैं स्वधर्म से विमुख नहीं हूँगा अभी।" --

देख एक दो विघ्न बीच में।

हुआ मुझे उल्टा विश्वास ।।

बाधाओं के भीतर ही तो।

कार्य सिद्धि करती है वास ।।

औरों को गुण अर्पण कर सिर पर दोष ले लेने वाली हिमालय जैसी उदारता भारतीय संस्कृति की मौलिक विशिष्टता है। "गुण अर्पण करके औरों को लेना अपने सिर पर दोष।" परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि लक्ष्मण "चुप रहें" तथा "अन्याय चुप रहकर सहें।"

इतिहास अपने को दुहराता है। हमें जो ऐतिहासिक घटनाएँ शिक्षा दे जाती हैं वे स्वयं उसकी परीक्षा लेने के लिए लौट लौट कर आती हैं[2]। मानव

१- साकेत २।६३

२- साकेत, पृ० ३२८

मानव जाति का इतिहास जहाँ एक ओर त्याग, बलिदान, तपस्वयी आदि सबल पक्षों का विवरण प्रस्तुत करता है तो दूसरी ओर लोभ, दुर्लभ मानस की चंचलता के कारण उन्मे अशान्त उपद्रवों को भा संजोए है । धराओं के घूमने से जैसे दिन-रात की स्थिति बनती है उसी प्रकार मानव-मन के निर्माण में शुद्ध-अशुद्ध दोनों प्रकार का प्रवृत्तियों का योग होता है । क्षिति और आकाश दोनों अपनी ओर आकर्षित करते हैं । मानव को देवता मानकर चलने वाले भी प्रवंचित होते हैं क्योंकि यह नहीं कहा जा सकता कि किस क्षण आसुरी प्रवृत्तियाँ सिर उठा लें --

मानव-मन दुर्बल और सहज चंचल है

इस जगती-तल में लोक अतीव प्रबल है ।

आत्मतत्व प्रधान भारत में लोभ का निग्रह करने वाले उन विशाल राज्य को गेंद के समान उछाल देने वाले उदाहरण भी मिलते हैं, जिनके ऊपर महायुद्ध होते हैं, बेटा बाप को बन्दी बना देता है । जन्मभूमि की वन्दना करते हुए राम यह स्वीकार करते हैं कि भारत-भूमि के उत्संग- अग्नि में डोल कर हा--

इस पथ है सहज हुआ चलना हमें

छल न सकी लोभ-मोह-छलना हमें ।

विश्वबंधुत्व की भावना से परिचालित विशाल हृदय मानव के सामने वैयक्तिक स्वार्थ, राष्ट्रहित की उतनी महत्ता नहीं होती जितना अन्याय के प्रतिकार द्वारा सर्वजनमंगल विधायन ।

किसी एक सीमा में बंध कर

रह सकते हैं क्या ये प्राण ?

एक देश क्या अखिल विश्व का

तात, चाहता हूं मैं त्राण ।

ऐसा व्यक्ति अपने प्रबल विरोधी के गुणों के अभिप्रशंसन में कभी मुँह नहीं मोड़ता । संजीवनी के प्रभाव से जब लक्ष्मण की मूर्च्छा भंग हुई तो उन्होंने सर्वप्रथम अपने उस शत्रु को सराहा जिसके कारण वे मृतप्राय: हो गए थे --'धन्य इन्द्रजित । किन्तु संभल जो अब वैरी ।' उदार चित्त में ही इतनी गुरुता सम्भव है ।

नीति का हल्का रूप शिष्टाचार है । साकेत में बहुत गहरे रंगों से भारतीय संस्कृति की उस विशिष्टता का अंकन हुआ है । पश्चिमी सभ्यता की आंधी में नष्ट होते संस्कारों को बांधने के लिए गुप्त जी के राम का अवतार होता है, " मैं आया जिससे बनी रहे मर्यादा, मिटे न जीवन साधा ।" लार्ड विलिंगटन ने भारतीयों के शील और शिष्टाचार की प्रशंसा की है " समस्त भारतीय चाहे वे प्रासादों में रहने वाले राजकुमार हों अथवा झोंपड़ियों में रहने वाले प्रजाजन-- संसार में सर्वोत्तम शीलसम्पन्न लोग हैं । मानो वह उनका धर्म हो । उचित और न्याय्य व्यवहार का प्रत्युत्तर वे अवश्य देते हैं तथा दयालुता एवं सहानुभूति के किसी कर्म को नहीं भूलते[1] ।"

भारतीय संस्कृति के पंच महायज्ञों में अतिथिसत्कार का विशेष महत्त्व है और फिर शरण में आए हुए अभ्यागत के लिए तो प्राण समर्पित कर देने के उदाहरण भारतीय इतिहास में बहु-सुलभ हैं । बैरी के भाई विभीषण को शरण में आया जानकर प्रभु ने उसका बंधुवत् सम्मान किया । मंत्रियों के आक्षेप और शंका का उत्तर शरणागत वत्सलता को धर्मसम्मत बताकर देते हैं कि 'रक्षक धर्म कभी भक्षक नहीं हो सकता '। शरणागत को लौटा देना एक ओर घोर अशिष्टता है तो दूसरी ओर अपनी सामर्थ्य की कमी --

> " कहा मंत्रियों ने कुछ, तब वे
> बोले दुर्बल हैं हम क्या ?
> भले धर्म ही धर्म हमारा
> तो है भला यही कम क्या ?

सुबह दीपज्योति मंद हो जाती है,क्योंकि शिष्टता का तकाजा है कि गुरुजनों के सामने स्वयं संकुचित होकर उनका मंगल आशीर्वाद पाया जाए --

---

१- कल्याण हिन्दू संस्कृति अंक से उद्धृत ,पृ० ४४४

दीप कुल की ज्योति निष्प्रभ हो निरा
रह गई सब एक घेर में घिरी
किन्तु दिनकर आ रहा, क्या सोच है ।।
उचित ही गुरुजन-निकट संकोच है ।

राम अभिवादन की परम्परानुसार मस्तक नवाकर गुरु-पद छूते हैं और प्रसन्न होकर वशिष्ठ आशीर्वाद देते हैं । हमारे यहाँ यह माना जाता है कि गुरुजनों की उचित अभिवन्दना द्वारा आयु, विद्या और यशबल की वृद्धि होती है[1] ।

शिष्टाचार का सबसे महत्वपूर्ण भाग है वार्तालाप जिसके द्वारा व्यक्ति की योग्यता, शील-स्वभाव-- सब का आभास मिल जाता है । वार्तालाप के तीनों गुण -- मित, मिष्ट, हित, `साकेत` के वार्तालाप में पाए हैं । मानवीय सम्बन्धों के इस महाकाव्य में शुद्ध आचरण के प्रमाण स्वरूप राशि राशि निदर्शन सहज उपलब्ध है । सम्पूर्ण `साकेत` में परस्पर वार्तालाप में 'आर्या', 'आर्यपुत्र', 'नाथ', 'शुभे', 'भद्रे', 'प्रिये' आदि संबोधनों का प्रयोग होता है । एक ही अर्थ के द्योतक विविध शब्दों में कुछ शिष्ट वचन कहलाते हैं तो कुछ अशिष्ट । किसी के निधन को सीधे साधे वह मर गया न कह उसका 'स्वर्गवास हो गया,' या 'वो ऐसे स्थान पर चले गए हैं कि अब नहीं आयेंगे[2] आदि कहा जाता है । पिता का समवयस्क एवं परिवारयुक्त होने के कारण राम सेवक सुमंत्र को भी `काका` कहते हैं --

सुमन्त्रागम [illegible] कर रुक गए वे ।
`अहा काका !` विनय से झुक गए वे ।।

१- अभिवादन शीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः ।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्यायशोबलम्।। -- मनुस्मृति २।१२५

२- वत्स स्वामीतो गए उस ओर ।
लौटना होगा न जिससे और ।। साकेत, पृ० १६२

वे शूर्पणखा तक को 'शुभे' कह कर संबोधित करते हैं। गुहराज और सीता के परस्पर वार्तालाप में शिष्टाचार का सम्पूर्ण सौष्ठव विद्यमान है। मित, मिष्ट और हित तीनों गुणों की त्रिवेणी ~~विद्यमान है~~ बह रही है।

संस्कृति और शिष्टाचार के संरक्षण में नारी जीवन का विशिष्ट योग है। गुप्त जी की नारियां सच्चे अर्थों में भारतीय ललनायें हैं जिनमें शील, संकोच अनिवार्य गुण के रूप में विद्यमान हैं। पति का प्रसंग चलने पर जब सीता एक 'मधुर संकोच' का अनुभव करती है और अपनी 'तरल हँसी' में न जाने कितनी कही अनकही कह जाती है --

> शुभे, तुम्हारे कौन उभय ये श्रेष्ठ हैं ?
> गोरे देवर, श्याम उन्हीं के ज्येष्ठ हैं।'
> वैदेही यह सरल भाव से कह गई
> तब भी वे कुछ तरल हँसी हँस रह गई।।

इस संकोच संवलित शिष्टाचार के कारण ही पूज्या कौशल्या की उपस्थिति में राम के सम्मुख --

> हँस सीता कुछ सकुचाई, आँखें तिरछी हो आई
> लज्जा के घूँघट काढ़ा, मुख का रँग किया गाढ़ा।

कुछ अंशों में यह शील संकोच भारतीय पुरुष समाज में भी पाया जाता है। वनान्त के एक निर्जन कोने में शूर्पणखा से बात करते करते सीता पर दृष्टि पड़ते ही --

> लक्ष्मण के मुख पर भी लज्जा
> लेने लगी अपूर्व हिलोर।

'काम' का निग्रह पातिव्रत धर्म और पत्नीधर्म के रूप में किया गया है। सीता अपने पातिव्रत धर्म के तेज से यदि कीचड़ सी लंका में कमलपत्रवत् निष्कलंक बनी रही तो उर्मिला के अनन्य प्रेमी लक्ष्मण में भी इतनी शक्ति है कि एक ही बाण से मेघनाद को समाप्त कर सके --

यदि सीता ने एक राम को ही वर माना ।
यदि मैंने निज वधू उर्मिला को ही जाना ।।
तो बस अब तू संभल, बाण यह मेरा छूटा ।
रावण का वह पाप-पूर्ण हाटक घट फूटा ।।

'लोभ' का निग्रह 'अपरिग्रह' में व्यक्त होता है । भौतिक समृद्धि और वैभव विलास को अपेक्षित मानते हुए भी भारतीय संस्कृति में अनियंत्रित भोग को प्रश्रय नहीं दिया गया है । 'साकेत' के राम राज्य को तृण तुल्य समझते हैं तो भरत को राज्य की आंशिक स्पृहा नहीं है । उनकी इस अद्भुत निर्लोभता पर चित्रकूट में जाबालि विस्मित हैं --

आह ! मुझको कुछ नहीं समझ पड़ता है
देने को उल्टा राज्य द्वन्द्व लड़ता है ।

भारतीय परम्परानुसार युद्ध का लक्ष्य स्वधर्म की रक्षा अथवा यश रहा है[1] । उर्मिला भी रणोन्मुख सैनिकों को लंका से स्वर्ण-धन न लाकर मानरक्षा का ही परामर्श देती है --

गरज उठी वह-- नहीं, नहीं पापी का सोना ।
यहां न लाना, भले सिंधु में वहीं डुबोना ।।
धीरो धन को आज ध्यान में भी मत लाओ ।
जाते हो तो मान-हेतु ही तुम सब जाओ ।।
सावधान ! वह अधम धान्य साधन मत छूना ।
तुम्हें तुम्हारी मातृभूमि ही देगी दूना ।।

आर्थिक राजनैतिक संगठन

भारतीय संस्कृति में 'राम राज्य' सदा से 'सुराज्य' का पर्यायवाची रहा है । न्याय और नीति पर आधृत अतिशय समुन्नत यह युग भारतीय शासन व्यवस्था का स्वर्णयुग था । अपनी सांस्कृतिक परम्पराओं में आस्था रखने वाले गुप्त जी सुधर्म की अपेक्षा नहीं करते --' अपने युग को हीन समझना आत्महीनता होगी

1- यशसे विजिगीषूणां -- रघुवंश 1।7

यही कारण है कि आज के युग में भी उन्होंने मर्यादित राजतन्त्र का प्रजातंत्रीकरण कर दिया है ।

राज्य का मुख्य कर्तव्य सुचारु शासन व्यवस्था द्वारा प्रजा की रक्षा करना तथा उनके बहुमुखी विकास के लिए सुविधा प्रदान करना है जिस राज्य में प्रजा दुखी रहती है उसका राजा अवश्य नरक का अधिकारी होता है[१] ।

राज्य में दायित्व का ही भार
वह सब प्रजा का व्यवस्थागार

\+ \+

निज रक्षा का अधिकार रहे जन जन को
सबकी सुविधा का भार किन्तु शासन को

यहां राजा धर्म का प्रतिनिधि होने के नाते प्रपीड़न का अधिकारी नहीं है । राजनीति की सम्पूर्ण भित्तियाँ प्रजा का निर्माण हैं -- राज्य लेने देने का अधिकार पिता को भी नहीं है --" ~~प्रजा के अर्थ~~

"प्रजा के अर्थ ही साम्राज्य सारा ।
मुकुट है जेष्ट ही पाता हमारा ।।

\+ \+

राजा हमने राम तुम्हीं को है चुना
करो न तुम यों हाय लोकमत अनसुना "

लक्ष्मण भी अन्याय का प्रतिकार करते हुए सभासदों की ओर इंगित करते हैं व कुल धर्म की दुहाई देकर लक्ष्मण" वही हो जो कि समुचित हो सभा में" कहकर अभिव्यंग्य रूप से सभा के आदर्श में आस्थावान् हैं । भारतीय संस्कृति है में वह सभा सभा नहीं जहां वृद्ध न हों, वह वृद्ध वृद्ध नहीं जो धर्मयुक्त बात न कहते हों वह धर्म धर्म नहीं जो सत्य न हो, वह सत्य सत्य नहीं जो निश्छल और स्वत:

१- तुलसी ग्रन्थावली,पृ० १२५

प्रेरित न हो -- ऐसा माना जाता है । राजा को उचित है कि अधिक मंत्री जिस बात को कहें अथवा सिद्धिदायक बतलायें उसका अनुसरण करे[१] ।

राज्य को प्रजा की थाती मानने वाले राम, राज्याभिषेक का अर्थ निर्बाध भोग नहीं अपितु गुरु भार के रूप में लेते हैं[२] । धर्म राजनीति का प्रमुख आधार स्वीकार किया जाता था । प्राण का विनियोजन करने में सकाम बलिदान ही राज्य का गुरु उठा सकता है --

राज्य गुरु है बलि पुरुष का भोग
मूल्य जिसका प्राण का विनियोग
+ + राज्य को यदि हम बना लें भोग
तो बनेगा वह प्रजा का रोग

राजद्रोह के मूल में राजभोग और स्वार्थलिप्सा ही छिपी रहती है । यदि प्रजा की व्यवस्था का भार त्याग कर राजा में स्वार्थ की व्याप्ति हो जाये तो विद्रोह और राजक्रान्ति भी धर्मसम्मत कहलाती है --

'राज्य में दायित्व का ही भार ।
सब प्रजा का वह व्यवस्थागार ।।
वह प्रलोभ न हो किसी के हेतु ।
तो उचित है क्रान्ति का ही केतु ।।
दूर हो ममता विषमता मोह ।
आज मेरा धर्म राजद्रोह ।

नगण्य राज्य को व्यवसाय के रूप में ग्रहण करने से पहले हम उस धर्म को देखना होगा जो इहलोक और परलोक दोनों का साधक है । वनगमन को प्रस्तुत राम , राज्य की अवहेलना करते हुए उस धर्म को महत्ता देते हैं जिस पर पिता ने प्राण तज दिये ' --

---

१-- कौटिल्य का अर्थशास्त्र १।२५।६५

२-- साकेत ३।५६

'उन्हीं कलकेतु के हम पुत्र होकर
करें राजत्व क्या वह धर्म खोकर ।'

वर्तमान व्यावसायिक राजनैतिक वैषम्य के परिशमनार्थ हमें भारतीय संस्कृति के इस अंश को स्वीकार करना होगा । शायद यही कारण है कि संस्कार की दृढ़ता के कारण भारतवासी उपनिवेशवाद की कल्पना भी नहीं कर सकता है ।

'तात देश की रक्षा को ही कहता हूं मैं उचित उपाय ।
पर वह मेरा देश नहीं जो करे दूसरों पर अन्याय ।।'

स्वदेश की सुख,शान्ति , रिपु से रक्षित राज्य ऋद्धि,सार्वजनिक सुविधा-शासन के प्रमुख कर्तव्य हैं । राजा इन सब दायित्वों का भार व्यवस्थापिका सभा की सहायता से उठाता है । राजा के लिए विनय और नीति अपेक्षित है । चाणक्य तो 'नीति शस्त्रानुगो राजा'[1] मानता है इसी प्रकार से 'बहवोऽविनयान्नष्टाराजान: परिच्छद'[2] माना जाता है । राजा को अहंकार का परित्याग कर नर मात्र के रूप में रहते हुए योग्यता और कुशलता के अनुकूल सभासदों कर्मचारियों की नियुक्ति द्वारा एक कुल के समान रहना चाहिए[3] ।

राज्य के कर्तव्य के साथ स्वतन्त्रता और कानून का अनिवार्य प्रसंग सम्बद्ध है । व्यक्तिवादी राज्य को एक आवश्यक बुराई मानते हुए,केवल सामाजिक व्यवस्था का दायित्व-भार सौंपना चाहता है तो अराजकतावादी इसके समूल व्यवच्छेदन में विश्वासी हैं । दोनों सीमायें आत्यन्तिक हैं । आवश्यकता इस बात की है कि स्वतन्त्रता का अर्थ स्वच्छन्दता न लेकर विकास की दिशाओं का प्रसार लिया जाये । ऐसी स्थिति में कानून स्वतन्त्रता का रक्षक बन जाता है --

जनपद के बन्धन मुक्ति हेतु हैं सब के
यदि नियम न हों , उच्छिन्न सभी हों कब के

१- चाणक्य प्रणीत सूत्र ४८
२- [illegible] ७।४०
३- साकेत ६।२०१

व्यक्ति के मूल अधिकारों पर यदि कानून द्वारा पदाघात होता है तो भी क्या राज्यभक्ति के नाम पर चुपचाप सहना होगा, किंवा प्रतिकार संभव है ? इसका ~~निस्करण~~ निराकरण प्रस्तुत करते हुए लक्ष्मण ने कहा है --

नहीं है अधिकार वीर अपना खोते
उचित आदेश ही है मान्य होते

+ +

विकास के लिए नाश के लिए नहीं है

'यथा राजा तथा प्रजा' के सिद्धान्त वाक्यानुसार राजनैतिक स्थिति सामाजिक स्वरूप की निर्मायिका होती है । युद्ध शोषण में रत राज्य की सामाजिकता विघटित होती जाती है, नाना विश्रृंखलतायें क्या पारिवारिक क्या सामाजिक प्रत्येक क्षेत्र में पनपने लगती हैं ।

प्रत्येक ग्राम एक स्वतन्त्र देश सा सम्पन्न है । आधुनिक भारत की भारतीय संस्कृति के केन्द्र ग्राम स्वशासन की ओर गांधी जी ने प्रेरित किया ।

नहीं कहीं यह कलह प्रजा में
है सन्तुष्ट क्या सब शान्त
उनके आगे सदा उपस्थित
दिव्य राजकुल का दृष्टांत

ललित कलायें राज्याश्रय में पल रही हैं । 'स्वर्ग से मिलने गगन की ओर जा रही साकेत नगरी । वास्तु कला की उच्चता को द्योतित करती है । साहित्यकार जन अनुभूति के लेखक हैं, ज्ञानी सर्वमंगल के लिए नित नूतन सत्यों की खोज कर रहे हैं, कवि कोविद रचित गीतों को गायक स्वर ताल में बाँधते हैं । शिल्पकार, सूत्रकार और चित्रकार क्रमशः शिल्प,नाट्य और चित्रकला द्वारा सुन्दर को सजीव तथा भीषण को निर्जीव बनाने में दत्तचित्त हैं । विविध व्यवसाय और वर्गों की उन्नति हो रही है । वैद्य , सौगंधिक,माली, तन्तुवाय,स्वर्णकार, वाणिज्य,कृषक,सैनिक आदि प्रत्येक वर्ग राज्याश्रय में सुख,शान्तिपूर्वक एक साथ ऐसे

ही पनप रहे हैं जैसे 'विचित्र विश्व विटप में अगणित विटप एक ही मूल'[1]।

इस प्रकार 'साकेत' के माध्यम से राष्ट्रीय गौरव को जगाया गया है। जातीय एकता, ऐतिहासिक एकता, भाषा सम्बन्धी एकता, राजनैतिक एकता और सर्वोपरि सामुहिक एकता की चेतना राष्ट्रीयता का निर्माण करती है।

एक तरु के विविध सुमनों से खिले
और जन रहते परस्पर हैं मिले
स्वस्थ, शिक्षित शिष्ट, उद्योगी सभी
बाह्यभोगी आन्तरिक योगी सभी

ऐसे समाज में ही राष्ट्रीयता का विकास सम्भव होता है। गुप्त जी राष्ट्रकवि हैं। राष्ट्रीयता उनका विशेष गुण रहा है परन्तु कवि में कहीं भी संस्कृति शून्य राष्ट्रीयता का पोषण करने की प्रवृत्ति नहीं दीखती है। पूर्व गौरव पर विश्वास और अभिमान जन्मभूमि पर प्रेम, क्रियाशील जीवन, संस्कृति सुधा और स्वतन्त्रता उनकी राष्ट्रीयता के पोषक तत्व थे[2]। गुप्त जी से बहुत समय पूर्व भारतीय संस्कृति के महाकवि तुलसी ने अमावस्या के गहन अंधकार का कारण छिद्रनात्मक शासन बताया था -- विभिन्न रियासतों, प्रान्तों, जागीरों को एक शासन में लाये बिना भारत राष्ट्र नहीं कहा जा सकता। इसीलिए पूर्ण स्वराज्य की मांग तत्कालीन जागरण का प्रमुख स्वर था --

एक राज्य न हो, बहुत से हो जहाँ
राष्ट्र का बल, बिखर जाता है वहाँ
बहुत तारे थे अंधेरा कब मिटा
सूर्य का आना सुना जब तब मिटा।

प्रजा और राजा के [illegible] शासन में न तो तब व्याधि व्यथित होता है और न मन अधि[3]व्यथित। आर्थिक दृष्टि से कवि समाजवादी व्यवस्था

१- साकेत ११।४०२-४०३
२- गुप्त जी की कला, पृ० १२० डा० सत्येन्द्र
३- व्याधि की बाधा नहीं तन के लिए
आधि की शंका नहीं मन के लिए।

पोषक है । वर्गवैषम्य ही आर्थिक क्रान्ति को जन्म देता है । त्यागपूर्ण योग के आदर्श का स्थान जब त्यागहीन संघर्ष ले लेता है तभी वह वैषम्य उत्पन्न होता है[1] । चूंकि जातीय जीवन के आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक पक्ष परस्पर संबद्ध होते हैं इसलिए यदि एक को भी ठेस पहुंचती है तो अन्य पक्षों पर उसका प्रभाव अनिवार्यत: पड़ता है । अत: रामराज्य जैसी सफल शासन प्रणाली में तीनों की उचित व्यवस्था है ।

डा० नगेन्द्र के अनुसार ' साकेत में वैसे तो साम्यवाद लोकतन्त्र आदि विभिन्न विचारधाराओं का व्याख्यान भी बड़ा स्पष्ट मिलेगा । परन्तु कवि ने भारतीय संस्कृति के अनुरूप राजतंत्र में ही आस्था प्रकट की है और इसका प्रतिपादन किया है[2] । 'साकेत' में गृहीत शासन प्रणाली के स्वरूप को लेकर वाद-विवाद करना व्यर्थ है । क्योंकि पोप के शब्दों में जो शासन उचित व्यवस्था करता है वही सर्वश्रेष्ठ है भले ही वह राजतन्त्र हो या प्रजातन्त्र (whatever is administered best is best ') । देश की परिस्थिति और वातावरण को दृष्टि में रखकर 'साकेत' के कवि द्वारा दर्शित राजनैतिक और सामाजिक संगठन जनता के चरित्र और मस्तिष्क का विकासक होने के नाते , भारतीय संस्कृति के अन्तर्गत सुराज्य के उदाहरण रामराज्य का ही पोषक है ।

सृजनात्मक क्षमता

'नाना पुराण निगमागम' सम्मत रामचरित मानस को आर्य संस्कृति का शेवधि कहा जाता है । रामराज्य परम्परा के स्तम्भ 'मानस' के उपरान्त भी 'साकेत' सृजन की आवश्यकता महसूस हुई । इस काव्य में नवयुग के वैतालिक ने

१- हां जब अनर्थ बीज अर्थ बोता है
जब एक वर्ग में मुष्टिबद्ध होता है
जो संग्रह करके त्याग नहीं करता है
वह दस्यु लोक धन लूट लूट खाता है । --साकेत,पृ० २३१

२- साकेत एक अध्ययन,पृ०८१

अपने युग के प्रकाश में पौराणिक ऐतिहासिक पात्रों को नूतन स्वरूप प्रदान करना चाहा है । नूतन सृजन,नूतन अन्वेषण की वृत्ति ही निरन्तर विकासमान सभ्यता, संस्कृति और साहित्य का मूल है । बँधी बँधाई रूढ़िजन्य श्लान्तता भंग करने के लिए अप्रत्याशित झटके की आवश्यकता होती है । निर्जीव और निष्क्रिय धर्माभास के घेरे में अंधवत् आचरण करते मस्तिष्क को झकझोरने का काम `मेघनाद वध` में किया गया है । कवि का यह स्वभाविक धर्म है, काव्य की अनिवार्य उपादेयता है । `साकेत` भी रामायण के दूसरे पक्ष को यह पक्ष जो राम के वनवास और युद्ध का नहीं, भरत की तपस्या और उर्मिला की विरह कथा का है, अलौकिक नहीं है, किन्तु अधिक मानवीय है -- अंकित करता है ।उपेक्षिता उर्मिला को केन्द्र में रखकर महाकाव्य प्रणयन तो कवि का प्रयोजन था ही पर अयाचज प से कैकेयी का चरित्र भी पाप का प्रक्षालन कर निखर गया है । मनोवैज्ञानिक धरातल पर एक ओर उसके दुर्बल पक्ष की ओर अधिक आक्रोश शेष नहीं रह गया, दूसरी ओर आत्मग्लानि तप्त उसके प्राणों की क्रांति भी दर्शनीय है । इस दृष्टि से `साकेत` में उर्मिला से कुछ कम महत्त्व कैकेयी का नहीं है ।

`मा निषाद` का अनुगायक जिसे अपने कमण्डल के करुण-वारि की दो बूंदें न दे सका, `नाना पुराण निगमागम सम्मत` तुलसी भी जिसके आंसुओं को अनदेखा कर गए, `एको रसः करुण एव` मानने वाले भवभूति भी `अयमप्यपरा का ?` सीता द्वारा पूछे गए प्रश्न को लक्ष्मण के हाथ से उर्मिला का चित्र ढका कर -- सदा के लिए ढका छोड़ गए, ऐसी उपेक्षिता उर्मिला को `साकेत` काव्य में प्रतिष्ठित करने का महत् कार्य गुप्त जी ने किया । साकेत की ये दोनों नारी सृष्टियाँ कवि की सृजनात्मक क्षमता का अन्यतम उदाहरण है ।

`साकेत` का रूपविधान नया है । इस महाकाव्य में राम और सीता के समक्ष उर्मिला और लक्ष्मण को नायक-नायिका बनाना साहस का ही काम है । उर्मिला के विरहोच्छ्वास को गीतों में ढालते हुए नवम् सर्ग का निर्माण किया गया है जो गीतिशैली का निखार है । एक ही सर्ग में [illegible] नाना छंद भी [illegible] और छंदों की परिभाषाओं के खिंचे दायरे को विस्तृत कर देते हैं । `साकेत` में समस्त घटनाओं की [illegible] द्वारा कवि ने स्थानऐक्य का ध्यान रखा है ।

रामकथा को युगानुकूल कल्पना और उद्भाविका शक्ति द्वारा सजाते हुए कवि ने कथा सौष्ठव को चारुता प्रदान की है । लक्ष्मण और उर्मिला का दाम्पत्य-जीवन, जिसमें हास-परिहास, एकान्त-विलास के मार्मिक दृश्य सजीव रूप में अंकित हैं, अत्यन्त मार्मिक हैं । विदग्ध वाक्-पटुता और विनोदशीला मनोवृत्ति ने संलाप शैली को अद्भुत क्षमता दी है ।

कैकेयी का दोष प्रक्षालन के लिए अध्यात्म रामायण के आधार पर तुलसी ने सरस्वती को दोषी ठहराया है जो वाल्मीकि रामायण के गौडीय और पश्चिमोत्तर पाठों में एक ब्राह्मण के शाप का उल्लेख किया गया है । एकमात्र गुप्तजी ने अपने उर्वर कल्पना और रसानुभूति से कैकेयी को सफलतापूर्वक दोषमुक्त किया है । मातृत्व और वात्सल्य प्रेम पर होने वाले आघात का वर्णन कर उसके सहज दर्प और स्वाभिमान की आँधी को उठते हुए दिखाया है गया है जिसके वशीभूत हो वह दुष्कर्म कर बैठी । कैकेयी की आत्मग्लानि, स्वयं अपराध का स्वीकार और पश्चाताप देखकर चित्रकूट में राम के साथ सारी सभा चिल्ला उठी --

सौ बार धन्य वह लाल की माई ।
जिस जननी ने जना भरत सा भाई ।।

अलौकिकता को लौकिक रूप देकर कवि ने हिमालय सहित संजीवन लाने वाली असाधारण क्षमता को न दिखाकर एक योगी द्वारा मिली संजीवनी भरत हनुमान को देते हैं -- ऐसा दिखाकर इस प्रसंग को 'साकेत' में अन्तर्मुक्त कर दिया है ।

भरत आदि अयोध्यावासियों को हनुमान द्वारा लक्ष्मण, मूर्च्छा ज्ञात हुई -- यह वर्णन प्राय: सभी काव्यों में मिलता है, पर उसे जानकर क्या प्रतिक्रिया हुई इसकी सभी ने उपेक्षा की है । भरत सहित समस्त अयोध्यावासी युद्ध करने को प्रस्तुत हो जाते हैं । वीर दुर्गा सी उर्मिला उनका नेतृत्व करने को तत्पर है । ऐसे आड़े समय में वशिष्ठ योगशक्ति द्वारा सबों को वहीं से चित्रपट के समान लंका में हुई घटनाओं को दिखाते हैं । 'साकेत' नामकरण सार्थकता के लिए इस नवीन प्रसंग की उद्भावना की गई है ।

उर्मिला का विरह-वर्णन हिन्दी साहित्य में अद्वितीय है । `साकेत` के एक अधिकारी विद्वान् ने तो यह दावा किया है कि साकेत के विरह-वर्णन का विशिष्टता को पूरे साहित्य में कहीं भी नहीं खोजा जा सकता[1] । यक्ष अपने संदेशवाहक के प्रति कृतज्ञ होकर--`मामूदेवं क्वचिदपि नते विद्युता विप्रयोग` अर्थात् हे मेघ । बिजली से तेरा वियोग न हो -- कहता है पर `साकेत` का उर्मिला फूल और शाखाओं के वियोग को भी सहन नहीं करता[2], बल्कि किसी स्वाती के पिंजरबद्ध पक्षियों को मुक्त कर देना चाहती है । कवि को यह बात खटी थी कि वियोगिनी अपने दुःख में दूसरों को भी दुखी न देख सके और सृष्टि के स्वाभाविक विकास में बाधा बनकर ऐसे उद्गार प्रकट करने लगे जैसे `ह्वै के दुजराज काज करत कसाई के ।` जिस जाति के पुरुष `कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्` तक जायें, उसमें मुझे उर्मिला का यही कहना उचित लगा -- `हँसो हँसो हे शशि, फूल फूलो[3] ।`

रीतिकाल में जितना विरह-वर्णन है, उतना आधुनिक काल में नहीं मिल सकेगा । परन्तु वहाँ-काम प्रपीड़िता के उच्छ्वास संगृहीत हैं तो `साकेत` की नायिका भोगिनी नहीं योगिनी होने के नाते कामदेव को अपने सिन्दूरबिन्दु के सामने झुका देने की क्षमता रखती है । रीतिकालीन विरह में नायिका को जगत से विच्छिन्न केवल विरहजन्य लपटों में जलते दिखाया गया है तो `साकेत` की उर्मिला विरहावस्था में ही संसार का अस्तित्व समझ पाती है --

जाना मैंने इस उर में थी ज्वाला भी जलधार भी
प्रिय ही नहीं यहाँ मैं भी, और एक संसार भी ।

युगयुगों से चली आती रामकथा को आधुनिक काल के सन्दर्भ में ग्रहण करने के लिए गुप्त जी ने ईश्वर को मानव रूप प्रदान किया है । इस प्रयत्न में कवि राम के चरित्र का कितनी कुशलता से निर्वाह कर पाया है -- यह विचारणीय प्रश्न है । `साकेत के राम भले ही हमारी धार्मिक भावना के म्यूजियम का संचनीय संपत्ति

१- साकेत के नवम सर्ग का काव्य वैभव, [illegible]--डा० कन्हैयालाल सहल

२- साकेत ६।२६६

३- साकेत के नवम सर्ग का काव्य वैभव उद्धृत,पृ० १६५

हों, किन्तु सम्भवत: वे हमारे दैनन्दिक जीवन के पथ पर मशाल नहीं जला सकते । जब लक्ष्मण ने अपने भाई से कहा था कि --

पर हम क्यों प्राकृत-पुरुष आपको माने
निज पुरुषोत्तम को प्रकृति क्यों न पहचाने ?

तो यहां पुरुषोत्तम का अर्थ नर रत्न या महात्मा नहीं समझना चाहिए । पुरुषोत्तम से तात्पर्य है साक्षात् ईश्वर से, अधिक से अधिक ईश्वर के अवतार से । लक्ष्मण के समान ही हम 'प्राकृत-पुरुष' उस ऊँचाई तक पहुंच पाने में असमर्थ है और रहेंगे[1] ।' शंका कुछ अंशों में उचित कही जा सकती है । 'साकेत' के कवि ने बापू को लिखित अपने विविध पत्रों में इस सत्य को स्वीकार किया है कि राम के चरित्र में आवर्तन प्रत्यावर्तन करने में कवि की दास्य-भक्ति आड़े आई है । वैष्णव कवि ने राम-कथा को परिवार कथा बनाने का प्रयास किया है -- यह सर्व स्वीकार्य है । मानवतावादी दर्शन ने कवि को लोक संग्रहकार कवि बनाया है । प्रेम,करुणा ,तप ,त्याग आदि के साथ वर्तमान अहिंसा, सविनय अवज्ञा सत्याग्रह आदि को भी कवि ने प्रतिष्ठित किया है ।

राष्ट्रीयता के उद्बोधक कवि होने के नाते गुप्त जी का आधुनिक हिन्दी साहित्य में गौरवशाली स्थान है । 'हिन्दु' आदि रचनाओं के बाह्य कलेवर के आधार पर उन्हें ऐसा जातीय कवि कहना जिसकी जातीयता राष्ट्रीयता तो मेल में न हो' -- सर्वथा असंगत है । जातीय गौरव को भूली हुई जनता को जगाकर ही उस काल में राष्ट्रीयता के सर्वोच्च पुरुष गांधी जी राजनीति से अधिक संस्कृति के नेता दिखायी देते हैं । दिनकर जी के अनुसार 'साकेत के भीतर भारत की राष्ट्रीयता एवं स्वाधीनता संग्राम दोनों की पदचाप स्पष्ट सुनायी देती है[2] ।' ननिहाल से लौटने पर शत्रुघ्न जब क्रोध से काँपते हुए कहते हैं --

---

१- गुप्त जी की कारुण्य धारा,पृ० ६३ -- धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी

२- मैथिलीशरण गुप्त अभिनन्दन ग्रन्थ,पृ० १७५-७६ -- दिनकर

वह प्रलोभन हो किसी के हेतु ।
तो उचित है क्रान्ति का ही केतु ।।
दूर हो ममता, विषमता मोह ।
आज मेरा धर्म राजद्रोह ।।

तब पहले पद से तो भारतीय क्रान्ति का औचित्य (डा० राजेन्द्र प्रसाद का यह नारा -- ' इन इंडिया सेडिशन इज़ नाट ए क्राइम बट धर्म) और उसकी आवश्यकता ध्वनित होती है, तथा दूसरे पद में जाग्रत विश्वास को गहरानीव दी गई है ।

'साकेत' के कवि ने भगवान की भक्ति को महच्चरित्र के प्रति समर्पित श्रद्धा-भाव या 'वीर पूजा' बना दिया । 'मेघनाद वध' के समान 'साकेत' भी लोकोत्तरत्व की प्रतिक्रिया है । मेघनादवध के रचयिता ने जहाँ असुरों की महत्ता सिद्ध करने के लिए राम जैसे महच्चरित्र को 'कायर', 'भीरु', 'हततेज', 'मायावी' आदि विशेषणों से विभूषित किया है वहां 'साकेत' के कवि ने तुलसी के राम को मानवत्व के चरम निदर्शन के रूप में घर-आँगन में प्रतिष्ठित किया है । आर्य संस्कृति के अनुगायक ने किसी व्यक्ति या जाति से घृणा प्रदर्शन करने का प्रयास नहीं किया है ।[१] 'साकेत' में रावण और मेघनाद असत् के प्रतीक बनकर नहीं आए हैं वरन् वे भी मानवीय मनोभावों से संयुक्त हैं । रामायणकार महर्षि ने उस विष की आंशिक अभिव्यक्ति की है जो वैदिक ऋषियों ने अनार्यों के प्रति उद्गीत किया । आधुनिक युग में , जब आर्य और अनार्य एकाकार हो गए हैं, उनमें वह विद्वेष और जेता एवं जित का भाव नहीं है -- मधुसूदन ने आर्य प्रपीड़ित अनार्यों को सहानुभूति का पात्र बनाया । महाकवि गुप्त जी ने इन दोनों रेखाओं को 'साकेत' के क्षितिज पर मिला कर 'एक' कर दिया है ।

वियोगिनी उर्मिला लक्ष्मण को मरणासन्न स्थिति में सजग और सक्रिय हो उठती है । कुम्भकर्ण और मेघनाद के मरण-समाचार से जब रावण जैसा

१- साकेत एक अध्ययन, परिचय, पृ० ११

महायोद्धा मूर्च्छित हो जाता है तब उर्मिला का वीरोल्लास भले ही भावोच्छ्वास की चरम सीमा कहा जाए -- मनोवैज्ञानिक स्वाभाविकता से परे की वस्तु जान पड़ता है।[1] इस स्थिति के दो कारण हैं -- एक तो 'मेघनादवध' का प्रभाव, दूसरा आधुनिक नारी भावना का प्रभाव। आज की नारी पति मरण सुनकर कायरता का परिचय नहीं देगी, प्रत्युत जीवन संग्राम के सुभट वीर की कर्मण्यता, उत्साह और तत्परता से युक्त होगी। अत: यह प्रसंग मनोवैज्ञानिक दृष्टि से समाधान ही है। नैराश्य-प्रतिक्रिया का आक्रामक या संवेगात्मक होना परिस्थिति के प्रत्याघात पर निर्भर करता है। उर्मिला के अन्दर हम उसी युयुत्सा को पाते हैं जो स्वतन्त्रता संग्राम के सेनानियों में थी। लक्ष्मण के आगमन की अवधि जोहती विरहिणी के सामने अब केवल अँधियारा था। ऐसी स्थिति में या तो व्यक्ति कायर के समान निष्क्रिय हो हथियार छोड़ देता है या जीवन का मोह छोड़कर संग्राम में उत्साह के साथ कूद पड़ता है। सती प्रथा निरोध से पूर्व भारतीय नारी ने पहला रास्ता लिया था -- गुप्त जी की उर्मिला के आधुनिक नारी ने दूसरा मार्ग अपनाया है।

रामकाव्य की परम्परा में तुलसी का मानस एक रचनात्मक चुनौती के रूप में है। आधुनिक युग की तार्किकता और बौद्धिक जागरूकता के बीच तुलसी का 'नाना पुराण निगमागम सम्मत' कथा को लेकर 'साकेत' महाकाव्य का सर्जना साहस की बात है। अपने जीवन और साहित्य दोनों में गुप्त जी का व्यक्तित्व सोलह आने भारतीय है। वे माटी से लिपे-पुते गाँवों की सुषमा का गायन करते हैं, परम्परा प्रचलित उत्सवों, पर्वों और मान्यताओं के प्रति आस्थावान् हैं। उन्हें एक सामान्य भारतीय जीवन का वास्तविक प्रतिनिधि माना जा सकता है जो न तो संस्कृत या अंग्रेजी के प्रभाव से अभिभूत है और न जिसका मानस-पटल रूढ़िवादिता से आक्रान्त है। गुप्त साहित्य उनके व्यक्तित्व का दर्पण है। उनके

१- मैथिलीशरण गुप्त : व्यक्ति और काव्य--डा० कमलाकान्त पाठक, पृ०४३६

व्यक्तित्व के समान उनका कृतित्व भी उस भारतीय संस्कृति का आगार है जो जन-जीवन में बिखरी हुई है । `साकेत` में लोक और अभिजात्य -- दोनों से पृथक् भारतीय संस्कृति अपने देसीपन में व्यक्त हुई है । इस दृष्टि से `साकेत` भारतीय संस्कृति का जन-काव्य है । गुप्त जी के महाकाव्य का सांस्कृतिक पृष्ठाधार युगधर्म की अनुकूलताओं को स्वीकार करते हुए भी परम्पराओं के सार अंश का प्रतीता है । इस दृष्टि से कवि पुनर्जागरणकालीन रचनाकारों में शीर्ष स्थानीय है[१]। `पुनरुत्थान ने हमारी सारी संस्कृति सम्पूर्ण इतिहास और समग्र विचार पर जो नया आलोक फेंका, उसकी सबसे अधिक अभिव्यक्ति सबसे प्रथम मैथिलीशरण गुप्त की ही कविताओं में हुई । इसलिए हिन्दी में पुनरुत्थान के वे ही कवि माने जायेंगे , ठीक उसी प्रकार जैसे बंगला में पुनरुत्थान के कवि श्री रवीन्द्र नाथ ठाकुर हुए हैं[२]। `पुनर्जागरण काल में भारतीय संस्कृति की गंगा को `साकेत` महाकाव्य के माध्यम से जन-मानस की वसुन्धरा पर उतारने वाले राष्ट्र कवि की भागीरथी साधना चिरस्मरणीय रहेगी ।

१- मैथिलीशरण गुप्त: कवि और भारतीय संस्कृति के आख्याता--डा० उमाकान्त पृ० ५७६

२- मैथिलीशरण गुप्त अभिनन्दन ग्रन्थ-- दिनकर,पृ० ६७३

कामायनी

-0-

जयशंकर प्रसाद के महाकाव्य 'कामायनी' (१९३६) का प्रकाशन बीसवीं शताब्दी की महत्वपूर्ण घटना है। इस जीवन-काव्य ने यह सिद्ध किया कि छायावादी कवि आँख मूँद कर कल्पना-लोक में नहीं रहता, अपितु सांस्कृतिक चेतना के सहज प्रवृत्त रूप को वाणी देता है। सांस्कृतिक आस्थाओं तथा राष्ट्रीय मान्यताओं के साथ-साथ भौतिकवादी दृष्टि, जीवन की सम्पूर्णता के प्रति भावात्मक आग्रह को शैवदर्शन के अनुयायी 'प्रसाद' ने श्रद्धा, इड़ा, मनु के ऐतिहासिक प[illegible] आख्यान के सहारे आनन्दवादी धरातल प्रदान किया है।

प्रसाद जी की सर्जनात्मक क्षमता ने जीवन्त आस्थाओं, अविघटित सौन्दर्यबोध के उपादानों, [illegible]शील मानवमूल्यों और नूतन प्रकाश ग्रहण करती जीवन-दृष्टि द्वारा उद्घाटित नूतन [illegible] को, संश्लेष रूप में 'कामायनी' में प्रस्तुत किया है। कामायनी में भारतीय संस्कृति का संवहन है, यही उसके उद्देश्य की महानता है। कामायनी की महायात्रा में हमारा मनोजगत्, भावजगत् और भौतिक जगत अपनी सम्पूर्ण गाथा सुनाता है, मानव जीवन की संचित [illegible] और [illegible] उभर कर उठती हैं। यों तो महाकाव्य में जातीय-राष्ट्रीय संस्कृति का प्रतिफलन अनिवार्यरूप से होता ही है— इस पर भी 'कामायनी' मात्र भारतीय नहीं अपितु समूची मानवीय संस्कृति का आख्यान है और वर्तमान सांस्कृतिक [illegible] के प्रति उसमें [illegible]त्यक्षत: गहरी [illegible] है।

१- शिल्प और दर्शन, डॉ०-सुमित्रानन्दन पन्त, पृ० २०८-२०९

<u>सौन्दर्य बोध</u>

द्वितीय युगीन इतिवृत्तात्मकता, शुष्क उपदेशात्मकता के विरोध में प्रसाद ने विशुद्ध रोमाण्टिक दृष्टिकोण अपनाते हुए, रसात्मक बोध के लिए बौद्धिकता का संयत उपयोग करते हुए सौन्दर्य का अनुगायन किया। कीट्स की-सी सौन्दर्यासक्ति प्रसाद में विद्यमान है, शैले सा प्रेम और सौन्दर्य के प्रति उनके हृदय में रुझान है। 'सौन्दर्य उनके काव्य का प्रधान आकर्षण है, प्रेम उनका प्रिय विषय है।' रूप और सौन्दर्य का निर्भीक होकर सांकेतिक और सूक्ष्म अंकन करना, पुन: 'रूप' में 'अरूप' को देखना संयोग और वियोग के व्यक्तिगत उद्गारों को व्यक्त करके भी उसमें ब्रह्म के लिए आत्मा के आकुल सम्भार को प्रतिष्ठापित करना— अर्थात् 'प्रतीक को यथार्थ में' और 'यथार्थ को प्रतीक में बदल देना — प्रसाद की सौन्दर्य तूलिका के अनिवार्य उपादान हैं। रवीन्द्र के समान प्रसाद ने भी 'सौन्दर्य मूर्ति को ही मंगलमय मूर्ति माना है।' उनके मतानुसार सौन्दर्य उस महाचेतना के वरदान स्वरूप प्राप्त होता है[1]। महाचिति द्वारा प्रदत्त अंश विशुद्ध होगा ही। शैवदर्शनानुसार निस्तरंग शिव के निश्चल आनन्दसागर में जब शक्ति सौन्दर्य की तरंगें उत्पन्न करती हैं तभी यह नाना रूपात्मक सृष्टि प्रकाश पाती है। अस्तु समस्त जागतिक पदार्थों में उसकी परम सौन्दर्याभा बिखरी है जो हमारी चेतना को हठात् अपनी ओर खींचती है[2]। सनातन सौन्दर्यासक्ति का शतदल खिलता है उस समय जब शैशव की स्निग्ध ज्योत्स्ना से सिक्त मन यौवन के प्रथम प्रभात की रश्मियों का होठों से किया गया संस्पर्श अनुभव करता है। सौन्दर्य उन अतृप्त अभिलाषाओं से [illegible] यौवन-विटप का मधुमय सुमन है जिसमें प्रेम का पराग भरा रहता है। लाज भरे सौन्दर्य के मौन को यौवन के रस-[illegible] को पीता प्रेमी तोड़ना चाहता है[3]। कनककिरण

१– "Beauty is the Prime motive of all His excellence, His aim and peaceful purpose –Testament of Beauty by B. Robert.

२– [illegible] चंचल कूचियाँ [illegible] रहस्य हैं नाच रहीं

३– चन्द्रगुप्त नाटक

के अन्तराल में नयनों का इन्द्रजाल बनता सौन्दर्य अपने उस हृदय का दान करता है जिसमें चेतनता ही निज शान्तप्रभा से ज्योतिष्मान है । यहां सौन्दर्य का रूप मात्र देह तक परिसीमित होकर गरल बनकर विनाशक हो जाता है । `इड़ा सर्ग' में `काम' मनु के इसी अनजान अपराध का उद्घाटन करते हैं --

तुमने तो पाया सदैव उसकी सुन्दर जड़ देह मात्र ।
सौन्दर्य जलधि से भर लाए केवल तुम अपना गरल पात्र ।।

भारतीय संस्कृति ने सदैव आत्मा के सौन्दर्य को[1] प्यार किया है, यही कारण है कि तुलसी के राम सीता का मंगल विधायक आत्मिक सौन्दर्य मात्र शरीर की यष्टि से परे है । इसका यह तात्पर्य नहीं है कि `रूप' का बहिष्कार कर `सौन्दर्य' को अपनाया है । प्रसाद काव्य में रूप और बाह्य सौन्दर्य की अवहेलना नहीं है अपितु उन्हीं में से आन्तरिक प्रेम और सौन्दर्य के रसमयपूर्ण मनोमय सुमन खिलते हैं । सौन्दर्य के वस्तुपरक और आत्मपरक पक्ष का सामंजस्य करते हुए प्रसाद जी ने बाह्य सौन्दर्य को भी हृदय या आत्मा का ही प्रतिबिम्ब माना है --

हृदय की अनुकृति बाह्य उदार
एक लम्बी काया उन्मुक्त ।
मधु पवन क्रीड़ित ज्यों शिशु साल
सुशोभित हो सौरभ संयुक्त ।।[2]

प्रसाद ने मूल मनोवृत्तियों का तिरस्कार नहीं किया । वह उनका परिष्कार कर उन्हें जीवन के स्वस्थ तथा संयत रूप में उचित स्थान देते हैं । बिना श्रद्धा के रूप में विभोर हुए मनु न तो `तप नहीं केवल जीवन सत्य' जान कर `कर्म' में प्रवृत्त होते हैं और न उसके आश्रय बिना कैलाश पर महाचिति का अपार्थिव सौन्दर्य देख पाने में समर्थ हैं । "इसीलिए अमूर्त सौन्दर्यबोध कहने का कोई अर्थ नहीं हो सकता । सीधी बात तो यह है कि सौन्दर्यबोध बिना रूप के हो ही नहीं सकता ।"

१- काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ० ३२ -- जयशंकर प्रसाद

प्रसाद जी के समान सौन्दर्य के प्रेमी कवि विरले हैं और पार्थिव सौन्दर्य को स्वर्गीय महिमा से मण्डित करके प्रकट करने का इतना सामर्थ्य तो किसी में है ही नहीं।[3] आनन्दधाम तक सौन्दर्यमयी श्रद्धा ही ले जाती है —

> वह कामायनी जगत की
> मंगल कामना अकेली ।
> थी ज्योतिष्मती प्रफुल्लित ।
> मानस तट की वन बेली ।।

दुःखों को प्रतिक्षण आतो आँधी निस्तरंग सागर में पीड़ा की लोल लहरियों को जन्म देती है । बुदबुद के समान हमारा नश्वर-मानव-जीवन मरण तुल्य बीतता है । परन्तु तभी अमृत वर्षण होता है और जिस प्रकार वर्षा के पहले मेघ से सृष्टि का अंग-अंग लहराता है उसी प्रकार हमारे विश्वासों के सूखे तरु हरे-भरे हो जाते हैं । अमृतमय सौन्दर्य पवित्र ऊंचाइयों से जब जीवन की तलहटियों में बह उठता है तो सारी कुरूपता, निर्जीवता, अनुर्वरता का स्थान सुन्दरता सजीवता तथा उर्वरता ले लेती है[2]।

प्रसाद ने सौन्दर्य को व्यक्तिनिष्ठ माना है[4]। सौन्दर्य का भौतिक आधार होता है । बिना द्रष्टा की परिकल्पना के, उसके मानसिक संवेदन के सौन्दर्य ~~सौन्दर्य~~ का कोई मूल्य नहीं है । सौन्दर्य शान्त है, निष्क्रिय (Static) नहीं है अपितु वह जीवन की कविता है[4]। हम जीवन से पूर्ण सौन्दर्य में अपनी विचार सरणि (Conception) का अध्यारोपण करते हैं[4]। यदि एक ओर

1- हिन्दी साहित्य, पृ०४०४, हजारी प्रसाद द्विवेदी
2- भगवती वह पावन मधु धारा देख अमृत भी ललचाए ।
   वही रम्य सौन्दर्य शैल से जीवन जिसमें घुल जाए ।।(निर्वेद सर्ग —कामायनी)
~~3- ...~~
4 द्रष्टव्य
3- चिन्तामणि भाग दो, पृ० ३०-३१ शुक्ल रामचंद्र
4- Beautiful is that being in which we see life, as it should be according to our conception, beautiful is that object which expresses life and reminds life" - Selected Philosophical Essays - N.G.Chernisvesky.

द्रष्टा के नयनों में भरी वासना का आरोपण सौन्दर्य को धूमिल कर 'रूप' बना देता है तो दूसरी ओर आत्मा की कान्ति पाकर 'सौन्दर्य' की लतिका में प्रफुल्लित कुसुम समाननिज सौरभ से न जाने कितने मलयाचल महका देता है --

वासना भरी उन आँखों पर आवरण डाल दे कान्तिमान ।
जिसमें सौन्दर्य निखर जाए लतिका में फुल्ल कुसुम समान ।।

' जाकी रही भावना जैसी प्रभु मूरत तिन देखी तैसी ' की सी बात है । व्यक्तिगत रुचि ही सौन्दर्य के स्वरूप का निर्धारण करती है । दूसरी ओर प्रसाद ने सौन्दर्य को वस्तुनिष्ठ मान कर सौन्दर्य विषयक पाश्चात्य तथा पौर्वस्त्य दोनों ही दृष्टिकोणों का सन्तुलन स्थापित किया है । किन्तु प्रसाद का दृष्टिकोण इस स्थल पर मध्यकालीन संस्कृति के सौन्दर्य बोध से सर्वथा भिन्न है । उनके उन्नत सौन्दर्य विवेक ने एक ओर सौन्दर्य भोग की तृप्ति के लिए उपलब्ध सामग्री से संचयन किया है तो दूसरी ओर नवीन सौन्दर्य-साधन तथा सामग्री का निर्माण किया है । यही कारण है कि यहाँ बिजलियाँ गिराने वाले मारक रूप को नहीं अपितु उस कौंध को सौन्दर्य कहा है जिससे अन्तर की शीतलता ठंडक पाती है । अकृत्रिम सौन्दर्य ही श्रद्धा के रूप में नयनों का कल्याण करता है, मनु के उदासीन निर्जन में आनन्द कुसुम का विकसित होता है, वासन्ती वैभव में कोकिल का पंचम राग गाता है --

नील परिधान बीच सुकुमार
खुल रहा मृदुल अधखुला अंग ।
खिला हो ज्यों बिजली का फूल
मेघ वन बीच गुलाबी रंग ।।

कालिदास के समान 'प्रसाद' किमिव हि मधुराणां मंडनं नाकृतीनाम्' के विश्वासी हैं । 'सुन्दरम्' ही सत्य और शिव का केन्द्रीय भाव होता है जो अखण्ड आनन्द का विधायक है । उद्दाम अन्तर्द्वंद्व से विक्षुब्ध मानस इस सौन्दर्य का मृदुल स्पर्श पाकर शान्त हो जाता है । अतः, प्रसाद के सौन्दर्य-मानस का सम्पूर्ण उन्मेष श्रद्धा है । श्रद्धा में सौन्दर्य प्रेम और विश्वास का उदात्त रूप स्थापित है।

प्रसाद का कवि चिन्तक यह मानता है कि हम सौन्दर्य से ज्ञान पा जाते हैं किन्तु तर्क से सौन्दर्य नहीं पाते[1] यही कारण है कि श्रद्धा समन्वित मनु ही कैलास का आरोहण कर सकते हैं । उन्होंने तर्क रूपा इड़ा को प्रश्रय न देकर उस सुन्दरी श्रद्धा को महत्ता दी है जो जीवन से अनुप्राणित है, जो मनु की निस्पन्द चेतना को जीवन की घाटी में लाती है, उसके मचलते हुए शोलों को छूकर फूल बना देती है, पाषाणी अहिल्या सी इड़ा को हृदय के रस से सजीव बनाती है । यह सुन्दर श्रद्धा ही 'सत्य' का साक्षात्कार करा सकने में सक्षम है । प्रकृति पुरुष शिव शक्ति का सम्मिलन होने पर अखण्ड आनन्द का निखिल सृष्टि व्यापी प्रसार होता है — सत्य और सौन्दर्य तद्रूप हो जाते हैं । 'सत्य' और सौन्दर्य की इस समन्वित साधना से ही 'शिव' का साक्षात्कार होता है --

समरस में जड़ या चेतन
सुन्दर साकार बना था ।
चेतनता एक विलसती
आनन्द अखण्ड घना था ।।

जीवन दर्शन

..... संवेदनशील मानव व्यक्तित्व अपने जीवन की गतिविधि को इतिहास तथा ब्रह्माण्ड की पीठिका में भी आलोकित करती है । यह आलोचना उसे [illegible] या निराशावादी, भाग्यवादी या पुरुषार्थवादी और ऐसे ही दूसरे सम्बद्ध विचारों से [illegible] करती हुई उसमें जीवन के प्रति समग्र दृष्टि उत्पन्न करती है । इस दृष्टि को ही जीवन-विवेक कहते हैं[2] । वैदिक युगीन संस्कृति शक, हूण, पह्लव, मुगल और यूरोपीय सांस्कृतिक उपादानों को आत्मसात करती हुई अद्यावधि [illegible] रही है । तर्क, मनन, [illegible] और निरन्तर परिवर्तित वातावरण से अनुकूलन करने की प्रबल आवश्यकता के कारण, हमारी जीवन दृष्टि

1- "Verily by Beauty it is that welcome at wisdom yet not by wisdom at beauty."

2- [illegible]

जीवन पद्धति भी नानासोपानों से गुजरती है । वैदिक ऋषि ने एक ओर `जीवेम् शरद:शतम्` सहोक्ति सहो महि देहि` आदि प्रार्थना की तो कालान्तर में हमारे इतिहास के पृष्ठों पर सहनिरपेक्ष एकांगिता, बौद्ध विहारों और एकान्त कन्दराओं में व्यक्ति साधना अंकित हुई । पराधीन भारत में व्यक्ति की कुण्ठित चेतना ने स्वातन्त्र्य प्राप्ति हेतु अपने असफल उद्योग तथा तज्जन्य नैराश्य, क्लान्ति, अवसाद को भुलाने के लिए `पलायन` का पुन: सहारा लिया — तुलसी के लोकरंजक राम और गीता के कर्मयोगी कृष्ण के आदर्शों को निभा पाना दुश्वार हो गया । अंग्रेजी साहित्य का भारतीय शिक्षित वर्ग ने अध्ययन किया । एक ओर शोपेनहावर, हर्टमन, कांट , नित्शे से परिचय हुआ तो दूसरी ओर शैली, बायरन आदि रोमांटिक कवियों का निराशावाद भी उन्हें अपनी मानसिक स्थिति के अनुकूल व जान पड़ा । दु:खी ने दु:खी को सहारा दिया । हमारे साहित्य में भी आस्था का स्थान अनास्था, आशा व का निराशा, कर्म का पलायन ने ले लिया । कामायनी का चिन्ता सर्ग पढ़ने से आभासित होता है कि पराधीन मानव का प्रतिनिधि बनकर `मनु` विगत स्मृतियों का मधुरिम कोष लिए आँसू बहा रहा है । [illegible] बंदी [illegible] की आत्मा मुक्ति के लिए आकुल है किन्तु कोई रास्ता न पाकर [illegible] बनना, शतुर्मुर्ग के मानिन्द रेत में छिपा कर समस्त दु:ख-दैन्य से बाखबर हो जाना बेहतर समझती है —

> आह ! कल्पना का सुन्दर यह
> जगत मधुर कितना होता ।
> सुख स्वप्नों की दल छाया में
> पुलकित हो जगता सोता ।।

`सर्व` को महत्ता देने वाली भारतीय संस्कृति व्यष्टि प्रधान नहीं अपितु समाज की पीठिका पर व्यक्ति के विकास का मार्ग घोषित करने वाली है । पराजित स्वातन्त्र्य आन्दोलन की तिक्त स्मृतियों को लेकर निराश मानव समष्टि का आदर्श कैसे निभा पाता ? फलत: प्रत्येक इकाई को केन्द्र बनने का अधिकार का [illegible] करता, हमारे राष्ट्रीय [illegible] का ध्येय बना । प्रत्येक व्यक्ति की अभिव्यक्ति [illegible] व लिये लिखा, प्रत्येक टूटी-फूटी रेखा को हमारे चित्र [illegible] किस कैसे बन पाता ? इसी काल से वैयक्तिक चेतना ने अपनी आहुति

दिशाओं में पंख पसारे । औद्योगिक यंत्रणा के पूंजीवादी शोषण ने हमारी संवेदना को भुला दिया । हमारे आँचल दूसरों के आँसू तो क्या पोंछते जब कि अपनी अनवरत बहती अश्रुधारा से ही अवकाश न था । ग्राम संस्कृति का सीधा साधा मानव महानगरों के ~~कोलाहल~~ कोलाहल में इतना अभ्यस्त बन गया कि अपने पोषण के अतिरिक्त सर्वभूतहित की बात सोचने की उसके पास फुरसत न रही[1]। उन्हीं राजनैतिक, आर्थिक कारणों ने मानव की [illegible] को एकांकी, वैयक्तिक स्वार्थों में आलिप्त बना दिया । प्रारम्भिक सर्गों का मनु इसी पूंजीवादी सभ्यता की दुरभिसन्धि का शिकार मानव है जो साफ साफ अपनी मंशा ज़ाहिर करता है --

कहा मनु ने " नभ धरणी बीच
बना जीवन रहस्य निरुपाय ।
एक उल्का सा जलता भ्रान्त
शून्य में फिरता हूं असहाय ।।

पूंजीवादी समाज में यह मध्यवर्गीय मानव है जो न तो भौतिकता की धरती पर उतर पाता है और न आध्यात्मिक चेतना के आकाश को छू पाता है । लघु पूंजीवाद को अपने पैर जमाने में बहुत संघर्ष करना पड़ा-- एक ओर हाथ करघे का व्यवसाय लुप्त हो गया, लघु गृह उद्योग समाप्त हो गए -- दूसरी ओर ब्रिटिश पूंजीवाद के ~~साथ~~ संघर्ष में स्वयं को होम बढ़ाकर भी प्राप्तव्य के नाम पर निराशा ही हाथ आई । अपना कच्चा माल देकर छूटी तथा पक्का माल जहाजों से आता जिसे [illegible] की उनमें सामर्थ्य नहीं थी । उसे लगा कि जीवन एक ऐसी पहेली की उलझन है जिसका सुलझाव मात्र विस्मृति में खोजा जा सकता है[2]।

हमारी संस्कृति में यह 'व्यथा' की उन्मुक्त राशि कैसे आई ? कामायनीकार ने मनु की व्यथा का इतिहास इतनी विस्तृत भूमिका क्योंकर प्रस्तुत

१- कभी कभी पड़ी कमी को
छिन्न [illegible] --बच्चन जी
२- [illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible] -- [illegible]

किया ? इस प्रश्न का निदान खोजने के लिए हमें दूर नहीं जाना पड़ता । कामायनीकार के सामने प्रथम महायुद्ध के बाद की विषम परिस्थितियां थीं । प्रथम महायुद्ध के बाद हम भारतीयों ने यह महसूस किया कि साम्राज्यवादी जुए को हटाए बिना समुचित विकास की दिशा नहीं खोजी जा सकती । १९०२ में स्थापित लीग आफ नेशन्स और १९२० की प्रसिद्ध वार्साई की सन्धि ने नवीन दिशाएं देकर भारतीय चेतना को जगाया और हमें अंग्रेजों की 'फूट और शासन' की नीति अखरने लगी । तत्कालीन समाज के प्रतिनिधि कवि का मानस आत्म स्वातन्त्र्यमूलक नवीन मानव संस्कृति के सुनहरे स्वप्नों को साम्राज्य सजा रहा था और उसकी आंखों के सामने था १९१९ का जलियांवाला बाग का नृशंस हत्याकांड, १९२० का असहयोग आन्दोलन, १९२० का चौरीचौरा काण्ड, २९ में कांग्रेस की पूर्ण स्वाधीनता के ध्येय की घोषणा, ३० में गांधी जी की डाण्डी यात्रा । ऐसी भीषण परिस्थिति में 'पृथिवी पर स्वर्ग का देवदूत-- कवि' कैसे सरस बसन्त के गीत गा सकता था ? उसके मन में तो अमर आदर्शों के झीने जालीदार सपने थे और बाहर यथार्थ में शोषण, पीड़न और आलोड़न ।[1] बाहर और भीतर, यथार्थ और आदर्श, अनास्था के इस संघर्ष की पीठिका में ही भारतीय संस्कृति के व्यथावाद, निराशावाद, अनास्थावाद, पलायनवाद आदि नवीन जीवनादर्शों को समझा जा सकता है । सम-विषम परिस्थितियों के मध्य मानसिक-संघर्षलीन पीढ़ी नवीन जीवन मूल्यों, आदर्शों का निर्माण करती है ।[2] अत: पूर्व और पश्चिम के निकट सम्पर्कजन्य नाना परिस्थितियों में ही संक्रान्तिकालीन भारत-मानस को समझा जा सकता है । स्वाधीनता की ललकार कवि की सांसों में व्यथा बन छूट गया और उसकी चेतना को 'घनीभूत पीड़ा' ने मथ दिया । गौरवपूर्ण अतीत की स्मृतियों ने व्यथा की अग्नि में घृताहुति का कार्य किया --

---

१- आधुनिक हिन्दी काव्य में प्रेम और सौन्दर्य, पृ०३१५ डा० 'राकेश'

"Obviously, the process of synthesis of culture is not like a school -boy's arithmetic, merely addition and subtraction. Behind the ideas of past, there are many social facts and behind the heterogeneous beliefs there were the mental struggle of many [illegible]" -- Is there any contemporary Indian Civil[illegible] -- [illegible] V. K. Anand.

चिन्ता करता हूँ मैं जितनी
उस अतीत की उस सुख की ।
उतनी ही अनन्त में बनती
जाती रेखाएं दुःख की ।।

दूसरी ओर रोमांटिक काव्य का प्रतिवर्तन भी व्यथाग्राहक बना । स्वप्न और कठोर वास्तविकता के वैषम्य से वैयक्तिक अवसाद उत्पन्न होता है जैसा कि बायरन के 'चाइल्ड हेरल्ड' में दीख पड़ता है । नियति नटी के अति भीषण अभिनय की नाचती छाया में निराश मनु के समस्त प्रयास पावस रजनी में जुगनू पकड़ने के समान निष्फल थे । बीहड़ पथ के श्रान्त पथिक को ऐसा लगा कि उन्मुक्त शिखर हंसते हैं और वही अकेला आँसू बहा रहा है[1] । क्षण में जीने वाले मानव के होंठों की हँसी में गहराई तथा आँखों में सच्चाई समाप्त हो गई । मानव-मति का प्रतिनिधि मनु श्रद्धा समन्वित प्राचीन चिन्तन का सहयोग पाकर भी दिल की गहराई तक आनन्द और प्रसन्नता का अनुभव न कर सका फलतः इड़ा का आश्रय खोजता है किन्तु श्रद्धासमन्वित व गौरवशाली अतीत का स्वर्णकोष खोकर वह भविष्य को सुनहरा न बना सका । संक्रान्तिकालीन मानव के इस विकृत रूप को देखकर भारतीय संस्कृति के पराभव का भय होता है[2] ।

ऐसी विषम भयावह परिस्थिति में गीता के पुनर्व्याख्याता तिलक का भाष्य, पश्चिमी उच्च आचार संहिताओं को आत्मसात् करने का संदेश देता ब्रह्म समाज, पूर्व और पश्चिम को एक बनाने वाले विवेकानन्द, मध्यकालीन पतनोन्मुख संस्कृति के प्रति वैदिक संस्कृति के शाश्वत मूल्यों के सन्दर्भ में आर्य समाज का विद्रोह—नवीन सांस्कृतिक अवधारणा का निर्माण करने में संलग्न हुआ ताकि शिरोमणि भारतीय

१- तुलनीय० उन्मुक्त शिखर हंसते मुझपर रोता मैं निर्वासित अशान्त — प्रसाद, इड़ा सर्ग

तथा Smiling they live and call life pleasure
For me this cup has been dealt with another measure

संस्कृति के ह्रासोन्मुख तत्वों का बहिष्कार होकर बदलते हुए युग के परिप्रेक्ष्य में परम्परागत मूल्यों का प्रतिस्थापन हो सके ।" परम्परागत ज्ञान के प्रगतिशील तत्वों को समझना भी एक साधना है, उसको नवजीवन में निरूपित करना भी एक सांस्कृतिक सेवा है । कामायनी का यह उद्देश्य तथा महत्व प्रेरणा इसी का साक्षात् प्रतिफल है ।[1] प्रसाद की श्रद्धा ने निवृत्ति, वैराग्य, तप, पलायन, अनास्था, दुःख, क्षय आदि पर नूतन दृष्टि डाली है । इसमें नूतनता का वह उन्माद नहीं है जो श्रेष्ठ पुरातन प्राप्ति को ठुकरा दे । छायावाद के प्रमुख वैतालिक की इस कृति में सांस्कृतिक पुनरुत्थान और पुनर्मूल्यांकन का सम्पूर्ण युग सिमटा हुआ है । उसमें भारतीय चिन्तनधारा के अवरुद्ध स्रोतों का फिर से प्रसार प्रवाह दीख पड़ता है । कामायनी में भारतीय और पाश्चात्य तत्वचिन्तन का सामंजस्य है । अतीत के पट पर वर्तमान और उसकी समस्या का अंकन प्रसाद जी की कला का एक भव्य उपकरण है जिसे चन्द्रगुप्त, अजातशत्रु, ध्रुवस्वामिनी आदि नाटकों में प्रयुक्त किया गया है --कामायनी जिसका चरम निदर्शन ही है ।

दर्शन के क्षेत्र में जो अद्वैतवाद है, काव्य के क्षेत्र में वही रहस्यवाद है ।[2] रहस्यवाद तत्वानुभूति (*intuition*) पर आधृत एक व्यक्तिगत अनुभव है जिसके मूल में असीम के प्रति वह चेतना बोलती है जो मानव स्वभाव में जन्म से ही अन्तर्निहित होती है । कामायनी के चिन्तनपक्ष में उपनिषदों के अद्वैतवाद, बौद्धों की करुणा तथा प्रत्यभिज्ञादर्शन का आनन्दवाद तो प्रधान है ही साथ ही उसमें सकल शास्त्र अभिहित होने मात्र के नाते [illegible] का मंथन करते हुए भी सम-सामयिक या पाश्चात्य दार्शनिकों (मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद, फ्रायड के स्वप्न सिद्धान्त, न्यूटन के सापेक्ष सिद्धान्त, परिवर्तन नियम(थ्योरी आफ ट्रान्स-वैरिटी) आदि के साथ "नष्टोऽस्त्यावधि" के चाक्षुक नियम) के कतिपय मननीय

१- छायावादी काव्य : स्वरूप और व्याख्या, पृ०-- डा० रा०द० सिंह (कवीता)

२- छायावाद युग, पृ० १३२--डा० शम्भू० सिंह

३- [illegible] बाँ देखा बाला भान ।
[illegible] पामर नाम ॥
आचार्य [illegible] [illegible] सर्वे

अंशों को कामायनी में स्थान दिया । रहस्यवाद के पीछे वह जन्मजात जिज्ञासा छिपी है जो जीवन के अन्तिम अध्याय तक नानारूपों में प्रस्फुटित होती रहती है । विद्यमान पदार्थों का परिचय प्राप्त करने की सहज जिज्ञासा "कस्मै देवाय हविषा विधेम" का अनुमान में ही अज्ञात सृष्टा का परिचय प्राप्त करने को आकुल-व्याकुल हो उठती है[1] । यही जिज्ञासा विभिन्न कलात्मक संवेदनाओं में पर्यवसित होकर संवर्द्धित होती है । प्राय: सभी रहस्यात्मक चिन्तन जागतिक क्षणभंगुरता के कारण दृश्य से अदृश्य की ओर भव्य से अभव्य की तथा स्पर्श्य से अस्पृष्ट की ओर बढ़ने की प्रवृत्ति से आकुल है । दिक्काल निरपेक्ष, आधन्तशक्ति स्वरूप ब्रह्म को सत्य मानकर शेष तत्व को मिथ्या अभिहित किया गया[2] ।

कामायनी में जीवन और जगत् के प्रति निषेधात्मक दृष्टिकोण नहीं है (यद्यपि पलायन का अंश भी है) क्योंकि प्रवृत्ति और निवृत्ति अन्योन्याश्रित हैं । एक व्यक्ति में अनेक वृत्तियों का विकास होते हुए भी ऐसा कभी नहीं होगा कि उसकी तमाम वृत्तियां या तो प्रवृत्तिमूलक हों या निवृत्तिमूलक हों[3] । जीवन उदय के नाते यदि प्रवृत्तिमूलक वृत्तियाँ होंगी तो दूसरी ओर निवृत्तिमूलक वृत्तियों का जोड़ भी बराबर चलता रहेगा, क्योंकि निवृत्तिमूल वृत्तियां प्रवृत्ति मूल वृत्तियों का ही अर्द्धांग हैं । इसीलिए गहन प्रवृत्ति की संदेशिका बनकर "कामायनी" निवृत्तिमूल वृत्तियों का भी अंश [illegible] किए है । जीवन-उदय के आशा, आस्था, आदि प्रवृत्तिपरायण अंशों को उद्घोषित किया है -- निराशा, अनास्था, निवृत्ति के ध्वन्सावशेष पर अवस्थित होकर । अत: कामायनी को पलायनवादी रचना कहना उसके महान् संदेश की [illegible] करना है । केवल निषिद्ध आत्मरत मनु के उद्गारों के अत्यल्प अंशों को प्रसंग से तोड़कर -- कामायनी को इस विरोधी रचना कहना वैसा ही है जैसे अर्जुन कथित प्रथम अध्याय के कर्म-[illegible] अंश को लेकर गीता को वैराग्य [illegible] रचना [illegible] सिद्ध करना । महाकाव्य के नाते कामायनी में दर्शित जीवन असंख्य

१- हे विराट हे विश्वदेव तुम कुछ हो ऐसा हो होता भान ।
मन्द गम्भीर धीर स्वर संयुत यही कर रहा सागर गान ।" -- कामायनी चिंता सर्ग
२- "......हिन्दुस्तानी संस्कृति ने जीवन से इन्कार कर कभी और कहीं नहीं किया, [illegible] [illegible] से ऐसा व्यक्त किया है ।" हिन्दुस्तान की कहानी, पृ०

क्षणों की अखण्ड परम्परा है, अनैकान्तिक व्यक्तियों के सम्बन्धों का --(व्यक्ति मात्र में आत्मलीन निसंग अन्तर्भाव का नहीं)- ताना बाना बुनता हुआ देश और काल की [illegible] सीमाओं तक अपना विस्तार करता है ।

कामायनी में परम्परागत ऐतिहासिक चिन्तन को अनुभूतिमय जगत् के बीच देखा है । सापेक्षिक रूप में 'ब्रह्म सत्य' के साथ 'सत्यरूप जगत्' भी है, प्रकृति और मानव, जगत और जीवन में अखण्ड आस्था भी है । कामायनी का आदर्शवाद जीवन में प्रवेश के लिए है[१] । कामायनी का पलायन सृजन के लिए है, कर्मण्यता के लिए है । यहां मनु के संघर्षाकुल पलायन में भी जिजीविषा, आस्था और संकल्प को बल देने वाले स्वर हैं --

तप नहीं केवल जीवन सत्य
करुण यह क्षणिक दीन अवसाद ।
तरल [illegible]कांक्षा से है भरा
सो रहा आशा का आह्लाद ।।

यहां भारतीय संस्कृति का वह शाश्वत स्वरूप है जिसमें निधि है निषेध नहीं, सापेक्षिकता है [illegible] नहीं । [illegible], महर्षि दयानन्द, रामकृष्ण, विवेकानन्द, तिलक आदि ने प्रवृत्ति पर इतना ज्यादा जोर दिया कि सारा हिन्दू दर्शन प्रवृत्ति के ही उत्स सा दीखने लगा और सन्यास को गार्हस्थ्य से श्रेष्ठ समझने की जो बाधा थी वह आप से आप क्षीण होने लगी[२] । कोरे त्याग पर व्यंग्य करती हुई श्रद्धा मनु के अन्तरतम में [illegible] दृष्टि डालती हुई कहती है कि तुम्हारे शरीर मानस के किसी न किसी कोने में जीवन-लालसा निःशेष है, त्याग का यह तुम्हारा रूप बंचना ही है । सन्यास दुःखों से, जगती के संघर्षों से

१- [illegible] काव्य पर यह दोष लगाया जाता था कि उसमें जीवन और जगत् को खुली आंखों देखने की क्षमता नहीं है किन्तु कामायनी जैसे जीवन-काव्य के होते इस कथन को आंख मूंद कर ही स्वीकार किया जा सकता है --कामायनी दर्शन, पृ०१२५-- [illegible]

घबराने वालों की विश्रामस्थली नहीं है। यह विस्तृत प्रकृति-वैभव तुम्हारे लिए है, कर्म द्वारा इसे भोगो, भोग द्वारा पुनः कर्मों की श्रृंखला उत्पन्न करो[1]।

प्रसाद ने शाश्वत आदर्शों की पुनर्व्याख्या युग के तार्किक परिवेशानुकूल की। उन्होंने भली प्रकार समझ रखा था कि नये युग की नई परिस्थितियों के बीच ही चिरन्तन प्रगति मूली तत्वों की नूतन प्रतिस्थापना करने की आवश्यकता है[2]। इसलिए मनु द्वारा उठाए गए सभी तर्कों तथा शंकाओं का समाधान श्रद्धा प्रस्तुत करती है। कर्म-पराङ्मुख मनु के जड़ता के स्तूप बने जीवन को यह आशा की कलियाँ देकर-- गीता के कर्मण्यवाद का संदेश देती है --

> कर्म संसृति के मूल रहस्य
> तुम्हीं से फैलेगी यह बेल।
> विश्व भर सौरभ से भर जाय
> सुमन के खेलो सुन्दर खेल।।

आकर्षण और विकर्षण से भरी इस जगती में या तो आकर्षित होकर आत्मविस्तार करो या अपने को [illegible] का केन्द्र बनाकर सकल समृद्धि का उपभोग करो[3]। और तर्कना द्वारा परास्त होकर अन्त में मनु उस कैलास के अधिपति बनते हैं जहां कोई

१- एक तुम यह विस्तृत भूखंड
प्रकृति वैभव से भरा अमन्द
कर्म का भोग, भोग का कर्म
यही जड़ चेतन का आनन्द

-- श्रद्धा सर्ग

२- "The present age is undoubtedly an age of free thinking and criticism. The human intellect has been released from the dymatism of past, and the pet old nations and theories are, as a result, fast melting away before the rays of its searching scrutiny. Every time honoured conception, whether social, political or religious, is being recast in the new mould of thought and nothing accepted as valid until it has been satisfactorily tested by human reason." - Cultural Heritage of India.P.536,Vol I

३- हरी बन बरे अनुल अन्तस्तल अवसर है मंगलमय वृद्धि।
पूर्ण आकर्षण जीवन केन्द्र, खिंची आवेगी सकल समृद्धि।।

भी पराया नहीं — यह आत्मविस्तार का चरम सोपान है —

सब की सेवा न पराई
वह अपनी सुख संसृति है
अपना ही अणु अणु कण कण
द्वयता ही तो विस्मृति है ।

मनुस्मृति के जड़बन्धनों में आबद्ध होकर हमारी संस्कृति की सदानीरा सुरसरिता का प्रवाह पंकिल हो गया था । हमने नवागत जीवन विवेक, नूतन जीवन दृष्टि के लिए अपना कक्ष बन्द कर लिया था । परन्तु कोई भी संस्कृति जिसके चिन्तन के आकाश पर नूतन विचारों के उगते सूरज का कोई स्थान नहीं होता, अतीत का स्वर्णकोष लिए उस खंडहर स्वरूपा हो जाती है जिसकी वीरानियों को कोई पसन्द नहीं करता । पश्चिमी समाज के सम्पर्क ने हमारी उस [illegible] काल से रुकी धारा को पुनः जगाया जो क्रान्ति को सम्मानित करती थी । हमने सोचा कि हमें अपने कर्मों के [illegible] को दूर करना है तभी हम प्रकृति के शाश्वत यौवन का शृंगार कर सकेंगे[1] । इस महान् दुर्लभ अवसर की प्राप्ति हेतु हमें शरीर और आत्मा दोनों से ही सम्पूर्ण प्रयास करना होगा । सम्पूर्ण शक्ति से सम्पूर्ण कर्म ही हमारा समन्वित ध्येय होना चाहिए[2] । दुःखकातर मानव का अज्ञात जटिलताओं को अनुमित करके निष्क्रिय होना शोभास्पद नहीं है । गीता का कर्मयोग ही हमारा ध्येय होना चाहिए । स्वधर्म का पालन करते हुए निधन भी श्रेयस्कर है[2], जीवन का यह दाँव निराशा के हाथों में फेंकना हमारी संस्कृति के विरुद्ध है । कर्म में आस्था रखकर जीवन निर्वाह करो, अर्जुन के समान यदि जीतोगे तो इस लोक का भोग करो अन्यथा कीर्तियुक्त मरण से स्वर्ग के सुखों में जीओ । इसी जीवन-दृष्टि का उदात्त यशोगान कामायनीकार ने किया है —

१- प्रकृति के यौवन का शृंगार
करेंगे कभी न बासी फूल ।
मिलेंगे वे जाकर अतिशीघ्र
आज उत्सुक है उनकी धूल ।। — कामायनी श्रद्धा सर्ग

२- स्वधर्मे [illegible] भयावह — गीता

हार बैठे जीवन का दाँव
जीतते जिसको मर कर वीर ।

यह सत्य है कि मृत्यु अवश्यम्भावी है । किन्तु आत्मा की अनश्वरता पर विश्वास करते हुए हमें न तो कर्म से पराङ्मुख होना है और न दो दिन का जीवन है यह मानकर 'ऋणं कृत्वा घृतं पीबेत' की नीति को अपना लेना है । यूरोपीय [illegible]वाद और सार्त्र के अस्तित्ववाद ने हमारे इस जीवन-दर्शन को बदल दिया । तानाशाही फासिस्टों और टोटेलिटेरियन पद्धतियों के बीच मृत्यु की आकस्मिकता और अनिश्चितता का यूरोप ने गहरा और लम्बे समय तक अध्ययन किया । द्वितीय महायुद्ध की विभीषिका, टूटती हुई परिवार व्यवस्था ने मृत्यु के प्रति भय, जीवन की अनर्थकता जैसे एकान्त कुण्ठित चिन्तन को जन्म दिया । पुनर्जन्म को मानते हुए मृत्यु को ध्रुव सत्य माना । 'वासांसि जीर्णानि यथा विहाय...' जैसे उच्चादर्शों को पुन: प्रतिपादित करने की आवश्यकता उत्पन्न हुई । कामायनीकार ने [illegible] मृत्यु का अंक हिमानी सा शीतल माना है, वह सृष्टि के अणु-अणु में परिव्याप्त है । जीवन, क्षणभर उजाला करने वाली सौदामिनी की आभा है जिसे अन्ततोगत्वा मृत्यु की सान्द्र नीलिमा में छिप जाना है । अत: हमें 'Eat, drink and be merry tomorrow we shall die' और अमृत्व प्राप्ति के लिए की जाने वाली एकान्त कंदरा साधना — इन दोनों आत्यन्तिक सीमाओं से बचकर उच्चादर्शों की सन्निधि में जीवन व्यतीत करना चाहिए । 'इच्छा' तो सृष्टि उद्भावना का मूल उत्पाद है अत: उससे विरक्ति कैसी ? प्रसाद ने निवृत्ति से प्रवृत्ति की ओर ले जाने के लिए जीवन की शाश्वतता का अर्थ जन मानस तक पहुंचाना अनिवार्य माना ।

तत्कालीन समाज में अबोध लालसा, निर्बन्ध विलास की लम्बी धारा थी । समग्र विश्व का अस्तित्व पाने में जुट रहा था, कहा नहीं जा सकता था कि कौन से [illegible] की विभीषिका, कौन से हिटलर मुसोलिनी का बढ़ता आतंक — इस लीला को समाप्त कर दे, इस क्षीण तन्तु को छिन्न कर दे । अत: वासना तृप्ति की त्वरा [illegible] गई । प्रश्न यह उठता है कि भारतीय विचारधारा में यह [illegible] [illegible] है [illegible] [illegible] उपनिषदों [illegible] ।

असांस्कृतिक अंश कैसे आया ? किन विषाक्त परिस्थितियों के वशीभूत होकर हमने यह जीवनदर्शन बनाया ? प्रपीड़ित पराधीन भारतीय मानव ने अपनी आँखों "सोने की चिड़िया -- भारत" के वैभव का पराभव देखा था, उसने कर्ज़न की दमन नीति का उद्घोष सुना था , बंग विभाजन के दुष्परिणामों को सहा था । सुख वैभव में जीते हम दुःख के अस्तित्व को भूल जाते हैं । सरल विश्वासी भारतीय जनता पर ब अंग्रेजी शासन-चक्र गहराया -- उसकी सदियों पुरानी मान्यताएँ टूटने लगीं, ईश-विश्वास भी काँप उठा । सुख चलदल सा डोलता है -- फिर लघु जीवन क्यों न उसे भोगे, न जाने कब नाश और चिरनिद्रा स्वर्गीय सुखों को अपने प्रलय-नृत्य में छिपा ले--

> तुच्छ नहीं है अपना सुख भी
> श्रद्धे वह भी तो कुछ है ।
> दो दिन के इस जीवन का तो
> वही चरम सब कुछ है ।।

अबाध सुख की कामना से द्वन्द्व का जन्म होता है । "तृष्णा से क्षोभ, भय का विस्तार होता है । फलतः हमारी द्वन्द्वमूलक संस्कृति में द्वन्द्व का बहुमुखी विस्तार दीख पड़ता है[1] । ईश और मानव के द्वन्द्व के कारण कार्लमार्क्स तथा फायरबाख आदि के समान ईश्वर के अस्तित्व को ठुकराया । "ईश्वर" शब्द पूंजीवादी सभ्यता के शोषक वर्ग द्वारा शोषितों को दिया गया एक खूबसूरत खिलौना है । हमारा भावुक भारतीय, ईश्वर की अखण्ड आस्था में, अटूट विश्वास में न जाने कितने कष्टों को झेलता चला जा रहा था । मुगलों के मूर्तिभंजन पर भी सोमनाथ के शिव न बोले, अंग्रेज अधिकारियों के हिन्दू धर्म विरोधी प्रचार पर भी "केवल मौन" को रहने वाले ईश्वर से हमारा विश्वास उठ गया[2] ।

१- "The Key-note of this culture is conflict, antithesis, adharma, conflict between nature and man, between man and woman, between capital and labour, between class and class, between country and state, between nation and nation, between life and form". - India: A synthesis of culture Page, 194, By K.Motwani.

२- [illegible] ।
[illegible] ।।--[illegible]

पाश्चात्य शिक्षा ने हमें बौद्धिकता प्रदान की । हमने ऊहा अर्थात् बुद्धिवाद का सहारा लेकर "विकल्पों को संकल्प बनाया", जीवन के विस्तृत कर्म क्षेत्र में स्वयं को लगा दिया, विज्ञान को साधन बनाकर प्रकृति के अखिल ऐश्वर्य का शोध किया और पूंजीवादी सभ्यता का विशाल भवन निर्मित हुआ । ईश्वर और अल्लाह परवर से याचना करने वाले हाथ मशीनों में लग गए -- भावना का स्थान बौद्धिकता हार्दिकता का स्थान प्रस्तरशून्यजड़ता ने ले लिया । हमारे सम्बन्धों का जन्मान्तरीण सूत्र छिन्न हो गया -- मात्र औपचारिकता शेष रह गयी । ममता, स्नेह रहित जीव के शुष्क सम्बन्धों का जाल कैसे निभ पाता ?

यह विराग सम्बन्ध हृदय का
कैसी यह मानवता ।
प्राणी को प्राणी के प्रति बस
बची रही निर्ममता ।।

मरुत सदृश अबाध गति लेकर श्रद्धा का [illegible] मनु लू सा झुलसाता दौड़ता रहा किन्तु कौन सा फूल उसने खिलाया? प्रारम्भिक गौरव युग के संस्कार त्याग कर आधुनिक मानव व्यथित है, अनाश्रित है, विजन प्रान्त में उसकी पुकार बिलख रही है पर उत्तर नहीं मिलता । पुरातन को त्याग कर नवीन का धरातल न पा सकने पर यही स्थिति उत्पन्न होती है । प्रसाद का कलाकार चिंतक नूतन-पुरातन जीवनबोध का संश्लिष्ट रूप प्रस्तुत करता है । अतीत के पुनर्मूल्यांकन और पुनराभिव्यक्ति के द्वारा प्राप्त परम्परा के आन्तरिक रूपों को उन्होंने वैज्ञानिक भौतिकवादी की कसौटी में कसकर गत्यात्मक स्वरूप दिया, भारतीय संस्कृति की पावन शक्ति का अभिनव सोपान साहित्य में प्रतिष्ठापित किया । कामायनी के महत् संदेश में छिपा है भारतीय संस्कृति और विश्वजागरण का वह उत्स जो बाह्य दृष्टि से त्रस्त, आक्रान्त, उद्वेलित होने पर भी अन्दर से परिपुष्ट और अतल गम्भीर सागर सा सौम्य है । प्रसाद ने श्रद्धा को नयी चेतना की पुरस्कर्ता बनाया जिसकी नवजीवन दायिनी हमारी सांस्कृतिक [illegible] से प्रकाश ग्रहण करती है । वर्तमान की खोज में हम चाहे [illegible] पतंग का अन्त में डोर से बंधे पंछी की तरह [illegible]

तक आना होता है[१]। भारतीयता का अंश त्याग कर मात्र विदेशी अनुकरण हमारी उन विचार-सरणियों को तोड़ जाएगा जिनके सहारे हमने मानवता का इतिहास बनाने में अभूतपूर्व योगदान दिया है[२]। पूर्व और पश्चिम के रचनात्मक स्तर पर हुए अन्त: सम्पर्क का रूप 'कामायनी' में मिलता है जिसमें पश्चिमी सभ्यता और संस्कृति के अन्धानुकरण जन्य विघटन का, मनु की भटकन का सुदृढ़ अंकन है। अन्त में 'श्रद्धापाप-- प्रमोचिनी' उसे गन्तव्य तक ले जाती है। पतंग चाहे कितनी उन्मुक्त नीलाकाश में लहराए, पर उसका सीमान्त नहीं छूटे, मधु माधवी की लौनी लता निर्द्वन्द्व विहार करे पर उसकी ठौस जड़ें-भूमिगत आश्रय न छोड़ें-- इसी प्रकार हमारी संस्कृति अपने मूलभूत विचारबोध को अक्षुण्ण रखते हुए अन्यान्य प्रभावों को आत्मसात करके बदलते हुए प्रतिमाओं में जी सकती है यही कामायनी का जीवन को दिया हुआ दर्शन है।

कामायनीकार ने इस जीवन का खुली आंखों से अध्ययन किया था। द्वन्द्वों का उद्गम तो सदैव शाश्वत रहता वह एक मंत्र मानकर प्रसाद ने मार्क्सवादी द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त को अपनाया है। संघर्ष संसार का एक सनातन सत्य है। आधुनिक डार्विनवाद तथा भारतीय विकासवाद, जन्तुशास्त्रीय विकास के लिए संघर्ष को अनिवार्य मानता है। मूल शक्ति अव्याकृत मूल रूप में शक्तिवान् के साथ तादात्म्य रखती है फिर भी अपने विकृत और व्याकृत रूप में वह पुरुष के लिए निरन्तर ही संघर्ष उपस्थित करती है। 'प्रधान' से महत् होते ही वह एक पुरुष पुरातन को अनेक पुरुषों में, एक महादेव को अनेक देवों में बदल देती है और उन देवों के निवास के लिए न केवल अनेक मन्दिर(शरीर) बना डालती है अपितु उनके

१- भोर से सांझ पंछी दिसि विदिसि में भटकता रहता है। अन्यत्र शरण न पाकर अपने स्थान में लौट आता है। इसी प्रकार मन भी इधर-उधर भटक कर अन्त में प्राण का आश्रय ग्रहण कर लेता है -- [illegible]

२- आज की यह बात भी [illegible] जानी चाहिए कि नकल की बुनियाद पर [illegible] [illegible] सांस्कृतिक उत्पत्ति नहीं हो सकती।" - हिन्दुस्तान की [illegible]

आस पास चारों ओर अनेक आकर्षण -विकर्षण द्वय रूपों में व्यक्त होकर 'संघर्ष' की भूमिका प्रारम्भ कर देती है, इसीलिए वेद में महत् को देवों का एक असुरत्व कहा गया है।[1] संघर्ष विश्वजनक है —

> विषमता की पीड़ा से व्यस्त
> हो रहा स्पन्दित विश्व महान् ।
> यही दुख-सुख विकास का सत्य ।
> यही भू मा का मधुमय दान ।।

विकर्षित अणु ही आकर्षण के दुर्निवार चक्र में फंसकर सृष्टि का निर्माण करते हैं । प्रसाद दर्शित इस परमाणुवाद के मूल में संघर्ष तथा संघर्ष का सम्मिलन है —

> वह मूल शक्ति उठ खड़ी हुई
> अपने आलस का त्याग किए ।
> परमाणु बाल सब दौड़ पड़े
> जिसका सुन्दर अनुराग लिए ।

कामायनी में संघर्ष को न केवल प्राणिशास्त्रीय विकास की शर्त माना है अपितु उसे वैदिक समाज शास्त्र तथा आधुनिक मार्क्सवाद के प्रभाव में सामाजिक जीवन के विकास का मूल माना है । अन्तर यह है कि मार्क्सवाद जहां प्रस्तुत अवस्थान (थीसिस) के भीतर अन्दी आन्तरिक दुर्बलताएँ (इण्टर कान्ट्राडिक्शनस) का परिणाम प्रत्यवस्थान (एण्टी थीसिस) तथा उनका निराकरण समवस्थान (सिंथीसिस) मानता है तथा इस चक्र की निरंतर गति को मानता है वहाँ प्रसाद जी संघर्ष और द्वन्द्व की साम्यावस्थापर ही रुक जाते हैं । उन्होंने संघर्ष की समाज में विस्तृत भूमिका दिखाकर उसका परिशमन भी कराया है — यही मौलिक सर्वात्मक समता का निदर्शन है । कामायनी के प्रारम्भ में मानव और प्रकृति का संघर्ष, प्रलय के तरंग घातों के बीच दर्शित ई है —

1- क..... सौन्दर्य, पृ० [illegible] — डॉ० [illegible]

प्रकृति रही दुर्जेय पराजित
हम सब थे भूले मद में

मनु और श्रद्धा, मनु और इड़ा के बीच होने वाले संघर्ष में प्रसाद ने स्त्री-पुरुष समस्या को लिया है। विचारधाराओं के टकराव का परिशमन, अधिकार और अधिकारी की भावना का त्याग द्वारा सामंजस्य स्थापित होता है।

कामायनी में सामाजिक संघर्ष और भयंकर राजनैतिक क्रान्ति का चित्रण है। इसका मूल कारण इड़ा पर प्रजापति पर अतिचार नहीं अपितु पहले से चली आती प्रजा की असन्तुष्टि थी। मनु ने अपनी यांत्रिक सभ्यता द्वारा लोगों में लोभ, कृत्रिम दुःखों को सुख समझना तथा सम्पत्ति वितरण के वैषम्य से उत्पन्न आर्थिक शोषण द्वारा उनसे प्रकृतिशक्ति छीन कर अशक्त बनाया। आकुलि किरात के संघटन में भौतिकवाद और भोगवाद से उत्पन्न अशान्ति के बारूद का विस्फोट होता है। इसका निदान ऋषि मनु ने सोजा है कि राष्ट्र के नियामक वे हों जो कह सकें—

सब की सेवा न पराई
वह अपनी सुख-संसृति है।
अपना ही अणु अणु कण कण
द्वयता ही तो विस्मृति है।

मनु का आन्तरिक संघर्ष आधुनिक मानवी सभ्यता की सर्वप्रमुख विशेषता है। देवासुर संग्राम का क्षेत्र हमारा मानस है[१]। निरन्तर मनु इस संघर्ष में लीन है। क्योंकि आज हम यह मानते हैं कि सम्पूर्ण आत्मानुभूति एक कल्पना है। जीवन एक लम्बी प्रक्रिया (process) है[२], कुलार्वों की शृंखला है, एक अपनाए मूल्य का नूतन मूल्य की खोज पर उत्सर्ग है — अतः ऐसी स्थिति में संघर्ष की

It is important to notice that it is strife or conflict with himself with himself ... It is not a conflict of himself with something external to him, nor of one impulse with another impulse, he meanwhile remaining a passive spectator awaiting the conclusion of the struggle. What gives the conflict of desires its whole meaning is that is represents the man at strife with himself. He is opposing contestants as well as battlefield." - Psychology. Page 364-65 by J.Dewey.

पीठिका पर निर्माण होता है । इस प्रकार पश्चिमी विचारधारा की संघर्षात्मक विचारधारा को सामंजस्य में परिहार करते हुए प्रसाद ने कामायनी के माध्यम से पूर्व और पश्चिम का अवरोध रचनात्मक स्तर पर मिटाने का प्रयास किया है ।

नीति बोध

नीतिबोध का तात्पर्य उन विशेषताओं की चेतना से है जो मनुष्य को सफल एवं आकुल सामाजिक व्यक्ति बनाती हैं।[1] ऋग्वेद के अनुसार नये ऋषियों ने भी अग्नि को वैसे ही जाना जैसा पूर्व ऋषियों ने जाना था, वैसे ही हम पूर्वकालीन संस्कृति के सारभूत अंशों को स्वायत्त करते आगे बढ़ते हैं । "कृतानि पुनःकृतानि पूर्वजः" अर्थात् पूर्वज जिसे नहीं कर सके उसे पौत्रों ने पूर्ण किया--अश्वघोष की इस मान्यतानुसार हम युग की परिस्थितियों के बीच निरन्तर पूर्णता की ओर अग्रसर होते हैं[2] । पूर्व का ग्रहण, नवीन का निर्माण-- इन दोनों सहगामिनी प्रक्रियाओं के कारण हमारा जातबोध का नीतिबोध और सौन्दर्यबोध निरन्तर परिवर्तित होता रहता है । परिवर्तन का अर्थ ही जीवन है । आधुनिक पूँजीवादी समाज में नैतिक मानमूल्यों के नवीन प्रतिमान हैं । क्योंकि मानव की विशेषता नूतन मूल्यों के अन्वेषण और प्रशंसा में है[3] । मनु स्मृति विहित अनेक विधि-निषेधों की शृंखला ध्वस्त हो चुकी है । हमें यह स्वीकार करने में संकोच नहीं होना चाहिए कि पश्चिमी सभ्यता की बाढ़ में जहाँ हमने उपयोगी अंश को बहाया है, वहाँ पुरातन गलित अंश की खाद तैयार कर युगानुरूप क्रान्ति भी महकाया है । कामायनी महाकाव्य में हमारी नैतिक स्थापनाओं को घोषित किया गया है । पश्चिमी सभ्यता के उपकरणों को आत्मसात् सरलता से किया जा सकना सम्भव था किन्तु मान मूल्यों के पीछे किसी भी संस्कृति की जीवन्त विचारधारा की संगठित परम्परा होती है, वस्तुतः इसे

१- भारतीय संस्कृति, पृ० ११५ --- डा० [illegible]

२- संस्कृति का अवतार कैसा -- डा० वासुदेवशरण अग्रवाल साप्ताहिक हिन्दुस्तान

३- "Man is human animal, creating and appreciating values" -- Interrelation of Culture Page. 23, By Richard Mackeon."

से छिपाता है[1]। मनु व्यक्तिवाद का चरम रूप है —

> विश्व में जो सरल सुन्दर हो विभूति महान ।
> सभी मेरी हैं सभी करती रहें प्रतिदान ।।
> यही तो, मैं ज्वलित वाडव - वह्नि नित्य अशान्त ।
> सिन्धु लहरों सा करें शीतल मुझे सब शान्त ।।

व्यक्तिवादी चाहता है कि उसकी प्रत्येक बूँद अमर हो, उसकी प्रत्येक सांस का इतिहास बने, उसकी आराधना में प्रत्येक सुन्दर उपादान हो, उस विचारधारा से अन्य जनों को कोई कष्ट होता है, अवरोध उत्पन्न होता है — उसको उसे कोई परवाह नहीं । किन्तु हमारा नीतिशास्त्र 'सर्वेभवन्तु सुखिनः' का विश्वासी है । श्रद्धा को इस व्यक्तिवादी अमानवता और उससे निर्मित मनु के प्रति अगाध आक्रोश है जो मात्र 'ग्रहण' में विश्वासी है । यह पूर्व और पश्चिम के मानमूल्यों का संघर्ष है । मनु इन्द्रिय सुख की नाना उद्दाम अभिलाषाओं की पूर्ति को जीवन मानते हैं[2] तो श्रद्धा यह मानती है कि अपने में सब कुछ भर कर व्यक्ति विकास नहीं कर सकता , यह भीषण एकान्त स्वार्थ उपभोक्ता को ही विनिष्ट कर देगा । 'श्रद्धा' मनुष्य की सकल मानवीय भावनाओं, नैतिक मानमूल्यों और सौहार्द्र से युक्त आस्था का प्रतीक है जो मनु के व्यक्तिवाद की भयावह परिणति को समझाती है कि यदि कुसुम कलिकाएं अपने सौरभ कोष को बंदी कर लें, अपने सुख को मात्र अपने तक परिसीमित कर लें तो मात्र दुःख की ही प्राप्ति होगी —

१- कामायनी पर पुनर्विचार — मुक्तिबोध

" The modern man is generally sad, unhappy, discontented and passimistic. He does not know anything higher purpose in life than earning of wealth and sexual pleasure, which consume all their energies. Indian sages did not altogether depise and hate wealth and enjoyment. They know that exquisitiveness and sex were very powerful and important drives of man. But they also know that unprincipled acquisition of wealth and unbridled enjoyment of sensual and sexual pleasure lead to bodily exhaustion, disease and ruin and social disharmony and conflict" Interrelation of Cultures. Page 141,

औरों को हँसते देखो मनु
हँसो और सुख पाओ ।
अपने सुख को विस्तृत कर लो
सब को सुखी बनाओ ।।

अतः तरंगों से फेंकी मणि को निर्जन का [illegible] की धारा से अभिषेक करने से काम न चलेगा । उसे पराजित मानवों के मानस- [illegible] की अँधियारी को दूर कर चमकना होगा । निर्जन में अकेले प्रमोद की कल्पना नहीं की जा सकती ।[1] चरम सत्ता को इस जगत् में परिव्याप्त मानकर ही समष्टिमूलक बन सकते हैं । इस स्थिति में अपना ही अणु-अणु कण-कण हो जाता है, द्वैत की विस्मृति मान कर सेवा पराई न होकर अपनी हो जाती है । व्यक्तिवाद का जन्मदाता 'स्व' 'पर' में विलीन हो जाता है — यही आर्ष भारतीय संस्कृति का चरम प्राप्तव्य है जिसे अपने संदेश में संजोकर कामायनी विश्वकाव्य बनने की क्षमता रखती है[2] —

सब भेद भाव भुलवाकर
दुख सुख को दृश्य बनाता
मानव कह रे ' यह मैं हूँ ' —
यह विश्वनीड़ बन जाता

त्याग का उदय भी इसी महत् पीठिका पर सम्भव है । श्रद्धा के रूप में प्रसाद ने नारी का त्यागमय रूप उद्घाटित किया है जो 'आँसू से भीगे अँचल पर मन का सब कुछ रखना होगा' का विश्वासी है । पुरुष पा लेना चाहता है और नारी लुट जाना ; क्योंकि वह भली प्रकार जानती है —

१- निर्जन में क्या एक अकेले तुम्हें प्रमोद मिलेगा ।
नहीं इसी से अन्य हृदय का कोई सुमन खिलेगा ।। —कामायनी कर्म सर्ग
२- अतः यह प्रतीकात्मक-दार्शनिक एवं सांस्कृतिक महाकाव्य न केवल हिन्दी भाषा और भारत देश का वरन् विश्व का महाकाव्य बनने की क्षमता रखता है ।
— कला साहित्य और समीक्षा, पृ० ६८१ —डा० म० मिश्र

देना ही वंचितना है दे दे तू लेना कोई यह न करे ।

सन्ध्या रवि देकर पाती है इधर-उधर उडगण बिखरे ।।

वह दूरस्थ मनु को अपने समीप मान कर उसके अकारण क्रोध को भी ममत्व का द्योतक मानती है[1]।यहां पर उसकी हार भी जीत बन जाती है । निराशा की निबिड़ रजनी में आशा की एक किरण असंख्य दीप जला जाती है --

जीवन की लम्बी यात्रा में

खोये भी मिल जाते ।

जीवन है तो कभी मिलन है

कट जाती दुःख की रातें ।।

हमारे यहां नारीत्व की सार्थकता मातृत्व में मानी गई है । तप कर स्वर्ण खरा होता है । किसी कन्हैया की सुकुमार किलक उसके सूने लघु विश्व को गुंजा देती है, उसे दुलार कर झूले में झुलाने की कल्पना में सूर की यशोदा प्रत्येक नारी-हृदय में बसेरा करती है । मातृत्व,नारीत्व का चरम निदर्शन है[2]। फ्रायड का कुंठामूलक एडीपस, इलेक्ट्रा ग्रन्थियों के आधार पर किया गया मनोविश्लेषण हमारे नैतिक मापदंडों के अनुसार त्याज्य है । मनु के श्रद्धा त्याग का कारण मनु की निर्बन्ध,विलासी, भटकाव प्रिय प्रवृत्ति थी न कि भावी पुत्र से ईर्ष्या ।नारी और नर पूरक है । "जिय बिनु देह नदी बिनु वारी तैसेहिं नाथ पुरुष बिनु नारी" -- मानते हुए [illegible] समाज में पुरुष की प्रतिष्ठा नारी की अपनी है । पुरुष के बिना नारी का रेखाओं का चित्र है, जिसमें रंग नहीं, प्रभात का वह हीन कलानिधि है, जिसमें न मीठी किरण है न मनभावनी चांदनी । वह सन्ध्या है जिसके सूने आंचल में न रवि है न शशि तारा[3]। पाश्चात्य सभ्यता के सहज सम्पर्क, शिक्षा के

१- कामायनी -- स्वप्न सर्ग

२- मां० बनते ही त्रिया कहां से कहां पहुंच जाती है ?
गलती है हिमशिला सत्य है, गठन देह की खोकर ? -- दिनकर उर्वशी
पर हो जाती वह असीम कितनी पयस्विनी होकर ?

३- [illegible] स्वप्न सर्ग

प्रसार से नारी आज स्वत: सम्पूर्ण बनने का संकल्प किए है, वह आजीवन अविवाहिता रहने की सोच अपने उजड़े सूने सारस्वत प्रदेश को बसाना चाहती है। पर परम्पराओं की भूमि है, उसके अनजाने अटूट मन के बन्धन हैं, वह हारती है, पुरुष का आश्रय लेती है। "विवाह" नामक सामाजिक संस्था की अनिवार्य उपादेयता के प्रति हमारा समाज आज भी जागरूक है -- स्वच्छन्द समाज की कुँआरी कल्पना यदि जन्मती भी है तो पहली सांस लेते ही मर जाती है। एक पत्नीत्व का "राम" दर्शित आदर्श न पालन करने की स्थिति में, इड़ा के प्रति आकृष्ट हो, "मातृवत् पर दारेषु" के सनातन नीति वाक्य को भुला देने के कारण मनु देव शक्तियों और क्रुद्ध प्रजा द्वारा दंडित होते हैं। मध्यकाल की नारी अभिसारिका, प्रेयसी मात्र थी, छाया सी अनुगामिनी थी किन्तु "नारी तुम केवल श्रद्धा हो" कहने वाले महाकवि प्रसाद ने यह माना है कि परिपूरक रूप में नारी पुरुष की प्रतिष्ठा बिना सामाजिक उन्नति सम्भव नहीं, आध्यात्मिक प्राप्ति सम्भव नहीं[१]।

करुणा और विश्वमैत्री का सनातन आदर्श उत्पन्न करने की आवश्यकता जागरण-काल में अच्छी तरह समझा गया। शोषण की विभीषिका को करुणा ही प्रशमित कर सकती है[२]। पर स्पर्द्धा और प्रतियोगिता के समाज में करुणा का यह अकेला आदर्श जिन्दा नहीं रह सकता। वर्तमान युग-जीवन में "वीरभोग्या वसुन्धरा" तथा "सर्वां प्रजा: बलिदवात" का नीतिवाक्य भी उतना ही सत्य है जितना करुणा मुदिता, मैत्री का आदर्श ? आज हमारा नीतिबोध आदर्श के [illegible] की ऊँचाई छोड़कर यथार्थ की धरती पर उतर आया है --

---

१- पुरुषत्व मोह में कुछ सत्ता है नारी की
समरसता है सम्बन्ध बनी अधिकार और अधिकारी की ।। --इड़ा सर्ग

२- सुख को सीमित कर अपने में
केवल दुःख छोड़ो
इतर प्राणियों की पीड़ा लख
अपना मुँह मोड़ो -- कामायनी
तथा
मानव का [illegible] में
[illegible] करुणा [illegible] है -- [illegible]

यह नीड़ मनोहर कृतियों का यह विश्व रंगस्थल है ।

परम्परा लग रही यहां ठहरा जिसमें जितना बल है ।।

ज्ञानमार्गी या भावलोकवासी होकर कर्म से पलायन अनैतिक है, कायरता है । प्रवृत्ति मार्ग पर चलकर कर्मरत होकर ही हम 'मानव' हैं --

कर्मयज्ञ से जीवन के सपनों का स्वर्ग मिलेगा ।

इसी विपिन में मानस की आशा का कुसुम खिलेगा ।।

अकेला भावलोक जहां रूप, रस, गंध, स्पर्श की पारदर्शी रंगीन पुतलियां हैं, इच्छा की रचनाभि घूमती है, आलिंगन की पुकारती लालसा है या श्यामल कर्मलोक जहां महायंत्र का प्रवर्तन कर शोषण का निर्मम साम्राज्य है या ज्ञानलोक जहां मात्र अस्ति-नास्ति की गति है -- निरर्थक है । सफल मानव बनने में तीनों का सम्मिश्रण आवश्यक है --

स्वप्न स्वाप जागरण भस्म हो

इच्छा ज्ञान क्रिया मिल लय थे ।

दिव्य अनाहत के निनाद में

श्रद्धायुत बस मनु तन्मय थे ।।

संघर्ष सर्ग में उस भौतिकता वादी दृष्टि का दर्शन होता है जो विज्ञान का अवलम्बन ले भाव को निष्कासित कर बैठी है । महायंत्रों के पहियों ने कोमल संवेदनाओं को पीस दिया है, उसके विषाक्त धुएं में हमारी सहज संवेदना की सांसें रुद्ध हो चली हैं । प्रसाद ने वैज्ञानिक पाश्चात्य दृष्टि को अर्थात् श्रद्धा को समन्वय का पाठ पढ़ाया ताकि वह मानव-हृदय में पैठ सके --'सिर चढ़ी रही पाया न हृदय' की स्थिति न आवे । कोरी बुद्धि द्वारा प्रसूत आधुनिक जड़वादात्मक

१- "Understanding of human natu e must be the basis of any real improvement in human life. Science has done wonders in mastering the laws of the physical world but our own nature is much less understood, as yet, than the nature of star and electrons. When science learns to understand human nature, it will bring a happiness into our lives which machines and the physical science have failed to create" Sceptical Essays, Page 88, by Bertand Russel.

विज्ञान का कार्य मानव-समाज को इतना विभक्त कर द्वन्द्वजन्य अशान्ति उत्पन्न करना है । जनता में इन प्रमुख [illegible] की भयंकर वैज्ञानिक मनोवृत्ति के प्रति आक्रोश है, विद्रोह है । नियमानुशासन चलाने वाले अनेक नेताओं ने उच्छृंखल हो स्वयं को नियमहीन मानकर अत्याचार और शोषण का चक्र चलाया । ऐसा प्रतीत होता है कि " कानून निर्धन जनता का शोषण करते हैं और अमीर कानूनों का शासन करते हैं ।" ऐसी भयावह स्थिति का शाश्वत निदान विज्ञान की प्रस्तर शून्य जड़ता को हृदय की संवेदना से सप्राण बनाना ही है जिसकी ओर कविमनीषी प्रसाद ने इंगित किया है । विज्ञान के साथ यदि मनु की निर्द्वन्द्व पिपासा जो हिंसामयी है, मिल जाती है तो महाविनाश का आवर्तन होता है ,बसाया गया सारस्वत प्रदेश उजड़ जाता है, शिव के ताण्डव नृत्य की भूमिका बन संसृति महानाश का ग्रास बन जाती है । अतः धरती पर स्वर्ग उतारने के लिए आवश्यक है कि वसुधैव कुटुम्बी अहिंसा और विज्ञान का विवाह हो जाए — तभी नयी मानवता विकसित होगी[१] । इसी कारण श्रद्धा पुत्र मानव की सहचरी के रूप में इड़ा को प्रस्तुत कर कामायनी अखण्ड आनन्द के कैलास शिखर तक मानवता को पहुंचा देती है ।

कोरे अध्यात्म को लेकर नहीं जिया जा सकता, जीवन का सत्य वह नहीं है । दूसरी ओर [illegible] के धरातल पर मानवता को बलि चढ़ाकर अनियंत्रित ईप्साओं की तृप्ति पर सृष्टि प्रलयाकालीन सागर का ग्रास बन जाती है । अतः श्रद्धा और मनु के पुत्र मानव के लिए आवश्यक है कि वह इड़ा को सहयोगी बनाए । अनेक विचारक [illegible] आदर्श आध्यात्म्यजन्य फैन्टेसी' कहते हैं । उनके अनुसार [illegible] में [illegible] का आनन्दवाद ओढ़कर कर्मभूमि से पलायन करने की प्रेरणा है, जीवन से दूर कैलास शिखर पर मानसरोवर के तट पर मानव-चिन्तन का संदेश है । किन्तु कामायनी में दर्शित उदात्त जीवन-दृष्टि इस बात का प्रमाण है कि कवि के अन्तर्मन में कामायनी के माध्यम से संघर्ष ,स्वार्थ,प्रतारणा और संकीर्णता के युग में भूले भटके मानव को आलोक-पथ दिखाने की [illegible] अवश्य रही होगी ।" यदि

१- साहित्य का अर्थ ,पृ० ५६ — विनोबा

व्यक्तिनिष्ठ भावना के आधार पर कोरा अध्यात्म पथ ही कवि को प्रशस्त करना होता तो वह युग-चेतना की भूमिका उपस्थित न करके केवल पुरातन इतिवृत्त के आधार पर भारतीय दर्शनों की दृष्टि तक ही अपने को सीमित बनाए रखता ।[1] यदि व्यक्ति के आत्मा के दर्शन सभी में करने की भावना जाग जाए तो उच्छृंखल अधिकार भोग की भावना विनष्ट हो जाती है और `जीओ और जीने दो` का बोध होता है —

> क्यों इतना आतंक ठहर जा ओ गर्वीले ।
>
> जीने दो सब को फिर तू भी सुख से जीले ।।

इसी कारण विवेकानन्द ने कहा कि भारत को अध्यात्म सिखाने की आवश्यकता है और पश्चिम को सीखने की । अध्यात्म और भौतिकता , आत्मा और शरीर का उचित समन्वय आवश्यक है । जिस प्रकार प्राण के बिना शरीर मृत है उसी प्रकार बिना शरीर के प्राण भूत । अत: `शरीर माद्यं खलु धर्म साधनम्` के अनुसार हमें अध्यात्म के लिए भौतिकता तथा भौतिकता के लिए अध्यात्म की महत्ता स्वीकार करनी है — पूर्व और पश्चिम के अन्त: सम्पर्क का इस अर्थ में स्वागत कर अपने को विकास की दौड़ में लगाना है । प्रसाद जी के अनुसार मनु अकेली श्रद्धा सम्पर्क में भी आकुल हो भाग कर इड़ा को अपनाते हैं और पुन: `द्वन्द्व` के कारण भटकते हैं, टूटते हैं । नयी पीढ़ी का मानव श्रद्धा का आत्मज है, उसे अपनी पैतृक विरासत को नवीन परिवेश में पुनर्स्थापित हेतु , सारस्वत प्रदेश के उजड़ेपन को पुन: नियमन करते हुए `इड़ा` का आश्रय लेना होगा । हृदय और मस्तिष्क का यह योग विज्ञान और उसकी अभिशापित शक्तियों को निर्माण में लगाकर त्रितापों(भौतिक, दैहिक,आध्यात्मिक) से निस्तार व दिलाता है, इहलोक और परलोक दोनों का निर्माण होता है ।

भावुकता से जिन्दगी को नहीं समझा जा सकता । उसके लिए आवश्यक है कि बिना हिचकिचाहट के हिम्मत के साथ वास्तविकता का मुकाबला किया जाए ।[2] भावुक व्यक्ति का मानसिक संघर्ष में हुआ पराभव उसे चिन्तन-मनन को विवश करता है । बुद्धि द्वारा प्रबल तर्क-तूणीर का आश्रय लेकर इसने समस्त प्रकुंठित बाधाओं का

1- सरस्वती जयशंकर प्रसाद अंक जनवरी फरवरी पृष्ठ० १९६ — डा० त्रिपाठी

2- हि- [illegible] की [illegible] पृ० [illegible]— [illegible]

व्यवच्छेदन किया । किन्तु उस प्रक्रिया ने हृदय के रस को सुखा दिया नहीं तो क्यों साम्राज्यवादी नीति का प्रसार होता, दमन,संघर्ष और अत्याचार को लेकर उपनिवेशों का निर्माण होता । हृदय की राशि खोकर -- सब प्राप्तव्य मिलने पर भी मानव कंगाल है -- यही कारण है कि स्लेल,शोपेनहावर,रोम्यांरोला आदि विद्वान् भारत की सहृदयता के चरम आदर्श `सर्वात्मवाद` को पा लेने को आतुर हैं । बुद्धिवादी अपनी भूल का परिमार्जन करता है --

बुद्धि तर्क के छिद्र हुए थे
हृदय हमारा भर न सके
+ +
अपनापन चेतन का सुखमय
खो गया, नहीं आलोक उदय

अंग्रेजी के राजत्व काल में भारतीय लघु पूंजीवाद तथा ब्रिटिश-पूंजीवाद का जन्म-विस्तार हुआ और ऐसे नये समाज का उद्भव हुआ जिसमें हृदयों पर आवरण था और बुद्धि ने अपने `द्वैत` गुण से नाना वर्णों की सृष्टि की । परिणामत: अनजान नितनूतन समस्याओं का बहुमुखी प्रसार हुआ, संदेहों के विस्तार तथा स्वार्थ की आवृत्ति में डूबे भारतीय मानस में प्राणिमात्र में अपने को देखने की भावुकता का विनाश हो गया । मानव के तार्किक मन ने अपने को शतश: विभक्त कर राग-विराग की परिधियां खिंची और तभी से मस्तिष्क और हृदय का सद्भाव समाप्त हो गया -- यह अंधानुकरणी अविवेकी भारत के प्रतिनिधि मनु की जाति को `काम` का अभिशाप था --

मस्तिष्क हृदय के हो विरुद्ध दोनों में हो सद्भाव नहीं ।
वह चलने को जब कहे कहीं तब हृदय विकल चल जाये कहीं ।।

प्रसाद ने सामंजस्यवादी कलाकार के नाते अनुरूप मानव को दोनों के सम्मिश्रित स्वरूप में अंकित किया है । भावरूपा श्रद्धा की उपेक्षा कर बुद्धिवादिनी इड़ा को अपनाने का कटु फल मनु को चखना पड़ा । कुछ विद्वज्जनों की दृष्टि में प्रसाद जी की बुद्धितत्व की अकारण निन्दा की है[1]। बुद्धि के द्वारा काव्य के उपादान को

१- शुक्ल जी के अनुसार प्रसाद का कहना था [illegible] रही पाई न बुद्धि तथा बुद्धि बोध । [illegible] रही पाई न [illegible] पाया न [illegible] (हिन्दी साहित्य का इतिहास)

बलिष्ठ बनाने वाली कवि की यह अकृतज्ञता भी कही जा सकती है किन्तु वस्तुत: कामायनी का प्रणयन मनस्तत्व की पूर्णाभिव्यक्ति के लिए हुआ है -- 'मनु जितनी बुद्धि का भार सहज रूप से वहन कर सकता है, उतनी ही उसे धारण करनी है। उतनी बुद्धि तो श्रद्धा में है ही । किन्तु मनु उतने से सन्तुष्ट नहीं हुआ और बुद्धि का प्रतिनिधि बनने का दम्भ भरने लगा । स्पष्ट ही उसका माथा फिर गया था अन्यथा वह ऐसे दुस्साहस का काम न करता । आधुनिक मानव भी तो यही कर रहा है । वह मन की पहुँच या शक्ति से बाहर बुद्धि को दौड़ा कर आविष्कार करता जा रहा है, उसका परिणाम क्या वह अभी नहीं भोग सका ? क्या इसी पद्धति पर चलने से आज निकट भविष्य में ही मानवीय सभ्यता के विनाश की आशंका नहीं है?...प्रसाद जी ने मन या मानव शक्ति से परे बुद्धि की संवर्द्धना को बुरा बतलाया है, जिस प्रकार शास्त्रकार मनु ने 'महाभंग प्रवर्तन... का विरोध किया है । प्रसाद जी का संदेश बुद्धि, भावना और क्रिया का समान विकास होने के कारण बुद्धि की एकांगी उन्नति का यहाँ विरोध किया गया है । यह मानना संगत न होगा कि वह बुद्धि के विरोधी थे हाँ वह बुद्धि की अति के विरोधी अवश्य थे[1] चिर जिज्ञासु मानवीय वृत्ति के श बुद्धि का जन्म हुआ है, इसी अर्थ में वह मनु की दुहिता है । इस परमवैभवशालिनी को यदि हृदय के सुरस तथा संवेदनशील भावों का साहचर्य प्राप्त हो तो यह सर्वभूत-हितरत रहती है । किन्तु मनु ने श्रद्धा की अवज्ञा कर इड़ा को अपने कर्मयज्ञ का पुरोहित बनाकर उसका अधिपति बनने का दम्भ दर्शित किया 'सभ्य मानव ने वैज्ञानिक बुद्धि को घोर स्वार्थ तथा संसक्ति के साथ अपना कर, अपनी इस मानवप्रसूत आत्मजा के साथ मानो अत्यन्त जघन्यतापूर्वक व्यभिचार-बल्कि बलात्कार-- किया है और हृदय की कोमल कमनीय वृत्तियों के सुमधुर विश्वास परायण भावों को पैरों तले कुचल डाला है[2]। प्रसाद जी ने कामायनी के इतिवृत्त में लोकविश्रुत आख्यान का उपयोग करते हुए भौतिकता बौद्धिकता अध्यात्म का संदेश देकर प्राच्य-पाश्चात्य का सम्मिलन कर जीवन को नयी नीति का बोध दिया है ।

प्रसाद ने दु:खकातर मानवता को दु:खी नहीं छोड़ा है अपितु उसे वह अमोघ शक्ति दी है जिसके माध्यम से वह समत्व बुद्धि को अपनाकर जीने के लिए जीए

१- प्रसाद व्यक्तित्व और कृतित्व -- डॉ० नन्ददुलारे वाजपेयी

२- विश्लेषण , पृ०४२ -- इलाचन्द्र जोशी

नवीं को जीवन को मरण को पीठिका बना ले । सागर की लहरों से व उठकर शैल शृंगों पर सहज आरोहण करने वाला भारत असहयोग, उपद्रव, गिरफ्तारी, फाँसी, कानून-भंग, शोषण, दमन आदि की अटूट शृंखला में विजड़ित था । १६३१ के गणेशशंकर विद्यार्थी के बलिदान तथा सरदार भगत सिंह, राजगुरु तथा सुखदेव को फांसी ने सम्पूर्ण भारतीय जनता को दुःखकातर कर दिया । प्रसाद जी के शब्दों में --

> आज पड़ा है वह मुमूर्षु सा वह अतीत सब सपना था ।
> उसके ही सब हुए पराए , सब को ही जो अपना था ।।

सब को अपना मानने की भूल ने हो प्रथम महायुद्ध में लाखों भारतीयों की बलि दी किन्तु प्रतिदान में लार्ड कर्जन की दमन-नीति मिली । जन-मानस दुःखी है, आक्रान्त है । पर मानव वह है जो जीवन वेदी पर विरह-मिलन का परिणय कर सुख-दुःख के नाच में आँख और मन का खेल देखता है[1] । स्थित प्रज्ञ के समान हर्ष-शोक की सामान्य अनुभूतियों से ऊपर उठकर हमें दोनों को अपना कर चलना है । दुःखों की नीली रजनी के बीच ही सुख का ज्योतिर्मय प्रभात विहंसता है, व्यथा की नीली लहरों के बीच सुख-मणि-गण अपना प्रकाश विकीर्ण करते हैं । अतः स्थितप्रज्ञ के समान हर्ष-शोक की सामान्य अनुभूतियों से ऊपर उठकर हमें दोनों को अपना कर चलना है --

> अरे सर्ग के अंकुर हैं दोनों
> पल्लव हैं ये भले बुरे ।
> एक दूसरे की सीमा हैं
> क्यों न युगल को प्यार करें ।।

प्रसाद ने नश्वरता को सृजनात्मकता का प्रेरक तत्व स्वीकार किया है-- कामायनी के अन्त: साक्ष्यानुसार । उन्होंने विलासी देव सृष्टि के ध्वन्सावशेष पर ही नयी मानवता का प्रसाद निर्मित किया है, मात्र जड़ बौद्धिकता द्वारा शासित उजड़े सारस्वत प्रदेश का निर्माण भार श्रद्धा और मानव को सौंपा है । मानव है वह उठता है, गिरता है, पुनः गतिशील होता है । समाज को ऐसे ही मानवों की अपेक्षा

१- आँसू पृ० -- सुख दुःख के मधुर मिलन से
यह जीवन हो परिपूरन -- पन्त

है जो सृजन और गमन की दुर्दमनीय ॰ लालसा से जीवन-संघर्ष में विजय प्राप्त कर संसृति का कल्याण करे, द्वयताजन्य आवरणों को भेद कर सब को अपना बना ले[1]।

प्रसाद जीवन के सम्पृक्त-समृद्ध रूप में विश्वास करते हैं और इसी संदर्भ में एक ओर उन्होंने संन्यास का विरोध किया है दूसरी ओर 'काम' को परम्परागत अर्थ से संबद्ध कर नूतन संदर्भ में जोड़ा है। भोगों से उपराम जीवन नहीं है, दुरान्त कन्दराओं की एकान्तव्यक्ति-साधना श्रेयस्कर ॰ नहीं। मानव वह है जो निर्भीक होकर कह सके "काम मंगल से मंडित श्रेय"। साथ ही उसकी व्यक्ति चेतना जीवन उपभोग तथा सुख की आराधना को लोक सुख के साथ सम्पृक्त कर देती है ताकि ताल-ताल पर चलने वाली उन्मद चेतना के उन्मद नृत्य की गति में इसका स्वर विवादी न हो जाए --

लोक सुखी हो आश्रय ले यदि इस छाया में।
प्राण सदृश हो रमो राष्ट्र की इस काया में।।

राष्ट्रीयता का उच्छेदन कर अन्तर्राष्ट्रीय कहलाने के अभिलाषियों को पहले राष्ट्र की काया में प्राण सदृश रमने की आवश्यकता है, पहले 'अपना' होता है परायों की बात तो दूर की है।

आकर्षणों के दुर्निवार बन्धनों को तोड़कर कन्दरा में भागने की आवश्यकता नहीं, निर्वाण की साधना की जरूरत नहीं क्योंकि मिलन का क्रम ही सृष्टि के उद्गम की कहानी है। पशु-पाषाण, जड़-चेतन, सभी इन्द्रियों के दुर्निवार आकर्षण में बंधे हैं --सृष्टि के प्रत्यूषकाल से आदिम पुरुष और आदिम प्रकृति के सहयोग से आज तक सर्वत्र युगल की स्थिति है। सरिताओं की मुखरता शैलों के गले सनाथ करती है, जलनिधि का अंचल धरती पर व्यंजन ॰ बनता है और कातर मनु का मानस पुकार उठता है[2] --

कब तक और अकेले कह दो
हे मेरे जीवन बोलो।
किसे सुनाऊँ कथा ? कहो अब
अपनी निधि न व्यर्थ खोलो।।

1- शेली की Shelley in "Loves" Philosophy.
2-

अत: `काम` से भिन्न कर भविष्य से अनजान बनना है । `काम` को प्रेम का पर्यायवाची मानने के कारण उन्होंने कहा है --

यह लीला जिससे विकस चली
वह मूल शक्ति थी प्रेम कला ।
इसका संदेश सुनाने को आई
जगती में वह अमला ।।

अथर्ववेद(६।२) में काम को प्रशंसा की गई, अर्थ,धर्म और मोक्ष के साथ `काम` को भी उचित स्थान प्राप्त है । `सो कामयत् एकोऽहं बहुस्याम् प्रजायेत` से भी काम का महत्त्व सिद्ध होता है ।`कामना` नाटक में काम कला का उदात्त स्वरूप प्रकट करते हुए उनका कथन है -- ` मैं क्या चाहती हूं? जो कुछ प्राप्त है उससे महान । वह चाहे कोई वस्तु हो । हृदय को कोई करोर रहा है कुछ आकांक्षा है पर क्या है इसका कुछ भी विवरण नहीं देना चाहती । केवल वह पूर्ण हो और जहाँ तक कि उसकी सीमा हो जाये[1]।` किन्तु कामस्तदग्ने समवर्तताधि मनसोरेत: प्रथमं सदासीत' की भावना का कालान्तर में लोप हो गया जब से हमने उसे लव या इश्क का पर्याय मान लिया है ।` संभवत: विवकवादियों की आदर्श-भावना के कारण इस शब्द में केवल स्त्री-पुरुष -सम्बन्ध के अर्थ का ही भान होने लगा । किन्तु काम में जिस व्यापक भावना का समावेश है,वह इन भावों को आवृत्त कर लेती है । इसी वैदिक काल की आगम शास्त्रों में कामकला के रूप में उपासना भारत में विकसित हुई थी[2]।` प्रसाद ने काम में वैदिक विचारधारा का सन्निवेश कर व उसे प्रेय और श्रेय का स्रोत बनाकर जीवन में अधिष्ठित करने का संदेश दिया, इच्छाजन्य विश्व को ठुकराकर हमें भव-धाम असफल बनाने का कोई अधिकार नहीं है --

काम मंगल से मण्डित श्रेय
सर्ग इच्छा का है परिणाम ।
तिरस्कृत कर उसको तुम भूल
बनाते हो असफल भव धाम ।।

१- ... पृष्ठ -- प्रसाद
२- काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध--प्रसाद
पृ० ..

आर्थिक राजनैतिक संघटन

वैयक्तिक अभिलाषाओं की निर्बन्ध पूर्ति के कारण चतुर्दिक समाज में टकराव तथा संघर्ष का जन्म जब हुआ ।संस्कृत मानव की चेतना ने अपनी आर्थिक नियोजना,सामाजिक स्थापना तथा सृजनात्मक क्षमता के विकासशील स्वभाव की रक्षा हेतु 'राज्य' नामक संस्था की स्थापना की । आर्थिक उन्नति की दिशाएं तथा राजनैतिक व्यवस्था का निर्धारण, संस्कृति के अनिवार्य उपादान हैं । 'आर्थिक व्यवस्था राजनैतिक संघटन, नैतिक परम्परा और सौन्दर्यबोध को तीव्रतर करने की योजना ,ये सभ्यता के चार स्तम्भ हैं । इन सब के सम्मिलित प्रभाव से संस्कृति बनती है ।'[1] कामायनी में निहित विश्व इतिहास की रेखाओं के सहारे हम 'आखेट युग' से आज के वैज्ञानिक युग तक को माप लेते हैं । मनु और श्रद्धा का प्राकृतिक मिलन ,विवाह नामक सामाजिक संस्था का अभाव, मनु का वन्य पशुओं की चर्म प्राप्ति हेतु वन-गमन आदि आखेट युगीन प्रवृत्तियों का विकास 'पशु पालन युग' का आर्थिक नियोजना में होता है । श्रद्धा श[illegible]लियां का चयन करती है , पशु को पालित कर अहिंसा के आदर्श द्वारा जीवनयापन करना चाहती है । इस काल में वनोपजीवी,[illegible] मानव कुटीर निर्माण करता है । आधुनिकता का स्वर भी यत्र-तत्र प्रस्फुटित है । पशु पालन युग में श्रद्धा को तकली कातते प्रसाद ने दिखाया है[2] । गांधी जी का स्वदेशानुरागी मन ,मिटते हु हाथ करघे के उद्योग तथा लंकाशायर और मानचेस्टर की मिलों से हमारी भूमि पर अपने कच्चे माल से निर्मित,ऊंची ड्यूटी लगे वस्त्र के आयात से क पीड़ित,व्यथित था उन्होंने अर्धनग्न जनता की उन्नति का अमोघ अस्त्र 'खादी' को बनाया । हमारे आर्थिक ढांचे में मशीनीकृत अंग्रेजी पूंजीवाद ने जो विशृंखलता लादी थी, उसे दूर करने का उपाय चरखा और तकली था । सन् ३०-३५ में एक ओर गांधीवादी [illegible] का यह प्रवाह सम्पूर्ण देश में प्रवाहित था -- फलतः तत्कालीन महाकाव्य 'कामायनी' में [illegible]जीवन का प्रतिबिम्ब कैसे न झलकता ? 'अहिंसा' का अगोचर मानमूल्य पुनः नवयुग की पीठिका में नये संदर्भों में जन्मा । श्रद्धा निरीह पशुओं की दुग्धदानी-मांसलता की अ[illegible]लाषिणी है, उनके मृत-शरीर के चर्म-आवरण की नहीं ।

१- अशोक के फूल, पृ० ८८ -- आचार्य ह०प्र० द्विवेदी

२- चल री तकली धीरे धीरे, प्रिय गए खेलने को अहेर

विज्ञान और प्रविधि युग की समस्त पुंजीवादी प्रवृत्तियों को कामायनीकार ने समस्यात्मक रूप में यथार्थवादी तूलिका से अंकित कर अन्त में समाधान की ओर संकेत किया है । विज्ञान को सहज साधन बनाकर आज मानव ने जड़ता को चैतन्य किया है, रमणीय ऐश्वर्यशालिनी प्रकृति के भण्डार की शोध की है । नियमन और प्रशासन द्वारा अपनी क्षमता का विस्तार कर आज हमारा बुद्धिवादी मानव अपना 'सहाय' स्वयं बन गया है[1]। स्वप्न सर्ग में नियामक मनु द्वारा अपार सारस्वत प्रदेश के माध्यम से प्रसाद जी ने पुंजीवादी सभ्यता का अंकन किया है । वर्षा धूप, शिशिर की छाया में कृषक प्रमुदित हल चला रहा है, धातु गलाकर स्वर्णकार आभूषण बनाता है, साहसी मृगया से नए उपहार लाता है, घन के आघातों की प्रचण्ड रोष ध्वनि दिग-दिगन्त में परिव्याप्त है । सम्पन्न राज्य के नागरिक 'स्वर्ण कलश शोभित भवनों के उद्यानों में' विहार - संलग्न है । वास्तुकला के परिचायक उच्च अभ्रंलिह अट्टालिकाओं में शैलेय अगरु की धूम गंध फैली है । किन्तु अनियमित तृष्णा और संग्रह ने एक ओर वर्गों की खाइयां खोदी हैं तो दूसरी ओर नाना अपराधों की पूर्वपीठिका निर्मित की है । उसने विज्ञान के पंख लगाकर कभी न बुझने वाली आशाओं को पूर्ण करना चाहा । अधिकार और वैभव के प्रासाद उठते गए और पीड़ित निर्धन झोंपड़ियों की भूमि थर्राने लगी । निर्धन और धनी के बीच गहरी खाई खुद गई —

वर्गों की खाई बन फैली
कभी नहीं जो जुड़ने की[2]।

प्रसाद ने इस वर्गवाद तथा वर्णाश्रम व्यवस्था, शासन-यंत्र का विरोध किया है । हमारी शक्ति को अपहरण कर मशीनीकरण के युग के शोषक ठेकेदारों ने जीवनी को जर्जर और झीनी बना दिया है[3]। प्रसाद का स्पष्टतः मशीनों नहीं, उस मशीनीकरण से विरोध था जो अपनी अति यांत्रिकता के में मानवीय रागात्मकता को निःशेष कर देता है । यही कारण है कि श्रद्धापुत्र 'मानव' अपनी पूर्णता के लिए यांत्रिक सभ्यता की अधिष्ठात्री 'इड़ा' का संरक्षत्व पाता है । दर्शन सर्ग में

1- हाँ तुम ही हो अपने सहाय ... इड़ा सर्ग तथा -
आज स्वावलम्ब प्राणी अपनी पूर्ण कल्पना करके
स्वावलम्ब की दृढ़ धरणी पर खड़ा नहीं रह सका डरा ।— स्वप्न सर्ग

2- There are only two families in the World, 'haves' and 'have nots'.

3- प्रकृति शक्ति तुमने यंत्रों से सब की छीनी, शोषण कर जीवनी बना दी जर्जर झीनी ।।
— संघर्ष सर्ग

में जनपद कल्याणी प्रसिद्ध इड़ा स्वयं को अवनति का कारण स्वीकार करती है । श्रम विभाजन के आधार पर बनी उसकी अर्थ-नीति विप्लव,फूट,शोषण की वृष्टिकारिणी बन गई । जिस जलधर को हरियाली लाना था वही उपल बरसाने लगा । अधिकार-भेद से सुविभाजन भी विषम हो गए । पूँजीवादियों ने श्रमजीवियों के शोषण हेतु नियम बनाकर लाभ की अधिकाधिक राशि स्वायत्त कर शोषण का साम्राज्य फैला दिया । इस समस्त भौतिक विज्ञानवादी और सामाजिक परिस्थितियों को कामायनी-पटल पर उकेरा गया है । प्रजातन्त्र की सर्वहितरत व्यवस्था को काम का शाप है--
'हो शाप भरा तव प्रजातंत्र ।' यही कारण है मनु की राजनीति में प्रजा के गुणात्मक विकास का लक्ष्य लुप्त हो गया, आत्म विकास तथा उन्नति के समान अवसर समाप्त हो गए तथा भौतिक पदार्थों की उत्पत्ति और वितरण पर वर्ग-वैषम्य विशेष का स्वत्व होने से आर्थिक वैषम्य ने जन्म लिया । राजा और प्रजा का परस्पर सौहार्द समाप्त हो गया -- पालक पीड़क बन गया और उसने प्रजापति होकर भी आत्मजा इड़ा को प्रपंचित किया । प्रजापति के इस अतिचार ने दैव तथा मानव शक्तियों को उत्तेजित किया । इस स्थल पर प्रसाद ने भीड़ मनोविज्ञान (Mob- Psychology पर प्रकाश डाला है । प्रसाद ने यह माना है कि जो राजनैतिक व्यवस्था पूंजीवादी व्यवस्था की परिस्थितियों में बीती है वह कभी भी प्रभावपूर्ण शान्ति-क्रम की व्यवस्था नहीं कर सकती[1] ।

अधिकार और कर्तव्य की परम्परागत स्थापनाओं में आज के युग में भीषण परिवर्तन हो गया है । आज हम यह नहीं मानते कि 'कर्तव्य रूपी वृक्ष से अधिकार फल उत्पन्न होता है । अधिकारों के प्रति जागरूक दृष्टि अपने को कर्तव्य से उच्छिन्न करना चाहती है । परिवार से लेकर राज्य तक -- प्रत्येक समुदाय में अधिकार भावना का सर्वव्यापी प्रसार है । वर्तमान अराजकता का मूल यही है । राज्य के सर्वोत्कृष्ट अधिकारी मनु की मनोवृत्ति स्वच्छन्द हो निर्बन्ध अधिकार-भोगी है--

---

१- 'The State in theory and practice' में लास्की ने यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि हमारे युद्धों का कारण हमारे समाज का वर्गमूलक संगठन है । पूँजीवादी समाज व्यवस्था में युद्ध अनिवार्य है ।

जो मेरी है सृष्टि उसी से भीत रहूँ मैं
क्या अधिकार नहीं कि कभी अविनीत रहूँ मैं ?

+ + +

वशी नियामक रहे, न ऐसा मैंने माना ।

स्वार्थ का जन्म ही समस्त राजनैतिक व्यवस्था का विघातक कारण है । राजा-प्रजा का पिता-पालक का रामराज्यदर्शित आदर्श आज छिन्न हो गया है । शासक वर्ग जनता की सेवा को अपनी 'दासता' मानता है । उसका प्राप्तव्य उसे मिलता रहे नहीं तो वह सकल निर्मित व्यवस्था को छिन्न भिन्न कर देगा -- ऐसी भयावह मन:स्थिति म के कारण संघर्ष का जन्म होता है । 'मैं शासक , मैं चिर स्वतंत्र' मानकर वह मनु नीति की सं[illegible] 'इड़ा' का साहस टूटने लगा है[1] । प्रसाद जी जीवन में 'अर्थ' के बहिष्कार में नहीं अपितु उचित [illegible] में विश्वास करते थे । यही कारण है कि 'रहस्य' सर्ग में कर्म लोक की श्यामलता में उन्होंने मात्र अर्थ पिपासु वृत्ति की आलोचना की है,क्योंकि अर्थार्जन के प्रबल लोभ में भावलोक की सम्पदा (करुणा,प्रेम, मुदित,मैत्री) लुट रही है-- हम अकिंचन हैं --

श्रममय कोलाहल, पीड़नमय
विकल प्रवर्तन महायंत्र का ।
क्षण भर भी विश्राम नहीं है
प्राणदास है क्रिया तंत्र का ।।
भाव - राज्य के सकल मानसिक
सुख यों दुख में बदल रहे हैं ।।
हिंसा [illegible] हारों में
ये अकड़े अणु टहल रहे हैं ।।

इड़ा के हाथों श्रद्धापुत्र मानव को सौंप कर प्रसाद ने मानवता को सुनियोजित अर्थ-व्यवस्था का संदेश दिया है । हमारी संस्कृति में अर्थ,धर्म,काम,मोक्ष जीवन -ध्येय माने गये हैं । इनका समन्वित रूप जब बिखर जाता है,हम किसी स्वपर

1- कर्म सर्ग [illegible], पृ० २०३-४

जीवन को टिकाकर आगे बढ़ने का उपक्रम करते हैं -- तभी हम हारते हैं, गिरते हैं । हमें आर्थिक प्रगति के लिए इड़ा के सारस्वत प्रदेश में महायंत्रों का प्रतिवर्तन करना है, किन्तु साथ में श्रद्धा पुत्र मानव को लेकर ताकि हमारे हृदय की कोमल संवेदनाएँ मर न जायं ताकि हमारी मेघ मल्हार की तानें उत्पाती घन-गर्जन में सो न जायें ।

कवि जीवन का चितेरा ही नहीं, वह तत्कालीन समाज का यथातथ्य अंकन करने वाली लेखनी से अपनी रचना को युग का दर्पण ही नहीं बनाता साथ ही वह `ऋषियो मंत्र द्रष्टार:` के नाते भविष्य को भी देख लेता है । आधुनिक उपन्यासों के प्रकृतवाद, यथार्थवाद, अतियथार्थवाद के प्रति उपन्यास सम्राट प्रेमचन्द ने भविष्यवाणी की थी और प्रसाद के कवि ने सन ३५-३८ की परिस्थितियों के बीच जीकर हमारी आज की राजनैतिक, आर्थिक असंगतियों की सूक्ष्मातिसूक्ष्म प्रतिक्रिया को दिखाते हुए समाधान की दिशा की ओर इंगित किया है । `निर्बाधित अधिकार आज तक किसने भोगा?` सिद्ध करने के लिए मुमुक्षु मनु की अनियंत्रित-अधिकार-भोगी प्रवृत्ति की पावस निर्झर सी गति का परिणाम विप्लव है । प्रतियोगिता मूलक समाज में लोगों के मस्तिष्क में हमेशा चिन्ता और तनाव बना रहता है । व्यंग्य रूप में प्रसाद ने समाजवादी समाज की स्थापना का संदेश दिया, जिसमें वे संवेदनशील तथा बुद्धिमान नागरिक इस प्रकार की आकुलता और तनाव से मुक्ति पा सकें --

करते हैं संतोष नहीं है
जैसे कशाघात प्रेरित से --
प्रतिक्षण करते ही जाते हैं
भीति विवश ये सब कंपित से । + + +
यहाँ सतत संघर्ष, विफलता
कोलाहल का यहाँ राज है
अंधकार में दौड़ लग रही
मतवाला यह सब समाज है ।

आधुनिक राजनीति नियम द्वारा परिचालित है । किन्तु वे नियम जो भीति की नींवपर खड़े हैं-- आखिर कब तक स्थिर रहेंगे ? नियन्ता का अनुशासन भय से नहीं भावना से टिकता है । किन्तु स्थिति यह रही कि

भय की उपासना । प्रणति भ्रान्त ।
[illegible] की छाया अशान्त ।

विजड़ नियमों में बंधकर हमारी आशा-अनास्था नष्ट हो रही है, शुभ-अशुभ के संबंध के पैमानों के सम्बन्ध में संदेहवाद की वृद्धि हो रही है, [illegible] दूरदर्शिता के जीवन से विरत होकर मानवीय महत्वाकांक्षाओं का भौतिक और क्षणिक चीजों की ओर रुझान बढ़ रहा है । इस सांस्कृतिक अध:पतन की स्थिति का राजनैतिक दृष्टि से निराकरण करने का प्रयत्न प्रसाद ने कामायनी में किया है । सिद्धान्तहीन अवसरवादिता, प्रतियोगिता तथा शोषण को हटाने के लिए समाजवादी व्यवस्था अपेक्षित है । अराजकतावादियों के समान प्रसाद `राज्य` नामक संस्था के उन्मूलन के विश्वासी ह नहीं है । प्रसाद जी व्यक्ति-स्वातंत्र्य के विश्वासी हैं किन्तु उसी सीमा तक जब तक उसकी स्वतन्त्रता वर्गों, व्यक्तियों की स्वतन्त्रता का अपहरण कर उन्हें अपनी इच्छाओं की अनुवर्ती न बनाए । स्वतन्त्रता तथा सुरक्षा चरम मूल्य (ultimate value)है जिसके द्वारा हम कला कौशल, भौतिक सामग्री, राजनैतिक, आर्थिक संस्थाओं के संकुल सभ्यता के साधनात्मक मूल्य (instrumental value) तक पहुंचते हैं । किन्तु साध्य तथा साधनों का यह अन्तर सापेक्ष वस्तु है । स्वतन्त्रता स्वास्थ्य की भांति, जहाँ अपने आप में साध्य है वहाँ वह दूसरे मूल्यों के उपभोग का साधन भी है[१] । राजनीति विशारदों की स्वतन्त्रता उच्छेदक नीति का प्रसाद ने विरोध किया है । गरीब जनता का आर्त नाद उनके कानों में गूंज रहा था --

> यहाँ शासनादेश घोषणा
> विजयों की हुंकार सुनाती
> यहाँ भूख से विकल दलित को
> पद तल में फिर फिर गिरवाती ।

प्रसाद के समस्त विभीषिकाओं का निदान `समरसता` में खोजा है । द्वैत [illegible] के ध्वंसावशेष पर पश्चिमी भौतिक विज्ञानवादी दृष्टि के साथ

१-- संस्कृति का दार्शनिक विवेचन, पृ० १४५-- डा० देवराज

अपनी परम्परागत श्रद्धाजीवी जीवन-दृष्टि को संपृक्त करके हम परिवार में सुखी रह सकते हैं , राज्य में सुखी रह सकते हैं । राजनीति का आदर्श भारतीय संस्कृति में सदा से अपनत्व,सहयोग, स्वातन्त्र्य,सौहार्द से शासन रहा है --भय,हिंसा, क्रूरता, शोषण और विप्लव पर आधारित राजतंत्र का उच्छेदन कर प्रसाद ने उस राष्ट्रनीति का संदेश दिया है जो इड़ा और मानव दोनों के आश्रय में पलती है --

तुम दोनों देखो राष्ट्र नीति ।
शासन बन फैलाओ न भीति ।।

सृजनात्मक क्षमता

मानव का निर्माता उसे सृजन की असाधारण क्षमता प्रदान कर हार गया क्योंकि उसने `दीने दई गुलाब की इन डारन के फूल` कह कर उसके निर्माण में कमी निकाल कर अपने दूसरे प्रजापति अपारे काव्य संसारे कवि एक प्रजापति की सहायता से नये समाज का सृजन किया । मानव की यह सृजनात्मक क्षमता है उसे जड़ और चेतन के समस्त पदार्थों और जीवों से पृथक कर [illegible] प्रदान करती है । निर्माण प्रेम और सौन्दर्यबोध ने मिलकर नाना कलाओं का निर्माण किया । घोंसला बनाने वाला पक्षी और मधु निर्मित करने वाली मधुमक्षिका निर्माता नहीं है , क्योंकि वहां प्रकृति और प्रवृत्तियों (instincts) की विशुद्ध प्रेरणा है न कि प्राणि का अपना कृतित्व । मनुष्य का निर्माण उसका अपना है ।[1] यह ठीक है कि [illegible] की,निर्माण की, यह मूल प्रेरणा प्रकृतिदत्त ही है, किन्तु उसके उपयोग में मानव स्वतन्त्र है । वह परिस्थिति के अनुसार उसके उपयोग में चिर नवता और विविधता का परिचय देता है, उससे इसे स्वतंत्र ही मानना चाहिए । कैमरे से लिए गए यांत्रिक अनुकरण की द्योतक फोटो और चित्रकार की कृति में निहित कलात्मकता का मूल अन्तर [illegible] को लेकर है ।

प्रसाद के साहित्यकार ने कोरी पटिया पर लिखना शुरू नहीं किया । [illegible] की देवसृष्टि के भग्नावशेष पर मानवीय संस्कृति का भव्य

१- कला का [illegible] शास्त्र,पृ० २ से-- हरद्वार दुबे

प्रासाद निर्मित किया है । उनकी सांस्कृतिक दृष्टि में दीर्घ परम्परा की कड़ी के दोनों सीमान्त हैं । उन्होंने अतीत और वर्तमान की समस्त मूल्य दृष्टियों का समन्वय प्रस्तुत किया है तो दूसरी ओर क्रान्तिकारी ढंग से अतीत का विरोध ध्वन्स के लिए नहीं अपितु सृजन की भावना से अनुप्राणित होकर किया है । साहित्य की जननी संस्कृति है । 'साहित्य की सार्थकता अपनी जननी के शाश्वत तथा सामयिक दोनों रूपों के संरक्षण में है । कहने की आवश्यकता नहीं कि कामायनी अपनी सीमा तथा विस्तार के अनुसार दोनों स्वरूपों के संरक्षण में समर्थ है । कामायनी जिस प्रकार भारतीय संस्कृति के प्राचीन सिद्धान्त-- समरसता, आनन्दवाद,लोक संग्रह, कर्मवाद, अहिंसा,नारी स्वातंत्र्य आदि की उपयोगिता आधुनिक युग में सिद्ध कर रही है उसी प्रकार उसके [illegible] स्वरूप में परिवर्तन की आवश्यकता बता रही है, वर्तमान समाज में प्रचलित जाति-पाँत,वर्णआश्रम, तीर्थ यात्रा, नारी संबंधी धारणाओं का खण्डन करते हुए उनका आधुनिक व्यावहारिक स्वरूप व्यक्त कर रही है ।'[१] प्रसाद ने सृजन को शून्य में से [illegible] उत्पन्न करना नहीं लिया । यही कारण है कि उन्होंने उपनिषद् ब्राह्मणग्रन्थों में बिखरे ऐतिहासिक लोकप्रख्यात कथानक में [illegible]िक रंग भर उसे अभिनव रूप दे, 'मानवता की महायात्रा' बना दिया । पहले से विद्यमान पदार्थों के सम्मिश्रण या नये संगठन को ही सृजन या निर्माण कहते हैं । भौतिक क्षेत्र में सृजन आविष्कार कहा जाता है तो आध्यात्मिक क्षेत्र में कला, साहित्य,दर्शन,इतर विज्ञान । प्रसाद की सृजनात्मक क्षमता का निरन्तर विकास हुआ है । ब्रजभाषा के प्रेम पथिक से लेकर खड़ी बोली के महाकाव्य 'कामायनी' तक बौद्ध दर्शन के अनुभावों से लेकर मानव धर्म के सोपान तक उनकी विकसित चेतना अपने अनुभव तथा विचार जगत् की सीमाओं में नूतन सृजन करती रही । ' क्योंकि जहां मनुष्य सचेत रूप में अपने परिवेश और जीवन का निर्माण करता है वहां प्रत्यय(idea) या विचार सत्ता (being) का पूर्ववर्ती होता है । मनुष्य एक सृजनशील प्राणी है । उसका जीवन यांत्रिक नहीं है ,उसकी गति यंत्र के समान अनिर्धारित तथा तर्क पर

१- कामायनी - [illegible],पृ० २०१-०१ -- डा० रामलाल सिंह

बँधी हुई नहीं होती ।[1] कलाकार चींटियों के समान ज्ञान का अन्वेषण कर मकड़ी के समान कल्पनाजन्य ताने बाने में लीन और होकर नूतन विचारों का जाल बुनता है तथा मधुमक्खी के समान संग्रह को `मधु` नामक नूतन रूप प्रदान करता है ।

प्रसाद का दर्शन यदि एक प्रत्यभिज्ञा दर्शन के ३६ तत्वों से युक्त है तो दूसरी ओर उसमें [illegible] का अद्वैतवाद, सर्वात्मवाद, बौद्धों की करुणा तथा क्षणवाद, नियतिवाद पश्चिम के द्वन्द्व - सिद्धान्त का भी आकलन है । इन सभी को अपनी [illegible] की आँच में तपा कर उन्होंने जीवन के मंथन का अमृत निकाल कर कामायनी की सर्जना की है । यहां काव्य में दर्शन और दर्शन में काव्य एकाकार हो गये हैं । उनमें दर्शन का सार समरसता तथा आनन्द में निहित है । समरसता के मार्ग से आनन्दोपलब्धि होती है --`समरस-परानन्द परयो:` । समरसता (समान आस्वादन वाले) शब्द का सर्वप्रथम शास्त्रीय अर्थ में प्रयोग शैवागम में हुवा है जिसमें शिव शक्ति के परस्पर तादात्म्य संवेद को सामरस्य कहा है । कला का आस्वादक भी भेदाभेदसंवेद्य से [illegible] की स्थिति में समरस या तन्मय हो जाता है । `जयशंकर प्रसाद ने कामायनी में समरसता की स्थिति को ही चरम उपलब्धि की भूमिका के रूप में मान्यता दी है ।[2] स्त्री पुरुष में समरसता अपेक्षित है, क्योंकि पुरुष से प्रकृति किंवा प्रकृति से एकान्ततः अभिन्न है , क्योंकि `न शिवेन विना देवी न देव्या च विना शिवः ।` अधिकारी और अधिकारी और अधिकृत का द्वन्द्व दूर कर सामंजस्य होना चाहिए क्योंकि जिस प्रकार `शक्त्या विना परे शिवे नाम धाम न विद्यते ,` उसी प्रकार बिना अधिकृत के अधिकारी की क्या कल्पना ? अतः श्रद्धा जो ज्ञान की लब्धि का आवश्यक उपादान है `सब की समरसता की पुकार मेरे सुत सुन मां की पुकार` कह कर इड़ा और अपने आत्मज मानव को एक कर हृदय

१- साहित्य और [illegible] ,पृ० ५२ -- डा० देवराज

२- हिन्दी साहित्य कोश `समरसता` -- [illegible] मिश्र

और बुद्धि का द्वन्द्व मिटा देती है । इसी प्रकार 'प्रकृति थी पराजित पदतल में' मानने वाली देवजाति पर दुर्जेय प्रकृति का प्रकोप प्रलय के रूप में हुआ । मानव संसृति के आदि पुरुष के साथ प्रकृति का सामंजस्य है । चिंता सर्ग में मनु के पास वह जानी सी अनजानी सी खड़ी है तो कैलास पर सुमन बिखेर कर मानसरोवर के तट को निर्मल बनाती है । अतः प्रसाद ने व्यापक जीवन-दर्शन की सर्जना हेतु सुख-दुख, प्रकृति, पुरुष, ज्ञान-क्रिया, इच्छा, अधिकारी-अधिकृत, शिव-शक्ति का सामरस्य दर्शित किया है --

> चिर मिलित प्रकृति से पुलकित
> वह चेतन पुरुष पुरातन
> निज शक्ति तरंगायित थी
> आनन्द अम्बु- निधि शोभन

शांभव स्थिति में (शिवोऽहम्) जीवात्मा और परमात्मा, शिव और ब्रह्म, जड़ और चेतन आदि में कोई भेद नहीं रहता । और आनन्द (यं प्राप्य न तरम कांक्षति)की स्थिति आ जाती है, क्योंकि आनन्द ही ब्रह्म है । आनन्द से ही सभी प्राणि उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर आनन्द से ही जीते हैं तथा इस लोक से प्रस्थापन करते हुए अन्त में आनन्द में ही प्रविष्ट हो जाते हैं[1]। प्रसाद ने आनन्दवाद की इस धारा को अपना कर जो प्राचीनकाल से यहां चली आ रही थी, पराजित मानव को एक नवीन दिशा दी । रवीन्द्र के समान उनके लिए भी यह कहा जा सकता है कि वे भारत की उस [illegible]तक परम्परा के प्रतिनिधि हैं जो जिन्दगी को पूरे रूप में स्वीकार करती है, जिसमें आमोद-प्रमोद का स्थान है[2]। प्रसाद ने यथार्थवादी दृष्टि से आनन्द की भावना को भारतीयोचित विवेक का प्रमुख अंग बनाया --" परन्तु प्राचीन आर्य लोग सदैव से अपने क्रिया-कलाप में आनन्द, उल्लास और प्रमोद के उपासक रहे । आनन्द भावना प्रिय-कल्पना और प्रमोद हमारी [illegible] वस्तु थी । आज भी आतिमत निर्वापित

---

1 तैत्तिरीयोपनिषद 3/6

~~1- हिन्दुस्तान की कहानी पृ० [illegible]~~

~~2- काव्य और कला तथा अन्य [illegible] पृ०-[illegible]~~

के कारण इसे ग्रहण न कर सकने पर, यह सैमेटिक है, यह कहकर सन्तोष कर लिया जाता है[1]।" उन्होंने सिद्ध किया कि आर्य यहीं के निवासी थे, कहीं से आये न थे और इन्द्र के आत्मवाद से आर्यों में आनन्द की प्रतिष्ठा हुई तो असीरिया में वरुण के आदर्श को लेकर एकेश्वरवाद और विवेक की प्रतिष्ठापना हुई। प्रसाद की सृजनात्मक क्षमता का व परिचायक 'काम' सर्ग में पुनर्स्थापित वैदिक परम्परा है। इसी प्रकार 'भूमा' (नाल्पेसुखमस्ति भूमा वै सुखम्) शब्द सत्य और [illegible] विषय चिन्तन को साकार कर देता है। ऋतम्भराप्रज्ञावान् भूमा में सुख पाता है -- वह व्यष्टिगत सुख को समष्टिगत सुख में पर्यवसित कर देता है। भूमा के सुख का जिसे आभास हो जाता है उसे [illegible] बन्धन नहीं बाँध सकते। इसी कारण यह कहा जाता है कि व्याकरण और भाषा शास्त्र के मुकाबले में भाषा खुद बड़ी चीज है। यह एक जाति और संस्कृति की [illegible] विरासत है और जिन विचारों और कल्पनाओं ने उन्हें ढाला है उनका जीता-जागता रूप है[2]। भाषा का एक व्यक्ति सृजन नहीं करता किन्तु प्रसाद ने अच्छी प्रकार शब्दों की आत्मा में पैठ कर सुष्ठु प्रयोग द्वारा उन्हें कामधेनु बना लिया है। खड़ी बोली के माधुर्य निर्माता के रूप में प्रसाद का स्थान अप्रतिम है।

प्रसाद ने [illegible] का रूपक और अपनी परिकल्पना को मिला कर मानवता का [illegible] इतिहास निर्माण किया है[1]।" हमारे सामने एक चित्र है वह किसी लोक विश्रुत या अलौकिक चरित्र की दिग्विजय यात्रा नहीं चित्रित करता, प्रत्युत उसके सब हल्के गहरे रंग, सारी लघु दीर्घ रेखाएँ दो व्यक्तियों को स्पष्ट करती है और ये दो व्यक्तित्व हैं -- आदिम पुरुष और आदिम नारी। अत: उनमें अलौकिकता से अधिक उन प्रवृत्तियों का स्थान है, जिनसे लोक का निर्माण सम्भव हो सका। इस दृष्टि से उनकी यह चारित्रिक विशेषताएं आज भी हमारी हैं[3]।" पद्मावत केवल रूपक काव्य है किन्तु कामायनी

१- काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ० ५८

२- [illegible] की कहानी, [illegible], पृ० [illegible]

३- क[illegible] एक परिचय -- महादेवी -- विज्ञप्ति, पृ० [illegible]

मनोवैज्ञानिक रूपक-काव्य है । वृत्तियों की नराकार उद्भावना सर्वथा मौलिक है । आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने कामायनी को मनुस्मृति के सहस्रों वर्ष बाद मानव-धर्म निरूपण का मौलिक प्रयास कहा है ।

चेतना प्रधान महाकाव्य 'कामायनी' का काव्यरूप ऐहिक घटनाओं के भौतिक विस्तार से रहित है । इस भाव प्रधान महाकाव्य में भारतीय संस्कृति की ओजस्वित विशालता और बुद्ध संस्कृति की संश्लेषणात्मक व्यापकता का अद्भुत समन्वय है, बुद्धि के अनन्तर विस्तार का भावना के चित्रमय धरातल पर मिलन है, ज्ञान की गहराई है, विवेक की कल्पना है, मानवीय सद्भावना की सफलता है । धीरोदात्त नायकके स्थान पर धीरोदात्त नायिका प्रधान होना, दग्धाक्षर से काव्य का प्रारम्भ करना, सर्गों का मसनवी शैली पर नामकरण, गीतितत्व से निर्मित इड़ा सर्ग का वैभव आदि अनेक तत्व अनुपम महाकाव्य स्रष्टा प्रसाद की अभिनव शैली का यशोगान कर रहे हैं ।

कामायनी एक ऐसे युग की सृष्टि है जो नाना प्रकार की आध्यात्मिक या बौद्धिक द्वन्द्वों से आक्रान्त है -- जिसमें अनेक प्रकार की विचार क्रांतियां एक-दूसरे का खण्डन करती हुई जीवनावस्था को खण्डित कर रही हैं । कामायनी द्वारा प्रसाद ने एक ऐसे जीवन दर्शन की प्रतिष्ठा की जो एक साथ ही [illegible] और सर्वकालीन समस्याओं का समाधान कर सके,[1] एक ऐसे सौन्दर्य बोध की प्रतिष्ठा की है जो जीवन के प्रांगण में फल-फूल सके, एक ऐसे नैतिक बोध की स्थापना की है जिसे अपना कर हम विकास की दौड़ में सधे हुए आगे निकल सकें — इस संदर्भ में उन्होंने असाधारण सृजनात्मक क्षमता के अविघटित जागरूक स्रोत से भारतीय संस्कृति का स्वरूप दर्शित किया है ।

१- [illegible] के अध्ययन की समस्याएं, पृ० १० — डा० नगेन्द्र

कुरुक्षेत्र

-0-

विकल संक्रान्ति काल का नर संतप्त विश्व के लिए छाया खोजने की आशा में इतिहास-लोक तक जाता है, परन्तु 'कुरुक्षेत्र' का संघर्षनाद, धधकता हुआ अम्बर, पवन का दाह क्षुब्ध सागर का रोर उसके सामने अनेक पागल कर देने वाले प्रश्नों को रखता है । कलिंग युद्ध में लाशों में लिपटी विजय-श्री को प्राप्त कर चण्डाशोक कांप गया । युद्ध की भीषणता और [illegible] ने 'कलिंग विजय' को पराजय में बदल दिया । महाभारत के भीषण संग्राम के बाद धर्मराज युधिष्ठिर को महाभारत की निस्सारता एवं व्यर्थता कचोटने लगती है । पांच असहिष्णु नरों के द्वेष से सम्पूर्ण देश का संहार हो गया, एक द्रोपदी को दिव्य वस्त्रालंकृत करने में कितनी माताएं पुत्रहीन और [illegible] पतिहीन हो गई हैं । शर-शैया पर पड़े भीष्म-[illegible] के सामने जाकर युधिष्ठिर आत्मग्लानि का प्रकाशन करते हैं । वे स्वयं को जगत् के सामने मुंह दिखाने योग्य नहीं समझते परन्तु दूसरी ओर आत्मघात जैसा पाप नहीं कर सकते अत: वे वन में जाना चाहते हैं जहां निबिड़ कन्दरा में बैठकर वे अश्रु बहा सकें कि पशु पक्षी भी न देख सकें —

> जानता हूं पाप न छुटेगा वनवास से भी
> छिपा तो रहूंगा, कुछ दु:ख तो भुलाऊंगा ।
> व्यंग्य से बिंधेगा वहां जर्जर हृदय तो नहीं—
> वन में कहीं तो धर्मराज न [illegible] ।।

महाभारत के आख्यान को लेकर नवयुग में उसकी सर्जना की क्या कोई निश्चित उपादेयता है ? स्पष्ट ही पुराण का गायन करना कवि का उद्देश्य नहीं है । `ऊँची कविताओं का यह लक्षण होता है कि वे अपने युग की शीतलता या दाह का प्रमाण अपने भीतर रखती हैं । ये कविताएं वर्तमान से जन्म लेकर वर्तमान में उठकर ही अपनी झंकार से अतीत और भविष्य का स्पर्श करती हैं । कवि को अपने युग को चित्रित करने का सायास प्रयास नहीं करना होता, ऐसा तो तभी होता है जब वह अपने समय से बचना चाहता है । समय का वातावरण काव्य का स्वाद है और न वह किसी एक युग की सम्पत्ति है[1]।' महाकवि दिनकर की उपर्युक्त मान्यता के परिप्रेक्ष्य में यदि हम कुरुक्षेत्र का मूल्यांकन करें तो यह ज्ञात होता है कि इस काव्य का द्वापर युगीन कलेवर नवयुग का प्राण छिपाए है । कवि ने इस काव्य की रचना द्वारा दो युगों की संवेदना को जोड़ा है । द्वितीय महायुद्ध के भीषण संहार ने कवि-मानस को महाभारत के आख्यान के सहारे युद्ध और शांति की समस्या पर विचार करने को विवश कर दिया । भारतीय संस्कृति के विश्वकोश महाभारत को आधार बनाकर चलने वाले इस महाकाव्य `कुरुक्षेत्र' में भारतीय संस्कृति के विभिन्न तत्व और मूल्य प्रतिफलित हुए हैं । जीवन और जगत में निरन्तर सौन्दर्यान्वेषण करने वाला मानव युद्ध और शान्ति,घृणा और प्रेम, प्रवृत्ति और निवृत्ति के बीच किस प्रकार अपने जीवन विवेक और नैतिक बोध के सहारे अपनी सृजनात्मक क्षमता को विकसित करता है , यही `कुरुक्षेत्र' की विशिष्ट उपलब्धि है ।

कुरुक्षेत्र में सौन्दर्य बोध

कुरूप और अरुचिकर के बीच सिमटे धरातल को रूपवान् और रुचिप्रद बनाने की अभियोजना के मध्य ही संस्कृति के जन्म और विकास का सूत्र छिपा हुआ है । जीवन को निरन्तर सुन्दर बनाने की लम्बी प्रक्रिया ही मानवीय सभ्यता और

१- काव्य की भूमिका,पृ० २ — रामधारी सिंह `दिनकर' सं० १९५८

संस्कृति का मूल है । युद्ध, जिसमें नाना व्यक्तियों का विनाश, असंख्य माताओं और पत्नियों का विलाप तथा सृष्टिव्यापी विनाश का ज्वालाएं सन्निहित हैं -- मानवता के नाम पर कलंक है । उस कलंक से विमुक्त होने, प्रेम शान्ति और मंगल की स्थापना के लिए कवि व्याकुल है --

धर्म का दीपक, दया का दीप
कब जलेगा, कब जलेगा, विश्व में भगवान ?
कब सुकोमल ज्योति से अभिषिक्त
हो, सरस होंगे जली-सूखी रसा के प्राण ?
है बहुत बरसी धरित्री पर अमृत की धार
पर, नहीं अब तक सुशीतल हो सका संसार ।

विज्ञान की अपरिमिता शक्ति सम्पन्न मानव को मस्तिष्क का अधिकारी बना देखकर 'प्राण के देवता' चीत्कार कर रहे हैं युद्धों की अटूट श्रृंखला के बीच अन्तर्जगत के दया, करुणा, ममता, स्नेह आदि सौन्दर्य निर्मायक उपकरण लुट रहे हैं । 'द्वन्द्वगीत' में दिनकर ने 'राग और विराग' की समस्या को उठाया था । जहां पर संसार की कटुता, विषमता, नश्वरता आदि के बीच 'विराग' का जन्म होता है जिसकी भावात्मक संस्थिति 'राग की जय' के रूप में दिखलाई गई है । 'कुरुक्षेत्र' में कवि ने विशुद्ध वैचारिक धरातल पर उस समस्या को भीष्म के माध्यम से उठाया है । कुरुक्षेत्र के महाविनाशकारी संग्राम के पीछे हृदयहीन 'विराग' ही कार्य कर रहा था । राग और प्रेम जैसी स्वभावज प्रवृत्तियों को भीष्म दबाते हैं, जिसके कारण उनका असंतुलित व्यक्तित्व युद्ध का समाधान न खोज सका --

प्रकटी होती मधुर प्रेम की
मुझ पर कहीं अमरता ।
स्यात् देश को कुरुक्षेत्र का
दिन न देखना पड़ता ।।

वे धर्मराज से कहते हैं कि अपने कोमल भावों की अवहेलना कर उन्होंने जग को रण की ओर ढकेला है । जीवन के अरुणाभ प्रहर में ही कठोर व्रत धारण कर

स्निग्ध भावों की सदा अवहेलना करने वाले भीष्म पितामह ने दुर्योधन को देह तथा पाण्डवों को हृदय देकर समस्या को और उलझा दिया[१]। बुद्धि शासिका थी जीवन की अनुचर मात्र हृदय था' -- कहकर भीष्म स्वयं अपनी मन:स्थिति स्पष्ट करते हैं। दिनकर की दृष्टि में जीवन उपभोग में से विकसित होने वाले सौन्दर्य को महत्ता है। जहाँ एक ओर उन्होंने कोरी भावसम्पदा पर जीने की कामना से व्याकुल जीवन से पराभूत युधिष्ठिर को अपनी आलोचना का केन्द्र बनाया है वहां दूसरी ओर उन्होंने मात्र बुद्धि और तर्कना के द्वारा भौतिक शक्तियों के पीछे पागल मानव को उस स्नेह की महत्ता सिखलाने का प्रयास किया है जिसकी 'कोमलता की लौ व्रत के आलोकों से बढ़कर है[२]।'

जीवन से पलायन नहीं अपितु जीवन के सहज उपभोग से विकास को सम्भावनाओं को खोज निकाला जा सकता है। अत: संन्यास मन की कायरता है। सच्चा मनुजत्व जीवन की ग्रन्थियां सुलझाता है। संन्यासी जीवन से पलायन कर वन में जाता है, क्योंकि उसका दृष्टिकोण एकांगी होता है। वह सदा मधुरता हंसी विजय और प्राप्ति का आकांक्षी होता है और उसके साथ संलग्न तिक्तता, तपन, पराजय और अप्राप्ति से मुंह मोड़ लेना चाहता है। बिना मंदर को बढ़ाए रस पीयूष की कल्पना कैसे ? बिना फुनगी पर चढ़े सुधा फल पाया नहीं जा सकता --

सारा वह जीवन समुद्र को
वही छोड़ देता है।
सुधा-सुरा-मणि-रत्न-कोष से
पीठ फेर लेता है ।।

वह जीवन से यह सोचकर भाग खड़ा होता है कि सुख का अक्षय कोश कहीं प्रदीप्त वन में पड़ा है किन्तु --

----

१- प्यार पाण्डवों पर मन से
कौरव की सेवा तन से ?
सध पाता कौन काम
इस बिखरी हुई लगन से ? -- कुरुक्षेत्र, पृ०६५

२- [illegible] पृ०६२

अनाकीर्ण जग से व्याकुल हो
निकल भागना वन में ।।
धर्मराज है घोर पराजय
नर को जीवन रण में ।।

यह निवृत्ति पलायन-भ्रमित और पराजित बुद्धि का भ्रम है जो कर्म लोक से पलायन कर दूर ऐसे सपनों की भूमि खोजता है जहाँ कुसुम ही कुसुम खिलते हैं, जहाँ न तो धूल है और न पथ में कंटक ही खिलते हैं। वहाँ कष्ट होता ही नहीं, लोहा भी पिघल कर विधुमण्डल की रश्मि बन जाता है। वहाँ कल्पना के इंगित पर मनोवांछित कार्य होते हैं। परन्तु ऐसे विरक्त से पूछना चाहिए कि वहाँ पर ऐसी वीथिका है जो केवल फूलों से सेवित हो, कौन सा ऐसा पंथ वह है जहाँ चरण युग्य शूलों से नहीं छिलते ? रुग्ण चिन्तना के सहारे जीवन जगत् से पलायन करना व्यक्ति के असंतुलन का परिचायक है। भोग और त्याग की समन्वित दृष्टि को अपना कर ही हम 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' को प्राप्त कर सकते हैं। कवि का कहना है --

मिट्टी का यह भार सम्भालो
बन कर्मठ सन्यासी ।
पा सकता कुछ नहीं मनुज
बन केवल व्योम प्रवासी ।।

सौन्दर्यवेत्ता कलाकार के रूप में सामंजस्यवादी दिनकर ने जीवन की उस सुष्ठु सौन्दर्य दृष्टि का अंकन किया है जिसके सहारे हम फूल और काँटे, अमृत और गरल दोनों को अपना सकें और भूमि के पंक और त्रिविध तापों को सहर्ष झेल कर अपने भुजबल से भूतल को समृद्धि-सुषमा से भर कर --

होते विदा जगत् से, जग को
कुछ रमणीय बनाकर ।
साथ हुआ था जहाँ वहाँ से
कुछ आगे पहुँचा कर ।।

जावन विवेक

"जिस प्रकार श्रेष्ठ दार्शनिक विश्व का समग्रता का अनुचिन्तन करता है, वैसे ही श्रेष्ठ कलाकार समग्र जीवन का ।.... एक पक्षा कलाकार कभी जावन को सम्पूर्णता का नियामक नहीं बन सकता ।"[1] सुदीर्घ अन्वेषण द्वारा ही उस समग्र जीवन दृष्टि का जन्म होता है जिसे हम जावन विवेक कहते हैं । आवेश और आक्रोश के कवि दिनकर ने राष्ट्रीय युद्ध को प्रतिपाद्य बनाकर आतंकवादी युवकों का उस प्रतिक्रिया को व्यक्त किया जो गांधी जी के प्रजाधर्म के कारण जन्मी था[2] । "ऐसा लगता है कि गांधी दर्शन के विरोध में राष्ट्रीयता के जो आदर्श प्रतिमान उन्होंने स्थिर किए 'कुरुक्षेत्र' में उन्हीं का अभिव्यक्ति भीष्म जैसे पौराणिक पात्र के माध्यम से किए जाने के कारण अधिक मान्य हुई, नहीं तो कुरुक्षेत्र के प्रतिपादित शारीरिक एवं आत्मबल के सामंजस्य का सिद्धान्त वे हुंकार के इन विचार संपुष्ट गीतों में ही बना चुके थे[3] ।" 'द्वन्द्वगीत' में बौद्ध करुणा के आधार पर 'कलिंग विजय' में निहित पराजय का गीत गाने वाले कवि दिनकर के भावावेश ने 'कुरुक्षेत्र' में वैचारिक स्तर पर प्राणों को पागल कर देने वाला युद्ध और शान्ति की समस्या पर भीष्म और युधिष्ठिर ने प्रतीकों के माध्यम से विचार प्रकट किया है ।

"इस काव्य में कुरुक्षेत्र युद्ध का प्रतीक है, युधिष्ठिर और भीष्म कवि के तर्क-वितर्क अर्थात् विचार के दोनों पक्षों के प्रतीक हैं जिन पर आरूढ़ होकर द्विविधा समाधान की ओर दौड़ती है ।.... इन दोनों प्रतीकों को लेकर दिनकर ने युद्ध से विक्षुब्ध अपने व हृदय और मस्तिष्क का संकुलता से मुक्ति पाने का प्रयास किया है[4] । कुरुक्षेत्र किसी ज्ञानी के प्रौढ़ मस्तिष्क का चमत्कार नहीं है, यह

१-आधुनिक समीक्षा,पृ०२३— डा० देवराज

२- अब भवा हूं देख चतुर्दिक अपने
   क्या धर्म का,रहा विहीन प्रवर्तन — हुंकार,पृ०६६

३- युगचारण दिनकर ,पृ०६५ — डा० सावित्री सिन्हा

४- विचार और वि... ,पृ०१२८ — डा० नगेन्द्र

यह दर्शन की जीवन की व्याख्या का मौलिक प्रयास । युधिष्ठिर में निर्वेद,पलायन करुणा आदि का अंश है तो भीष्म द्वारा प्रतिपादित विचारधारा में तूफान का सा आवेग है, यौग की वह प्रखर ज्वाला है जो किसी का स्पर्श नहीं मानती । इन दोनों को तौलकर कवि ने 'कुरुक्षेत्र' में किसी निष्कर्ष को पा लेना चाहा है 'साधारण मनुष्य का शंकाकुल हृदय मस्तिष्क के स्तर पर चढ़कर बोला है ।'

द्वितीय महायुद्ध के प्रभाव का कोई प्रत्यक्ष रूप भारत में दृष्टिगत नहीं हुआ । आग यूरोप में जली और उसकी लपटों की तपन को हमने महसूस किया । बम्बों की गर्जना,[illegible] जहाजों की घर्घराहट,युद्ध-शिकार बने हुओं की कराह का प्रत्यक्ष दर्शन हमने नहीं किया । अनुभूति के साधारणीकरण की दृष्टि में 'महाभारत' को माध्यम बनाया गया । इससे पूर्व भी 'कुरुक्षेत्र' का कवि 'युद्ध' समस्या और गांधीवादी दर्शन की तत्सम्बद्ध निस्सारता को लेकर 'रश्मिरथी' हुंकार' और 'द्वन्द्वगीत' में विचार कर चुका था । परन्तु हुंकार के बीज जब [illegible] मात्र भीष्म के माध्यम से [illegible] हुए तो उन्हें महत्ता और स्थान मिला ।' युधिष्ठिर और भीष्म के माध्यम से कवि ने कतिपय प्रश्नों को उठाया है-

'युद्ध एक निन्दित और क्रूर कर्म है, किन्तु इसका दायित्व किस पर होना चाहिए? उस पर जो अनीतियों का जाल बिछा कर प्रतिकार को आमंत्रण देता है ? या उस पर जो इस जाल को छिन्न-भिन्न कर देने को आतुर है ? पाण्डवों को निर्वासित करके एक प्रकार की शान्ति की रचना तो दुर्योधन ने भी की थी । , तो क्या युधिष्ठिर महाराज को इस शान्ति भंग नहीं करना चाहिए था ?'[1]

१- कुरुक्षेत्र,पृ० १ — निवेदन

और कवि 'निवेदन' करता है कि उसने इन प्रकरणों को उठाकर 'कुरुक्षेत्र' में अपनी स्वतन्त्रता ज रूरी है कि महाभारत के भीष्म जहाँ किसी ऐसी बात का वर्णन कर रहे हों, जो युगानुकूल पड़ता हो या प्रश्न के समाधान में भीष्म का यह अनुमानित उत्तर होता, उस सम्भावना को स्थान दिया गया है । पौराणिक पात्रों के माध्यम से युगबोध को प्रतिफलित करते समय कवि को दो सीमाओं से बचना होता है । प्रथमत: ऐसा न हो कि अतीत पात्र नवीनीकरण के फेर में विद्रूप हो जायें या कोरा अतीत इतना अनजाना बन जाए कि उसे आज के युग में ग्रहण कर पाना असम्भवप्राय: हो जाए । 'कुरुक्षेत्र' के कवि ने इन दोनों सीमाओं का ध्यान रखते हुए 'कुरुक्षेत्र' की रचना की है ।

हर युद्ध से पहले द्विधा उबलते हुए क्रोध से लड़ता है और मनुज यह सोचता है कि क्या अन्याय,अपकर्ष ,विष और गरलमय द्रोह का अमोघ उपचार मात्र शस्त्र ही हैं ? पर वह लड़ता है और विजय के बाद सत्य को रणभूमि में रोता हुआ देख स्वयं रोता है --

नर का बहाया रक्त, हे भगवान् ! मैंने क्या किया ?'

\+ \+ \+

मनु का पुत्र बने पशु भोजन ! मानव का यह अन्त !

भरत-भूमि के नर-वीरों की यह दुर्गति, हा, हन्त !

युद्ध का परिणाम यदि ग्लानि और आत्मभर्त्सना को जन्म देता है तो भी मानव युद्ध-विरोधी नहीं हो पाता । स्पेंग्लर जैसे मनोवैज्ञानिकों ने यह प्रतिपादित किया है कि मनुष्य 'हिंस्र पशु' (Beast of Prey) मात्र है । कृष्ण ने पाँच गाँव मात्र पर समझौता कराने की चेष्टा की किन्तु जन्म से चली आती दुर्योधन के मन की घृणा तथा प्रतिशोध की भावना ने उसे स्वीकार नहीं किया । मनुष्य न केवल देवता होता है और न पशु-- वह दोनों का संगम होता है । कहा नहीं जा सकता कब पाशविक प्रवृत्तियाँ उसे दानव बना दें । दुर्योधन की पाशविक [illegible] स्वार्थ,द्वेष,घृणा, प्रतिशोध आदि के कारण कुरुक्षेत्र अनिवार्य हो गया । उसका [illegible] कृष्ण और [illegible] पक्ष पर नहीं आता क्योंकि .... जब बाहु [illegible] की कोई अबाहु काम लाचारी से करता

पड़े, तो उसको जिम्मेवारी शुद्ध बुद्धि वाले साधु पुरुषों पर नहीं रहता। किन्तु उसका जिम्मेवार वही दुष्ट पुरुष हो जाता है कि जिसके दुष्ट कर्मों का यह नतीजा है।[1] कमेटी आन इण्टलेक्चुअल कोआपरेशन आफ दि लीग आफ नेशन्स के गणमान्य विचारकों ने 'युद्ध क्यों ?' नामक प्रश्न पर विचार जानने के लिए आइंस्टाइन को दायित्व सौंपा। उन्होंने फ्रायड से प्रश्न पूछा कि युद्धोन्माद क्या इसीलिए इतना सहज स्वाभाविक है कि मानव की मूलवृत्ति घृणा और विनाश की है' फ्रायड ने सकारात्मक उत्तर दिया।[2] दिनकर के अनुसार युद्ध के जन्म का कारण है व्यक्ति और कालान्तर में समुदाय के अन्तर्व्योम का क्षोभ, घृणा, गरल, ईर्ष्या, द्वेष से धधक उठना। यह मानों युद्ध के लिए भट्ठियां तैयार होती हैं जिनसे रुग्ण राजनैतिक उलझनों के या देश के प्रेम का अवलम्बन लेकर युद्ध का ज्वालामुखी फूटता है --

किन्तु सब के मूल में रहता हलाहल है वही
फैलता है जो घृणा से, स्वार्थमय विद्वेष से।

विज्ञान का अवलम्बन ले जिस मनुपुत्र ने गिरि, सिन्धु, भू, आकाश के समस्त दुर्ज्ञेय, अज्ञेय रहस्यों का अनावरण कर दिया है वह शान्ति के बीच क्यों नहीं जीना चाहता --

किन्तु नर को चाहिए नित विघ्न कुछ दुर्जेय।
सोचने को और करने को नया संघर्ष ।।

यही कारण है कि 'पोथी पठित परीक्षित भूमि' पर वह उस व्यक्ति के समान हो गया है जो स्वतः सर्जित प्रतिमानों को इसलिए तोड़ देता है कि अब उसको सृजनात्मक क्षमता के विकास का मार्ग नहीं मिल रहा है। युद्ध कोई आकस्मिक घटना नहीं है। भीष्म युधिष्ठिर को समझाते हैं कि ज्वालामुखी शैल सहसा नहीं फूटता, निर्मल व्योम से वज्रपात नहीं होता। उसके लिए अवनि का ताप और धूमाकुल गगन में कड़कती दामिनी की अपेक्षा होती है।[3] मानव आसानी से किसी

१- गीता रहस्य, पृ०४२६--बाल गंगाधर तिलक
२- A Social Psychology of War & Peace - Mark.A.May.
३- कुरुक्षेत्र, पृ० ११

से लड़ना या मरना नहीं चाहता पर यह शांति केवल मनुज को रोक सकती है उस दनुज को नहीं जो विनय की नीति को कायरों की नीति मानता है । फलत: अनय की शृंखला निरन्तर घोर होती जाती है तब एक दिन महाविस्फोट फूटता है[1]। ऐसा ही कि स्फोट महाभारत बनकर फूटा था जिसके मूल में मात्र कौरव पाण्डव की शत्रुता ही नहीं थी अपितु इस आग को सुलगाने में कर्ण का पार्थवध का प्रण, द्रुपद का गुरु द्रोण से वैर शोधन, पिता का ऋण चुकाने के लिए कुरु-कुल की पताका को धूल में मिलाने की शकुनि-लालसा, कृष्ण के सुधारों और अश्वमेध यज्ञ में हुए शिशुपाल वध से चिढ़े हुए विविध राजाओं का आक्रोश छिपा था[2]। पाण्डव वनवास-प्रसंग में खून की घूंट पी जाने वालों को प्रतिहिंसा बोली भी, द्रौपदी का चीर हरण-अपमान निहित था[3]।

> कहीं था जल रहा कोई किसी की शूरता से ।
> कहीं था क्षोभ में कोई किसी की क्रूरता से ।।
> कहीं उत्कर्ष ही नृप का नृपों को सालता था ।
> कहीं प्रतिशोध का कोई भुजंगम पालता था ।।

प्रतिशोध,लोभ आदि तीव्र मनोविकार युद्ध को जन्म देते हैं वे व्यक्ति के आन्तरिक युद्ध का बाह्य प्रतिफलन हैं । व्यक्ति का स्वार्थ भाव जब तक जीवित है तब तक संसार में युद्ध अनिवार्य है । अत: उसको अवश्यम्भाविता को समझते हुए व्यक्ति को संताप नहीं करना चाहिए[4]। क्योंकि व्यक्ति लड़ना न भी चाहे तो भी जब शत्रु द्वार पर आकर ललकारे या रोग का प्रकोप हुआ तो उस स्थिति में जूझना होता ही है तिक्त औषधि के अतिरिक्त कोई चारा नहीं रहता--

---

१- कुरुक्षेत्र, पृ० ३६ २- कुरुक्षेत्र,पृ० ४१

३- भरी सभा में लाज द्रौपदी
  की न गयी थी लूटी
यह तो वही कराल आग
  थी निर्भय होकर फूटी -- कुरुक्षेत्र,पृ० ४२

४- युद्ध को तुम निंद्य कहते हो, मगर
जब तलक हैं उठ रहीं चिनगारियाँ
भिन्न स्वार्थों के कुलिश संघर्ष की
युद्ध तब तक विश्व में अनिवार्य है
और भी [illegible] है उसके लिए
[illegible] होता अभी है
तू नहीं लड़ता, न लड़ता, आग यह
फूटती निश्चय किसी भी व्याज से । कुरुक्षेत्र,पृ० [illegible]

रुग्ण होना चाहता कोई नहीं
रोग लेकिन आ गया जब पास हो
तिक्त औषधि के सिवाय उपचार क्या ?
शमित होता वह नहीं मिष्ठान्न से ।

+ + + ओ ! समर तो और भी अपवाद है
चाहता कोई नहीं इसको, मगर
जूझना पड़ता सभी को, शत्रु जब
आ गया हो द्वार पर ललकारता ।

शान्ति की स्थापना के लिए कभी-कभी युद्ध अनिवार्य हो जाता है । शान्ति कभी-कभी विषमता का रखवाला करता है --

गरल द्रोह विस्फोट हेतु का
करके सफल निवारण ।
मनुज प्रकृति ही करती शीतल
रूप शान्ति का धारण ।।

यह शान्ति तन पर शुभ्र वसन धारण कर सरल आनन से मधुमय वचन बोलता है । ऐसों से सावधान होने को माध्व ने कहा कि उस नागिन का दशन विष से भरा है । जरासंध की कारा को नृपों से पूर्ण रखने वाला, कुल समृद्धि का विपुल कोश कल,बल,छल से संचित कर

.... प्रहरी बिठला कर
कहती कुछ मत बोलो
शांति सुधा बह रही न इसमें
गरल शांति का घोलो
छिपो छलो मत, हृदय रक्त
अपना मुझको पीने दो ।
कब रहे साम्राज्य शान्ति का
जियो और जीने दो ।।

अनेक अनुचित साधनों से सत्ता को अपने हाथों में समेट लेने वाले शांतिमय लड़ाई[1] के विरोधी हैं। वे शांति के भक्त हैं ? परन्तु उनके लड्डा और अनय के नीचे पिसने वालों का हृदय जहां क्रोध से भभक रहा हो ऐसे ऊपर शांति और तलातल में चिन्गारियों वाले वातावरण में यदि ~~ज्वालामुखी~~ फूट आवेश उबल फूटें, संयम खो कर मानव दानव बनकर यदि अन्यायी पर टूट पड़े तो उस दारुण जगद्दहन का दोषी कौन होगा ? जब स्वत्व मांगने पर भी न मिले और जीवन भार हो जाए तब उस व्यापक अशांति के नाश के लिए, शांति की स्थापना के लिए युद्ध अनिवार्य हो जाता है[1]।

परन्तु युद्धों की शृंखला को शमित करने का अमोघ उपाय युद्ध नहीं हो सकता, गौतम बुद्ध के शब्दों में "न हि वेरेन वेरानि सम्मन्तीध कुदाचनं"[2]। प्रेम और करुणा, अहिंसा और स्नेह की छाया तले मानव मात्र भाई-भाई बनकर जिए यह स्वप्न आज भी आकाश में भ्रमण कर रहा है। हम धरतीवासी मानव अभी आधे पथ तक ही पहुँच पाए हैं। ~~जिसका आरोपण~~ यह शान्ति कोई ऐसा बाह्य उपकरण नहीं है जिसका आरोपण किया जा सके। यह तो आत्मा की ज्योति के रूप में उत्पन्न होता है जिसे सहज-भीत तन ही नहीं मनुज का मन भी मानता है। उस शांति तक पहुंचने का उपाय ? इस युद्धजन्य अशांत विभाषिका को नष्ट करने का साधन ? इसके लिए दो ही स्थिति रह जाती है या तो उन विषदन्तों को उखाड़ फेंको जो ज्वलित करते हैं, वृक व्याघ्रों से धरती को मुक्त कर दिया जाए या अजा के छागलों को भी व्याघ्र बनाकर उनके दांतों में कालकूट विष भर दिया जाए[3]। परन्तु यह समाधान सम्पूर्ण ग्राह्य नहीं हो सकता। सभी व्याघ्र बनकर लड़ना छोड़ देंगे इसकी क्या गारण्टी है ? अनेक सर्प परिवार आपसी महाभारत में नाश हो जाते हैं। युद्ध को नष्ट करने का एक ही उपाय है — मानव मात्र में ऐक्य की स्थापना। इसके लिए केवल स्नेह, ममत्व से काम नहीं चलेगा, इसके लिए उस भीमकाय वृक्ष की शाखाएँ तोड़ने और

---

1. Second servant : Let me have war, say I, it exceeds as far as as day does night, its spritely, awaking, audible and full of vent. Peace is very apoplexy, lethargy, mulled, death, sleepy, insensible..... Coriolanus - Shakespeare.

2- धम्मपद, [illegible] गाथा ५

3- [illegible] पृ०१०२

जालियां कुतरने की भी जरूरत होगी जो अपने कारण अनेक युद्धों की संभावनाओं को कुचल रहा है[1]। भीष्म युधिष्ठिर को यहां समझाते हैं कि यह धरती सबों की माता है किसी एक की ख्यात दासी नहीं है। सबों को भूमि का पोषण रस पीने और विविध अभावों में अशंक हो जाने का अधिकार है। 'माता भूमिः पुत्रोऽहं' तथा 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' का आदर्श त्याग कर जब से नर वैयक्तिक भोगवाद में रत हुआ तभी से मानवता की राह में अनेक पर्वत बाधा बन उपस्थित हुए --

न्यायोचित सुख सुलभ नहीं
जब तक मानव मानव को ।
चैन कहाँ धरती पर तब तक
शान्ति कहाँ इस भव को ।।
जब तक मनुज मनुज का यह
सुख भाग नहीं सम होगा ।
शमित न होगा कोलाहल
संघर्ष नहीं कम होगा ।।

कवि एक ऐसे समाजवाद की स्थापना करना चाहता है जिसमें सब जीवन का पूर्ण उपयोग कर सकें, शारीरिक और मानसिक विकास की सम्भावनाओं की पूर्ति के लिए समान सुविधाएं प्राप्त कर सकें[2] --

जो कुछ न्यस्त प्रकृति में है
वह मनुज मात्र का धन है ।
धर्मराज उसके कण कण का
अधिकारी जन जन है ।।

१- कुरुक्षेत्र, पृ० १०२

२- "A new social order is possible in which - through the planned utilisation and extension of the existing productive forces - the means of existence for enjoying life, for the development of employment of all bodily and mental facilities, will be available in an equal measure and in ever increasing fullness - Marxism: Past and Present. Page 126. by R.N.Carew Hunt.

कुरुक्षेत्र के कवि ने कर्मनिरतता या प्रवृत्तिपरता की स्थापना के लिए ही उस दृश्य को लेकर काव्य सृजन किया है जब कौरवों का श्राद्ध करने के लिए या चिता के सामने रोने के लिए एक वृद्धा या अंधे के सिवा कोई शेष नहीं बचा था धर्मराज युधिष्ठिर शर शैया पर आसीन भीष्म पितामह के सामने जाकर अपने मन की द्विविधा व्यक्त करते हैं कि वे आत्मघात करना चाहते हैं पर चूंकि उसे पाप कहा गया है अत: वे वन में जाकर अश्रु बहाना चाहते हैं जहाँ धर्मराज शब्द उन्हें बेध न सके। कृष्ण ने युद्ध-पराङ्-मुख अर्जुन को उपदेश दिया कि युद्ध अनघ है परन्तु उनके प्राण पल-पल परिताप से जल रहे हैं। अभिमन्यु, सुयोधन, पितामह आदि का पापपूर्ण वध उन्हें कचोटता है। वे कुछ निर्णय कर पाने में असमर्थ हैं[१]। इतने पाप पूर्ण कर्म करने के बाद भी क्या रोती हुई विधवा वधुआ से चिता-समीप विवाह रचायेंगे ?

वन में अनुरक्ति दिशा अवशिष्ट
स्वकीर्ति को भी न गवाऊँगा मैं।
ठगने का कलंक लगा सो लगा
अब और इसे न बढ़ाऊँगा मैं ।।

\+ \+ \+ यह होगा महारण राग के साथ --
युधिष्ठिर ही विजयी निकलेगा।
नर संस्कृति की रण छिन्न लता पर
शांति सुधा फल दिव्य फलेगा ।।

भीष्म पितामह ने इस निवृत्त धर्मराज को जीवन का संदेश दिया कि सन्यास सोचना मन की कायरता है, सच्चा मनुजत्व जीवन की ग्रंथियाँ सुलझाने में है[२]। वैयक्तिक सुख की प्राप्ति अर्थात् स्वमोक्ष का सर्वजन हित के सामने कोई स्थान

१- एक ओर सत्यमयी गीता भगवान की है
एक ओर जीवन की विरति प्रबुद्ध है।
जानता हूँ लड़ना पड़ा था विवश हो, किन्तु
लोहू सनी जीत मुझे दीखती अशुद्ध है ।। पृ०१०

२- कुरुक्षेत्र, पृ० ११६

नहीं है। अपना सुख पाना बहुत सुलभ है परन्तु कोटि-कोटि मनुजों को सुखी

जीवन को अनित्य कहकर अचल मरण को जीवन कहने वाली, निष्क्रियता को श्रेष्ठ कर्म, गोतीत को सत्य तथा गोचर को मिथ्या कहने वाली यह [illegible] अकर्मण्यता की ऐसी छाया है जो अनित्य कह - कह कर जग को स्वादहीन कर देती है । हमें फूलों के विकास से पूर्व उनकी मृत्युछाया के दर्शन होने लगते हैं[1]। वर्तमान का तिरस्कार कर मरण का ध्यान करने वाला मानव मिट्टी पर क्या कोई कुसुम खिला सकता है ? जीवन की अटूट श्रृंखला में विश्वास करने वाले के सामने मुरझाने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता । जग एक [illegible] सरणि है, एक शिखा दूसरी से स्फुलिंग ले निरन्तर जलती है । जीर्ण-दल कुसुम झर जाते हैं, नए फूल खिलते हैं, कुछ थक कर राह में रुक जाते हैं और नए पथिक दल में शामिल हो जाते हैं ।

आकाशविहारी कर्म, चिन्तकों को यह सोचना चाहिए कि मानव का भाग्य मिट्टी की नश्वरता से बंधा है । जग छोड़ देने से ही मन की तृष्णा नहीं घट सकती । बाहर के शत्रु से बचने के लिए वन में जाया जा सकता है परन्तु मन में बसे शत्रु से भागने के लिए वन जाने की क्या प्रयोजनीयता ? आत्मदमन के द्वारा यती जिसे जीतता है उसे जनक के समान हम जग को अपना कर भी संयम द्वारा ही पा सकते हैं[2]। चेतन की सेवा तजकर जड़ को अपनाने में क्या वह शांति

१- सोचेगा वह सदा निखिल
अजीवन ही नश्वर है
मिथ्या वह मन-भार-कुसुम की
शोभा क्यों अमर है

— कुरुक्षेत्र पृ० १३२

२- नहीं नहीं जीवित है मिट्टी से मरने वालों से ।
जीवित है वह उसे फूंक-सोना करने वालों से ।।
ज्वलित देख पंचाग्नि जगत से निकल भाग [illegible] योगी ।
धूनी बनाकर उसे [illegible] ।।

— [illegible], पृ० [illegible]

मिल सकती है । अनासक्त भोग के द्वारा हमें जीवन को जीना है ताकि मिट्टी हममें विलीन हो जाये, हम मिट्टी में नहीं । भोगवाद की यही रीति हमें जन-जन को सिखाना है कि वह देह को मन में विलीन करें न कि देह में मन को । अत:

मिट्टी का यह भार संभालो
बन कर्मठ संन्यासी ।
पा सकता कुछ नहीं मनुज
बन केवल व्योम प्रवासी ।।
\+ + + सुला रहा निष्काम कर्म वह
सुला रही है गीता ।
सुला रही है तुम्हें आर्य हो
नहीं अमर-संगीता ।।

गीता की अनेक टीकाएं हुई । पर पुनर्जागरण-काल में प्रणीत तिलक का 'गीता रहस्य' अन्यतम है । उसमें मध्यकालीन ह्रासोन्मुख भारतीय चेतना को उसी उपनिषद् के प्रवृत्तिवादी तत्व से जोड़ा गया है जो 'जीवेम शरद: शतम्' का प्रार्थी है । कुरुक्षेत्र के ऊपर गीता के इस प्रवृत्तिवादी दर्शन की गहरी छाया है । कवि की [illegible] पौरुष में गहरी आस्था है । भाग्यवाद मानवीय पौरुष को स्तब्ध कर निवृत्तिवादी भावना को उकसाता है । यही कारण है कि दिनकर ने भाग्यवाद पर आक्षेप कर पौरुष की गाथा गाकर अंग्रेजी पराभव-काल की निराश भारतीय जनता को आगे बढ़ाने की प्रेरणा दी है । 'ब्रह्मा से कुछ लिखा कर मनुज इस संसार में नहीं आया है । उसका खाली हाथ आना ही इस भाव का निदर्शन है कि समस्त उपार्जन उसके भुजबल के कारण है न कि भाग्य के कारण । प्रकृति के ऊपर अधिकार करने में मानव का उद्यम और श्रमजल काम आता है न कि भाग्यवाद । राम तीन दिन तक सागर से विनय करते रहे परन्तु वैसे ही धनुष उठा कर अग्नि से ललकारा त्यों सिन्धु देव पर 'त्राहि त्राहि' करता शरण में आ गिरा[1] । निरुद्यमी प्राणी कि ही [illegible]

१- [illegible], पृ० २८-२९ — दिनकर

का अभिलेख पढ़ते हैं और वीर परिश्रमजन्य पसीने से भाग्य के कुअंक धो डालते हैं। भाग्यवाद पाप का आवरण है और शोषण का शस्त्र है जिससे एक व्यक्ति दूसरे का भाग छिपा कर रख सकता है --

एक मनुज संचित करता है
अर्थ पाप के बल से।
और भोगता उसे दूसरा
भाग्यवाद के छल से ।।
नर समाज का भाग्य एक है
वह श्रम, वह भुजबल है।
जिसके सम्मुख झुकी हुई
पृथिवी, विनीत नभ-तल है ।।

पृथिवी पर पाँव टिकाकर आकाश की ऊँचाइयों की बात करने वाले दिनकर ने आध्यात्मिकता और भौतिक [illegible] का समन्वय करना किया है। केवल शारीरिक बल से किसी को नहीं जीता जा सकता। तप, त्याग और सहिष्णुता से एक सुई की नोक बराबर भी भूमि न देने वाले दुर्योधन को अर्जुन के तीर और भीम की गदा ने परास्त कर दिया। वनवास में मुनियों के अस्थिपुंज देखकर दैत्यवध का जब राम ने प्रण किया तो [illegible] सीता ने जिज्ञासा की कि क्या मतिभ्रष्ट मानवों के शोध का उपाय मात्र शस्त्र ही है? तो राम ने उत्तर दिया --

तप का परन्तु वश चलता नहीं सदैव।
पतित समूह की कुवृत्तियों के सामने ।।

त्याग, तप, करुणा, क्षमा में भीग कर व्यक्ति का मन तो बली होता है परन्तु जब हिंस्र पशु घेर लेते हैं तो बलिष्ठ शरीर ही काम आता है। ज्वलंत विकारों से लड़ने के लिए मनोबल सहायक हो सकता है परन्तु देह का संग्राम केवल आत्मबल से झुक कर जीता नहीं जा सकता। [illegible] जब सहज उठा लेती है तो आत्मबल का वश नहीं चलता। वैयक्तिक विकास की भूमि के रूप

में तप,करुणा,क्षमा,विनय,त्याग को ग्राह्य माना जा सकता है किन्तु जब समुदाय का प्रश्न उठता है तो हमें तप,त्याग को भूलना होता है --

जो निराश्रय शक्ति है तप,त्याग में ।
व्यक्ति का ही मन उसे है मानता ।।
योगियों की शक्ति से संसार में ।
हारता लेकिन, नहीं समुदाय है ।।

कालिदास ने "शरीर माद्यं खलु धर्म साधनम्" के द्वारा जीवन की जिस सम्यक् दृष्टि को उन्मेषित किया है उसी का पुनर्प्रतिष्ठापन दिनकर ने भीष्म के माध्यम से किया है । अध्यात्म को ही जीवन मान लेने वाली एकांगी रुग्ण दृष्टि को जागरणकाल में गीता के कर्मयोग के माध्यम से नया अर्थ देने की चेष्टा की गयी ।

"कुरुक्षेत्र" की रचना उस काल में हुई जब एक ओर युधिष्ठिर की संतान युद्ध विरोधी नारे लगाकर "सविनय अवज्ञा आन्दोलन" में अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ रही थी तो दूसरी ओर सुभाषचन्द्र बोस जापान में आजाद हिन्द फौज का निर्माण कर रहे थे । गांधी जी की नीति का आधार करुणा था और बोस की नीति शौर्य पर आश्रित थी । दिनकर ने दोनों का उचित समन्वय कर एक निश्चित राह निकालने की चेष्टा की है ।

विजयी की क्षमा शौर्य का साध्य और वीरता का लक्ष्य है तो दूसरी ओर कायरता के आवरण के रूप में सहिष्णुता को ग्रहण कर लेने को भीष्म ने त्याज्य माना है । आत्मबल और शारीरिक बल,शौर्य और करुणा का ऐसा समन्वय अन्यत्र दुर्लभ है । जीवन में राम के उस आदर्श को लेकर जीना होगा जो एक ओर अन्याय के प्रतिकार के लिए लंका का विनाश कर दें तो दूसरी ओर करुणा विगलित हो विभीषण को लंका का राजत्व सौंप कर जनता के दुःख से दुःखित हों । दिनकर के शब्दों में फूल में मिट्टी को लिप्त करना होगा[१] ।

१- कुरुक्षेत्र,पृ० १४२

करुणा क्षमा हैं क्लीव जाति के कलंक घोर
क्षमता क्षमा की शूरवीरों का शृंगार है ।

जीवन की समग्रता के विश्वासी होने के कारण दिनकर पाप और पुण्य की क्षणिक मान्यताओं के आरोप में विश्वास नहीं करते । भीष्मपितामह भी जो धर्माचार्य कहे जाते हैं, यह स्वीकार करते हैं कि उन्होंने जीवन को बहुत देखा सुना पर धर्माधर्म का भेद नहीं कुछ पाया कि पाप और पुण्य के बीच विभाजक रेखा खींची जा सके[1] । वे युधिष्ठिर को समझाते हैं कि यह सोचना कि युद्ध करना पाप है या पुण्य, हृदय की वृथा कल्पना है । --

क्योंकि कोई कर्म है ऐसा नहीं
जो स्वयं ही पाप हो या पुण्य हो

गीता के अनासक्त योग को उद्धृत कर वे यही कहते हैं कि इस सत्यरूप परमेश्वर की ... सृष्टि में कोई वस्तु ऐसी नहीं है जो स्वयं में पाप या पुण्य हो । कर्म में अपनी जिस भावना का आरोपण हम करते हैं, वही उसे पाप या पुण्य बनाती है । अनासक्त हो कर किया गया कर्म पाप या पुण्य के दायरे से पृथक् होता है । रश्मिदेश की राह तम से होकर आती है, नित्य जगत् में उषा रजनी के सिर पर चढ़कर आती है । पाप और अंधकार से पुण्य और आलोक की ओर जाना ही मानवता का परिचायक है । मानवता पुण्य के शिखरों पर आरोहण करने से पूर्व न जाने कितने पाप-गर्तों में गिरती है[2] । कौन व्यक्ति ऐसा है जो कभी पाप की कारा में नहीं फँसा या जिसके वसन वैतरणी की धारा में न भीगे हों[3] । मानव का तात्पर्य ही यह है कि वह पुनः धूल झाड़ कर आगे

१- सत्य ही भगवान् ने उस दिन कहा --
मुख्य है कर्त्ता हृदय की भावना ।
मुख्य है यह भाव, जीवन-युद्ध में
भिन्न हम कितना रहे निष्काम से ।

२- कुरुक्षेत्र, पृष्ठ ६१

३- कुरुक्षेत्र, पृष्ठ ६८

बढ़ता जा रहा है -- यही पाप पर पुण्य की विजय है और इसीलिए कवि पापी की जय बोलता है --

जय हो अघ के गहन गर्त में गिरे हुए मानव की
मनु के सरल अबोध पुत्र की पुरुष ज्योति संभव की ।।
हार मान कर हो गई न जिसकी किरण तिमिर की दासी ।
न्योछावर उस एक पुरुष पर कोटि कोटि सन्यासी ।।

\+ \+ \+

उठता-गिरता शिखर-गर्त दोनों से पूरित पथ पर ।
कभी विरथ चलता मिट्टी पर, कभी पुण्य के रथ पर ।।
करता हुआ विकट रण तम से पापी-पर [illegible] ।
किरण देश की ओर बढ़ा जा रहा मनुष्य-- प्रतापी ।।

जब तक मनुज की आंखों में व्यथा का पानी शेष है, तब तक उसे मलिन कहानी विदग्ध करती है --

जब तक है अवशिष्ट पुण्य-बल की नर में अभिलाषा
तब तक है अक्षुण्ण मनुज में मानवता की आशा

कुरुक्षेत्र में यह आशा शांति पर्व में विजय भी पाकर भी आंसू बहाने वाले युधिष्ठिर को प्राप्त हुई ।मानवतावादी धारणा के अनुसार व्यक्ति का पाप उसके विकास की सम्भावनाओं को अवरुद्ध नहीं कर देता । मनुष्य पापी होता है तभी वह नर का वध करता है परन्तु वह 'मानव' होता है इसीलिए पश्चाताप करता है और अवसर आने पर मानव के लिए मरता है । ग्लानि में घुल कर उसके पापों का प्रक्षालन हो जाता है और निखरा हुआ स्वरूप सामने आता है --

यह कुन्दन यह शुद्ध मनुज की
आशा अक्षुण वही है ।
[illegible] है यह [illegible]
अब तक वहीं वही है ।।

पाप की ज्वाला में मनुष्य का जलना सच नहीं है, सच है जलने के बाद में फिर आगे की ओर चलना । विक्टर ह्यूगो टालस्टाय आदि मानवता-वादी लेखकों के उपन्यासों में पतित का पुनरुत्थान दिखलाया गया है । परिस्थितियों के तिमिर-चक्र में फंसी किरण भी धरती की आशा होती है[१]। शारीरिक और मानसिक बल से युक्त निरन्तर गतिशील मानव अपनी अवगति के कारण और परिणाम का विश्लेषण कर उसका परिष्कार करने की क्षमता रखता है । भीष्म युधिष्ठिर को यही समझाते हैं कि कुरुक्षेत्र के महासंहार से कातर होकर वन जाकर पाप का प्रक्षालन करना कोई महत्व नहीं रखता । संसार की नश्वरता, चंचलता, कटुता तथा विषमता से खिन्नकर का कवि पलायनवादी और विरागी हो जाता है । 'रसवन्ती' में दिनकर विराग पर राग की जय जिस प्रबलता से स्थापित करते हैं उसी प्रखरता से पलायन पर कर्मवाद की जय 'कुरुक्षेत्र' में बोली गई है । 'रसवन्ती' और 'हुंकार' में कर्मवाद प्रौढ़ तथा परिपक्व दर्शन के रूप में सामने नहीं आ पाया था क्योंकि 'कुरुक्षेत्र' तक कवि की [illegible] कहानी और प्रतिक्रियाएं भावात्मक हैं । धर्म के क्षेत्र में डगमगाता दिनकर का अनास्था और निवृत्ति की ओर झुकता [illegible] युधिष्ठिर की समस्या बनकर 'कुरुक्षेत्र' में सामने आया जिसको भीष्मपितामह के विचार संपुष्ट व गम्भीर -जीवनदर्शन के सहारे यह समझाया गया कि निवृत्तिपरायण तप, योग से भी अधिक महान् मनुष्यता है --

ऊँचा उठ देखो तो [illegible], राज, धन तप
जप, याग, योग से मनुष्यता महान् है ।

कुरुक्षेत्र के प्रणयन के काफी समय पूर्व 'कामायनी' के माध्यम से प्रसाद की बुद्धि के अतिचार से उत्पन्न हुई अनेक समस्याओं की ओर चेतावनी

१- [illegible] पृ० १३४

दे चुके थे। विश्वयुद्ध काल की विषम परिस्थितियों के बीच कवि ने विज्ञान की उपलब्धियों और सीमाओं पर विचार करते हुए प्रबन्धत्व से पृथक् षष्ठ सर्ग की रचना की है जिसे उन्होंने स्वयं क्षेपक माना है जो 'इस काव्य से टूट कर अलग भी किया जा सकता है।'[1]

समस्त धरती और आकाश के रहस्यों को अपनी आविष्कारिणी मेधा और पौरुष के सहारे सुलझाने वाला मानव आज भी अपहरण, शोषण और दूसरों के पतन पर उत्थान का महल बनाने की कुवृत्ति से युक्त है, आज भी उसके प्राण में वही नाग फुंकार रहा है। दूसरा कारण है बुद्धि का अनन्त विस्तार और हृदय का एकान्त निःशेष[2]। 'सृष्टि को निज बुद्धि से परिमेय करता मनुपुत्र आज अपना ही उपहास बना रहा है।' लक्ष्य उद्देश्य और अर्थहीन प्रगति की क्या सार्थकता? मंगल जगत् के लोगों को कवि बता देना चाहता है कि उन्हें विस्मित करने वाला विजेता स्वयं पशु ही भले ही उसके हाथ में विज्ञान के वरदानों की राशि रखी हुई है। उसकी बुद्धि अभी भी दानवी होने के कारण स्थूल की जिज्ञासु है —

यह मनुज संहारसेवी, वासना का भृत्य।
छद्म इसकी कल्पना, पाषण्ड इसका ज्ञान।।
यह मनुष्य मनुष्यता का घोर तम अपमान।
+ + इस मनुज के हाथ से विज्ञान के भी फूल
वज्र होकर छूटते शुभ धर्म अपना भूल।

स्थूल मात्रा तक परिसीमित मानव उस शिशु के समान है जो अबोध है और उसके हाथ में विज्ञान की तीखी तलवार थमा दी गयी हो। अत: उसे फेंक देने में ही मनुष्य का कल्याण है —

१- कुरुक्षेत्र, पृ० २ निवेदन

२- किन्तु बढ़ता गया मस्तिष्क ही निःशेष।
छूट कर पीछे गया है रह हृदय का देश।।
नर मनाता नित्य नूतन बुद्धि का त्यौहार।
प्राण में करते दुखी हो देवता चीत्कार।। — पृ० ८८

सावधान मनुष्य, यदि विज्ञान है तलवार ।
तो इसे दे फेंक, तज कर मोह, स्मृति के पार ।
हो चुका है सिद्ध, है तू शिशु अभी अज्ञान ।।
फूल काँटों की तुझे कुछ भी नहीं [illegible]
खेल सकता तू नहीं-ले हाथ में तलवार ।
काट लेगा अंग तीखी है बड़ी यह धार ।

अंग्रेज विचारक रसेल से कवि की विचारधारा काफी दूर तक प्रभावित हुई है । विज्ञान के ध्वंसक - प्रवाह में जीवन के अनेक स्थापनामूलक मानमूल्य टूट रहे हैं और नए प्रतिमान बन नहीं पा रहे हैं । इसका कारण मनुज की शक्तिहीनता नहीं अपितु विज्ञान जैसी महाशक्ति के उपभोग में असमर्थ चित्त का संकोच है । विज्ञान स्वयं में निरपेक्ष है । यह तो मनुज ही है जिसके हाथ में आकर विज्ञान के फूल भी वज्र हो गए हैं । इसी से दिनकर ने कहा है कि रत्नवती भू के मनुज का श्रेय यह विस्फोटक, मृत्युवाहक, सृष्टि संहारक विज्ञान नहीं है —

श्रेय उसका प्राण में बहती प्रणय की वायु ,
मानवों के हेतु अर्पित मानवों की आयु ।
+ + + श्रेय वह विज्ञान का वरदान,
हो सुलभ सब को सहज जिसका रुचिर अवदान ।

मनुज का श्रेय वह समता विधायक ज्ञान है जिसके सहारे स्नेह-सिंचित न्याय-पथ पर नवविश्व का निर्माण किया जा सके । क्रांतदीप्त मनुष्य के नए उज्ज्वल इतिहास का एक भी पृष्ठ समर-त्रास और शोषण की विरुदावलि से रक्त-मलीन नहीं होगा यदि मानव मात्र में निःशंक दृढ़ विश्वास स्थापित हो जाए !

कवि की चिन्तना यहीं भी यह स्वीकार करके चले कि 'कुरुक्षेत्र न तो दर्शन है और न किसी ज्ञानी के और [illegible] का चमत्कार । वह तो, अन्ततः साधारण मनुष्य का शंकाकुल हृदय ही है जो मस्तिष्क के स्तर पर चढ़कर

बोल रहा है ।[१]" किन्तु राग-विराग, निवृत्ति-प्रवृत्ति, युद्धशांति, अध्यात्म-विज्ञान, भाग्य-पौरुष आदि के रूप में जीवन की समग्रता पर, युधिष्ठिर की शंकाओं और पितामह के समाधानों के रूप में, विचार करने वाले 'कुरुक्षेत्र' के कवि दिनकर ने प्रबुद्ध जीवन-दर्शन के सहारे सात सर्गों के इस विचारात्मक [illegible] को अमर बना दिया है ।

नैतिक बोध

नैतिक बोध की समस्या 'कुरुक्षेत्र' के मूल में है । सफल, सामाजिक तथा समादृत व्यक्ति बनाने के लिए जिन मूल्यों की अपेक्षा होती है, उनके निर्णायक बोध को 'नैतिक बोध' कहा गया है । '[illegible]' में उस नैतिक बोध का प्रतिफलन है जो धर्म की शिखर-विस्तारी ऊँचाइयों को त्याग कर यथार्थ की [illegible] में उतर आया है । द्रौपदी के अपमान से विक्षुब्ध हो कुरुक्षेत्र रचाने वाले युधिष्ठिर की बुद्धि विजय प्राप्त कर परास्त हो गई । मानो [illegible] ने उन्हें आक्रान्त कर दिया । मूल्यों के बीच चुनाव की भीषण समस्या सामने आयी जिसका समाधान पाने के लिए वे भीष्मपितामह के पास जाते हैं । भीष्मपितामह ने युधिष्ठिर के प्रश्नों का उत्तर देते समय जिन सिद्धान्तों की विवेचना की है, उन्हीं का [illegible] के परिप्रेक्ष्य में मूल्यांकन करने का प्रयास 'कुरुक्षेत्र' में किया गया है । दिनकर यह स्वीकार करके चले हैं कि "जन्मना रत जन्म भारत" की कहावत अब भी बिल्कुल निर्मूल नहीं हुई है ।

अपने प्रति दुष्ट व्यवहार करने वाले का प्रतिकार करना चाहिए या अपकारी को निरन्तर क्षमा कर देना चाहिए । कर्मक्षेत्र बहुविस्तृत और संकट से पूर्ण है । अनेक स्थलों पर कर्तव्यता-निर्णय कर पाना अत्यन्त कठिन हो जाता है । संग्राम-विजयी युधिष्ठिर जब स्वयं को तौलते हैं तो अनेक समस्याएँ उनके सामने आती हैं --

---

१- कुरुक्षेत्र -- निवेदन, पृ० २ -- दिनकर

१- आत्मरक्षा के लिए [illegible] का अनिष्ट करना कहाँ तक न्यायसंगत है ?[1]
२- आत्मरक्षा के लिए [illegible] के साथ असत्य आचरण कहाँ तक न्यायपूर्ण है ?[2]
३- 'रुधिराक्त विजय' और 'करुणाधौत पराजय' में कौन संगत है ?[3]
४- तलवार और अनुनय, क्षमा या प्रतिकार कौन संगत है ?[4]

'रेणुका', 'हुंकार', 'द्वन्द्वगीत' में कवि-व्यक्तित्व निरन्तर इन्हीं द्वन्द्वों की ऊहापोह में ग्रस्त रहा है । भावना और आवेग के रूमानी कवि दिनकर ने पहली बार विचार के धरातल पर इन समस्याओं को युधिष्ठिर के अन्तर्द्वन्द्व के माध्यम से उठाया है । युधिष्ठिर ने समस्या को प्रेम और शान्ति से सुलझाने का प्रयास यथासम्भव किया । भीम को जहर पिलाना, लाख के घर का निर्माण, द्रौपदी-चीरहरण आदि अनेकानेक [illegible] के विरुद्ध जब अन्त में धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र में विजय भी प्राप्त हो गई तो युधिष्ठिर यह निर्णय करने को उत्सुक हुए कि उन्होंने [illegible] का अनिष्ट कर कहाँ तक अच्छा किया ?? [illegible]

१- पापी कौन मनुज से उसका
न्याय चुराने वाला
या कि न्याय खोजते विघ्न का
शीश उड़ाने वाला
— कुरुक्षेत्र, पृ० ३०

२- जब युद्ध में फूट पड़ी यह आग तो
कौन सा पाप नहीं किया तूने ?
गुरु के वध के हित झूठ कहा
सिर काट समाधि में भी लिया तूने ,
— कुरुक्षेत्र, पृ० ७६

३- कुत्सित रुधिराक्त विजय ? या करुणाधौत पराजय —कुरुक्षेत्र, पृ० ५६

४- क्षमा या कि प्रतिकार, जगत में
क्या कर्तव्य मनुज का ?
मरण या कि [illegible] ? उचित
श्रृंगार कौन है [illegible] का ?
— [illegible]म, पृ० ५५

तथा फारवर्ड ब्लाक ने आत्मरक्षा के नाम पर नाना आतंक कारी षड्यन्त्रों का सृजन किया था। लोकमान्य तिलक का 'जैसे को तैसा' सिद्धान्त समाज में [illegible] ही है[१] जिससे दिनकर काफी मात्रा में प्रभावित हुए हैं --

क्षीणता तो स्वत्व कोई, और तू
त्याग, तप से काम ले, यह पाप है।
पुण्य है विच्छिन्न कर देना उसे
बढ़ रहा तेरी तरफ जो हाथ है।

युद्ध में, ईर्ष्या में, प्रतिकार के दावानल में -- सत्यासत्य का विवेक समाप्त हो जाता है। धर्मयुद्ध में कौरव और पाण्डव दोनों ही पक्षों में असत्य और अनैतिक कर्म किए गए। अभिमन्यु को अकेला घेर कर मारा गया तो निःशस्त्र कर्ण का वध भी किया गया। यदि एक ओर शिखण्डी की सहायता से पितामह को मारा गया, असत्य भाषण से द्रोणाचार्य को शस्त्र छोड़ देने की स्थिति में डाला गया तो दूसरी ओर अश्वत्थामा निशासमर रचाकर द्रौपदी के अबोध पांच पुत्रों को मार देता है। कृष्ण जैसे महापुरुष ने[२] भी मल्ल युद्ध के नियम के विरुद्ध उपाय से सुयोधन का वध करने को उत्प्रेरित किया। पाप और पुण्य के बीच इस समस्या को तौलते समय मानव-बुद्धि भ्रमित हो जाती है। आधुनिक काल में गीता के भाष्य में लोकमान्य तिलक ने धर्म के नवीं लक्षणों

---

१. "His advocacy of the principle that the end justifies the means or of the tit for tat rule of conduct is, in the last analysis, only statement of the policy of self-defence in public life". - Lokmanya Bal Gangadhar Tilak. Page 654 by S.L.Karandikar.

२- और महाभारत की बात क्या ? गिराए गये
जहाँ छल छद्म से वरेण्य वीर आप से
अभिमन्यु-वध औ सुयोधन का वध हाय,
हममें बचा है यहाँ कौन किस पाप से ?

की परिस्थितियों के बीच रखकर विचार करते हुए निर्णय दिया है कि नीति के [illegible] नियमों से काम नहीं चलता, कर्तव्य-अकर्तव्य का निर्णय प्रमुख होता है। महाभारत में व्यास ने नाना ऐसी घटनाओं की नियोजना की है कि द्विधा के समय सत्पुरुषों ने क्या किया। अच्छा होता यदि लेखक शास्त्र विधि से सब घटनाओं का विश्लेषण कर उनका सामान्य रहस्य बतलाता।" "कण्टके नैव कण्टकम्" की नीति के अनुसार प्रतिपक्षी को उसी के अस्त्र से पराजित करना [illegible] हो जाता है। मायावी दुर्योधन को नष्ट करने के लिए माया की ही अपेक्षा थी।[1] सत्पक्ष के सहारे उसे समझाने का प्रयास सभी [illegible] ने किया-- अन्त में महासमर सामने आया जिसमें लाचारी से साधु-पुरुषों को असाधु काम करने पड़े जिनका दायित्व दुष्कर्मों पर ही आता है जो उन्हें असत् - कर्म के लिए विवश कर दे।[2] कुरुक्षेत्र के कवि पर "तिलक" का प्रभाव है। भीष्म के शब्दों में उसी की प्रतिध्वनि है। कर्तव्यता के गुरुत्व को विचारते हुए युधिष्ठिर का असत्य-भाषण न्यायपूर्ण था --

क्षमा, दया, तप, त्याग, मनोबल

सब का लिया सहारा ?

पर, नर-व्याघ्र सुयोधन तुमसे

कहो, कहाँ कब हारा ?

+ + +

कौन केवल [illegible] से झुक कर

जीत सकता देह का संग्राम है ?

पाशविकता ब खड्ग जब लेती उठा,

आत्मबल का एक बश चलता नहीं।[3]

१- "[illegible]" के साथ जो मायावी नहीं बनते वे नष्ट हो जाते हैं।"
--किरातार्जुनीय १।३०

२- गीता अथवा कर्मयोगशास्त्र, पृ० ४१६-- बाल गंगाधर तिलक

३- कुरुक्षेत्र क्षुणाहार कर सिंह भले ही भूखे--
[illegible] कैवल्य प्राप्ति के मग में
पर सिंहों के बीच भीकना होगा
[illegible]-२८ के पाप का अभिशाप उसे ही। --रामधारीसिंह दिनकर
कुरुक्षेत्र --पृ० १६

युधिष्ठिर कितने वर्षों तक क्षमा, दया, तप, त्याग, तपोबल का सहारा लेकर दुर्योधन के अत्याचारों को सहते रहे और फल यह निकला कि 'पौरुष का आतंक खोकर' वे जितने विनीत और कोमल बने दुष्ट कौरवों ने उतने ही अत्याचार प्रारम्भ किए। ऐसी स्थिति में क्षमा और करुणा के नाम पर पराजय स्वीकार कर लेनी चाहिए अथवा तलवार के बल से रुधिराक्त विजय लेनी चाहिए? ऐसी कायरता की अपेक्षा हिंसा को गांधी जी महत्ता देते हैं।[1] भीष्मपितामह ने युधिष्ठिर को समझाया कि शर में ही विनय की दीप्ति बसती है, उसी का अभिवादन संभव हो सकता है जिसमें विजय की शक्ति हो। क्षमा, सहनशीलता,[2] दया आदि को तभी तक पूजता है जग बल का दर्प उसके पीछे हो —

जहाँ नहीं सामर्थ्य शोध की
क्षमा वहाँ निष्फल है।
गरल घूँट पी जाने का
मिस है, वाणी का छल है।।
++ क्षमा शोभती उस भुजंग को
जिसके पास गरल हो।
उसको क्या जो दंतहीन
विषरहित, विनीत, सरल हो।

अपनी कायरता को क्षमा के आवरण से छिपाने वाला व्यक्ति

१- द्रष्टव्य हरिजन, २० जुलाई १९३५

२- कुरुक्षेत्र पृष्ठ २८-२९

पौरुषजन्य आतंक से हीन होता है[1]। क्लीव जाति की क्षमा कलंक है तो शूरजाति की क्षमा [illegible] है। अन्याय को लगातार क्षमा कर देने से हम [illegible] से उसे प्रोत्साहन देते हैं। वह प्रतिशोध पाप नहीं हो सकता जो शौर्य की शिराओं को दीप्त करता है। कवि प्रतिशोध की हीनता को [illegible] करता है क्योंकि --

छोड़ प्रति वैर पीते मूक अपमान वे हैं
जिनमें न शेष शूरता का [illegible] ताप है।

सोते हुए व्याल को शरों से मार कर जगाया तो वह अवश्य ही जगती को अपनी फूंक से जलाएगा, दीप्त अभिमान को यदि कोई ठोकर लगाएगा तो कपोल से विद्युत गिरेगी ही। शोषण और अनाचार को

सहना उसे ही मौन हार मनुजत्व की है
ईश की अवज्ञा घोर, पौरुष की श्रांति है।
पातक मनुष्य का है, मरण [illegible] का
ऐसी शृंखला में धर्म विप्लव है, क्रांति है।।

तत्कालीन भारतीय जीवन में इन मूल्यों को लेकर बड़ी [illegible]

१- कु०क्षे० पालक क्षमा का ओढ़ छिपाते
जो अपनी कायरता।
वे क्या जानें ज्वलित प्राण
नर की पौरुष निर्भरता।।
वे क्या जानें नर में वह क्या
असहनशील अनल है।
जो लगते ही स्पर्श हृदय से
सिर तक उठता बल है।
—कुरुक्षेत्र, पृ० २०

एवं

क्षमावानेव [illegible] [illegible]-
[illegible]।
[illegible] [illegible] -
न पुनः प्रुनाव् ।।
[illegible]
महाभारत
१।१३२।१३३

थी । सविनय अवज्ञा द्वारा गांधी जी स्वतन्त्रता प्राप्त करना चाह रहे थे तो दूसरी ओर फारवर्ड ब्लाक उस हिंसा को पुण्य समझता था जो खोए अधिकारों की प्राप्ति के लिए खून बहाती है । 'हुंकार' के दिनकर पर हिंसावादी, अराजकतावादी होने का आरोप लगाया गया था, परन्तु 'कुरुक्षेत्र' में उठ आकर जब उन्हीं मान्यताओं को भीष्मनीति के साथ एकाकार करके प्रस्तुत किया गया तो वे सहज ग्राह्य हो गईं । यदि अधिकार माँगने से भी न मिलें और संघात पाप [illegible] कर दिया जाए तो ऐसी स्थिति में शोणित पिए या कि मर जाएँ ? माँगने पर भी न मिलने वाली विजयश्री को रण में लड़कर ही पाया जा सकता है । इसी से भीष्म कहते हैं --

न्यायोचित अधिकार माँगने
से न मिलें तो लड़ के ।
तेजस्वी छीनते समर को
जीत या कि खुद मर के ।।
किसने कहा पाप है समुचित
स्वत्व-प्राप्ति -हित लड़ना ।
उठा न्याय का खड्ग समर में
अभय मारना- मरना ?

\+ \+ \+ \+

युधिष्ठिर स्वत्व की अन्वेषणा पातक नहीं है ।

विमर्शात्मक नैतिकता जब रूढ़ और जड़ हो जाती है तो विकास और प्रगति की समस्त संभावनाएं रुक जाती हैं । रूढ़ नैतिकता अनैतिकता को जन्म देती है । आचार-शास्त्र के सर्वमान्य नियम नहीं बनाए जा सकते --

यदि सर्वहित: कश्चिदाचार: संप्रवर्तते
तेनैवान्य: प्रभवति सोऽपरं बाधते पुन:॥[1]

१- शान्तिपर्व २५९।१७-१८

द्रौपदी की साड़ी खिंचते मूक होकर देखना क्या धर्मसम्मत था ? भीष्म आश्वस्त हैं कि आने वाली सन्ततियां उन पर अवश्य थूकेंगी । अपने धीर चरित पर प्रश्न-चिह्न लगाने वाले भीष्म धर्मराज को उपदेश दिए जाते हैं --

सबसे बड़ा धर्म है नर का
सदा प्रज्वलित रहना ।
दाहक शक्ति समेट स्पर्श भी
नहीं किसी का सहना ।

बुद्धि और विवेक की राख उन दहकते अंगारों को बुझा देती है । इसी कारण "कभी न आँख देखकर खिंचती द्रुपद-सुता की साड़ी ।"[1] यह जीवन की घोर भ्रांति मात्र है जहां बुद्धि का आधिपत्य मनुष्य को तुरन्त उत्तर देने से रोक लेता है । भीष्म को द्वन्द्व में उलझाने वाला भी यह 'वय' ही था । धर्म की भीति दिखला कर कर्म उनसे सेवा लेता रहा । दुर्योधन के नाना कृत्यों से विक्षुब्ध होकर भी उनके प्रतिवाद न कर सकने का यही कारण था । नय-नीति-ज्ञान की सफलता ने उनसे अनुशासन का स्वत्व छीन कर उन्हें अपने ही घर में बन्दी बना दिया था । जब भी भीष्म ने अन्याय का प्रतिकार करना चाहा बुद्धि आड़े आई । द्रौपदी-चीरहरण में बुद्धि ने यह कहकर भीष्म को चुप कर दिया कि [illegible] दुर्योधन का नमक खाया है । 'रण में कोई अपना पराया नहीं है' यह कहकर अरण्य जाने से रोक कर भीष्म को दोनों ही लोकों में असफल बना दिया ।

१- कु०की० नर की कीर्ति ध्वजा उस दिन
कट गई जड़ से । -- कुरुक्षेत्र
नारी ने सुर को टेरा
जिस दिन निराश हो नर से ।।
तथा - -- कुरुक्षेत्र
नारी ने नर से निराश हो
नारायण का शरण लिया
-- [illegible]

दिनकर के मतानुसार जीवन का सत्य आ॑श जैसे ही शिथिल होता है तभी "बुद्धि" का साम्राज्य छा जाता है । बुद्धि के सहारे अनैतिकता को नैतिक स्वरूप प्रदान करने का प्रयास किया जाने लगता है । "वय" जीवन की घोर भ्रांति का द्योतक है जिसमें बुद्धि अग्नि की शिखा बुझा देती है[1] । क्रान्ति के गायक दिनकर यौवनोच्छलित आवेग को प्रधानता देते हैं --

जीवन की है भ्रांति घोर, हम
जिसको वय कहते हैं,
थके शिथिल आदर्श टूटते,
उमंग - बाण सहते हैं ।

एकल व्यक्तित्व में द्वन्द्वों का संतुलन होता है । राग और विराग हृदय और बुद्धि के बीच चला आता कवि का द्वन्द्व समाप्त हो जाता है । यहां पहली बार दिनकर इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि द्वन्द्व ग्रस्त जीवन का सम्यक् रूप नहीं खुलता । जहां पर भुजा एक पंथ होता है और चिन्तन का दूसरा अर्थात् चिन्तन और कर्म की पृथक पृथक पृथक २९ होती है वहां असंतुलन रहता है[2] । भीष्म का हृदय पक्ष यदि अर्जुन के साथ था तो बौद्धिक दृष्टि से वे

१- सदा नहीं मानापमान की
बुद्धि उचित सुध लेती,
करती बहुत विचार, अग्नि की
शिखा बुझा है देती ।
-- कुरुक्षेत्र, पृ० ५२

२- जहां भुजा का एक पंथ हो
अन्य पंथ चिन्तन का ।
सम्यक् रूप नहीं खुलता है
धनंजय जीवन का ॥
-- कुरुक्षेत्र, पृ०

कौरवों के साथ थे । अपना उदाहरण देकर वे उस युधिष्ठिर को सम्यक् मार्ग दर्शित करते हैं जिसके शौर्य ने तो संग्राम लड़ा है परन्तु जिसका 'चिन्तन' उसकी 'भुजा' से पृथक् जा रहा है । महाभारत में भीष्म [illegible] जीवन से परास्त युधिष्ठिर को जीवन-प्रवेश के लिए उत्साहित तो करते हैं परन्तु उसमें 'कु[illegible]' के रचयिता ने नए संदर्भ दिए हैं । युद्ध प्रसार विभाग में पारिवारिक समस्याओं के कारण कार्य करने वाले क्रान्ति समर्थक दिनकर में ही वह गहरी दृष्टि हो सकती है जो भीष्म से यह कहला सके --

प्यार [illegible] पर मन से
कौरव की सेना तन से ।
अब पालना कौन काम
जब बिखरी हुई लगन से ।।

और भीष्म के शब्दों में कवि निर्णय देता ह--

सकल भुजा, बल, मन को भी जो
भरे प्रमोद- लहर से ।
सकल ध्यान, अंबन आराध्य
रह जाए न जिसका करसे ।

[illegible] को स्नेह तथा कौरवों को कर्म अर्पित कर भीष्मपितामह ने समझा कि उन्होंने समुचित विभाजन किया है । ब्रह्मचर्य व्रत धारण करने के कारण अवरुद्ध स्नेह की धारा ही कुरुक्षेत्र में फूटी और उन्हें 'कोमल भावों की अवहेलना' करने की गलती का आभास होता है । यदि वे खुलकर 'स्नेह पक्ष' का समर्थन करते तो दुर्योधन भीत हो उठता और भारत को [illegible] का दिन नहीं देखना पड़ता । दिनकर ने विराग पर राग की विजय घोषित कराई है। 'कर में चाप और पीठ पर तरकस सम्भालने वाले नीतिज्ञ' भीष्म का सच्चा स्वरूप [illegible] में खुलकर सामने आता है । जब [illegible] में अर्जुन के शर से उनके [illegible] छूट जाते हैं तो वे निश्चिन्त होकर कहते हैं --

शांति-यात्रा से पहले
मिले सभी फल मुझको ।
सुलभ हो गए धर्म, स्नेह
दोनों के सम्बल मुझको ।।

मध्यकाल भारतीय संस्कृति का [illegible]काल था जिसमें एकपक्षीय एकांगिता के कारण यदि एक ओर निवृत्ति की धारा फूट निकली तो दूसरी ओर अत्यधिक रागलिप्सा ने जीवन के ऊँचे मूल्यों को अपनी धारा में डुबो दिया । आधुनिक युग के प्रारम्भिक काल में उसी आदर्श को अपनाने की आवश्यकता महसूस हुई जो [illegible] काल से चला आ रहा था । संसार प्रवेश की सार्थकता है न कि संसार-त्याग की । [illegible]काल में गीता और उपनिषद् को आधार बनाकर पलायन [illegible], निवृत्तिपरायणता की इतनी आलोचना की गई कि समस्त हिन्दू-दर्शन प्रवृत्ति का उत्स आभासित होने लगा । जीवन की मुख्यवत्ता जीवन-पलायन में नहीं । उस सन्यासी को गृहस्थ से अधिक महत्ता नहीं दी जा सकती जो गृहस्थ के टुकड़ों पर पलकर उसी को हेय [illegible] है --

[illegible] नर की भिक्षा पर
सदा पालते तन को ।
अपने को निर्लिप्त, अधम
बतलाते निखिल भुवन को ।।

दिनकर पर आक्षेप किया जाता है कि हिंसात्मक उपायों द्वारा [illegible]वादी समाज की स्थापना उनका ध्येय है । परन्तु दिनकर यदि हिंसा को ही साध्य मानते तो सम्भवतः भीष्मपितामह के [illegible] में धरा को दृप्त अभिमान और द्वेष से मुक्त कर करुणा एवं नय के शासन में देखने की, मानवतावाद के स्वप्न के पूर्ण होने की आकांक्षा, [illegible] आकृष्ट न होती करुणा और प्रेम के आदर्श को साध्य रूप में स्वीकार कर कवि का हिंसा को [illegible] के रूप में स्वीकार करना यही सिद्ध करता है कि कवि का अंतिम लक्ष्य है प्रेम, करुणा, दया, क्षमा पर आधारित [illegible] । दया और क्षमा

उसकी नारी का लज्जा -हरण किया जा रहा हो और वह क्लीव सा देख रहा हो ? " हुंकार था क्रोध वह जब उठा था आग-सा आँखों में भीम के ।"

कुरुक्षेत्र में उस मानव को 'आदर्श' घोषित किया गया है जिसके सबल-संतुलित व्यक्तित्व में प्रवृत्ति और निवृत्ति-राग-विराग,ज्ञान-स्नेह,शौर्य-करुणा,अध्यात्म और भौतिकता आदि बाह्य-- विरोधों का आन्तरिक सामंजस्य हो । दिनकर ने पाप-पुण्य,उचित-अनुचित की सुदृढ़ दीवारों को तोड़कर स्वतंत्र भूमि पर सोचने की चेष्टा की है । आदर्श की ऊंचाइयों की कठिन चढ़ाई ने भारतीय समाज के उन चरणों को अशक्त बना दिया था जिनके सहारे धरती पर [illegible] सृष्टि के नानाविध सुखों का उपभोग करते हुए जिया जा सके । 'कुरुक्षेत्र' के भीष्म[illegible] के माध्यम से कवि ने जिस नैतिक-आदर्श-पुरुष का चित्र खींचा है वह 'हुंकार' के 'महामानव' का ही प्रतिरूप है --

> शैल-शिखर सा प्रांशु,गम्भीर जलधि सा
> चिन्तामणि सा समदृष्टि, विनीत विनय-सा
> झंझा सा बलवान, काल-सा क्रोधी,
> धीर अचल सा प्रगतिशील निर्झर-सा । [1]

राजनैतिक आर्थिक संघटन

'कुरुक्षेत्र' पराधीन भारत के आक्रोश का विस्फोट है जिसमें मानवता के नाम पर कलंक कहे जाने वाले राजतंत्र की नाना असंगतियों को दिखलाया गया है । मृत्यु शैया पर आसीन [illegible] भीष्म राजा युधिष्ठिर को [illegible] समाज तथा [illegible] की नीति सिखाते हैं -- इस महाभारत में वर्णित आख्यान को लेकर दिनकर ने नवयुग में उभरे उन प्रसंगानुकूल प्रश्नों को भी इस सम्भावना के आधार उठाया है कि भीष्म उनका क्या उत्तर देते । वर्ग वैषम्य के प्रति कवि के आक्रोश तथा हिंसात्मक उपायों की स्वीकृति का यह

1- हुंकार ,पृ० ८८

तात्पर्य क्दापि नहीं लिया जा सकता कि कवि भारतीयता से कट कर मार्क्सवादी बनकर सशस्त्र क्रांति के लिए उत्सुक है । आर्थिक वैषम्य और राजनैतिक अत्याचारों से विक्षुब्ध होकर कवि ने जिस [illegible] क्रांति को कुरुक्षेत्र में स्थान दिया है वह राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य आन्दोलन के आतंकवादी नेताओं तथा संस्थाओं से ग्रहण की गयी है ।

आर्थिक वैषम्य ही सभी प्रकार के संघर्षों और युद्धों को जन्म देता है । युद्ध निन्द्य है परन्तु ऐसी स्थिति में वह अवश्यम्भावी हो जाता है जहां नाना उपायों से क्षुधितों के ग्रास छीन कर विपुल समृद्धि कोश संचित करने वाले शांति के उपदेशक बने । रूस में ज़ार के विरुद्ध क्रांति के मूल में यही कारण था । भूमि किसी की क्रीत दासी नहीं है । सब का उस पर जन्मना समान अधिकार है । सर्वहारा श्रमिक वर्ग को अधिक गौरव और सम्मान देने की आवश्यकता है जिसके पास उद्यम और श्रमबल है --

नर समाज का भाग्य एक है
वह श्रम वह भुजबल है ।
जिसके सम्मुख झुकी हुई
पृथिवी, विनीत भूतल है ।।
जिसने श्रम बल दिया उसे
पीछे मत रह जाने दो ।
विजित प्रकृति से सबसे पहले
उसको सुख पाने दो ।।

उत्पादन के साधनों में श्रम सबसे अमूल्य धन है । पूंजी का बदला रुपया हो सकता है परन्तु श्रम का प्रतिफल मजदूरी नहीं हो सकता । दिनकर ने समस्त संघर्षों का मूल आर्थिक वैषम्य माना है । आर्थिक समता के बिना राजनैतिक वैषम्य दूर नहीं हो सकता । जीवन-उपयोग के साधनों का बंटवारा जब तक समता के धरातल पर नहीं होगा तब तक युद्ध की सम्भावना बनी रहेगी --

शांति नहीं तब तक जब तक
सुख भाग नहीं 'नर' का सम हो ।।
नहीं किसी को बहुत अधिक हो ।
नहीं किसी को कम हो ।।

जब तक वर्ग-युद्धों को जन्म देने वाली आर्थिक विषमताओं का अस्तित्व रहेगा तब तक शान्ति की कल्पना नहीं की जा सकती । दिनकर ने उस व्यक्ति को 'पापी' कहा है जो दूसरों का हक छीन कर मानव-मात्र के सम-उपभोग की संभावनाओं को चुराता है । पापी वह नहीं है जो न्याय प्राप्ति के लिए संघर्ष करता है, क्रांति की नियोजना करता है अपितु अपराधी हैं क्रांति के लाने की परिस्थितियां उत्पन्न करने वाले ।

भीष्मकृत राजतंत्रहीन समाज और ध्वन्सीकरण की नीति के वर्णन से प्रभावित होकर राष्ट्रीय-कवि दिनकर ने राज्य के उद्भव, उसकी आवश्यकता, सीमा और सम्भावना पर खुली दृष्टि से विचार किया है । राज्य के उद्भव से पूर्व समाज धर्म के सूत्र में आबद्ध कुटुम्ब के समान ऊंच-नीच के बंधनों से निर्बन्ध, आवश्यकतानुसार उपभोग करता हुआ जीवनयापन करता था । इस अमृत जीवन में सब दिशाएं उन्मुक्त थीं । व्यक्ति मर्यादा और आत्मनियंत्रण से अनुशासित था न कि दण्डनीति का राजनियमों से[1] । तभी अकस्मात् अकाल पड़ा । भीषण मृत्यु-दृश्य ने लोभ को जन्म दे संचय की प्रवृत्ति को उकसाया और चोरी, लूटमार, शोषण, छीना-झपटी आदि में शृंखलाहीनता को जन्म दिया । तलवार के बल पर विक्रमी पुरुष शासक बनकर इस '[illegible]' को शांत करने आया और 'राजतंत्र' सामने आया । और वह मानव जो लोलुप के सदृश सुकोमल बन्धन में छटपटा रहा था वह दण्डनीति में बँध गया, जो सत्य और न्याय के कोमल उद्गारों को न समझ पाया वह दण्ड की भाषा समझने के लिए बाध्य कर दिया गया —

१- कुरुक्षेत्र, पृ० १११

उससे बढ़कर मनुज वंश का
और पतन क्या होगा ?
मानवीय गौरव का बोलो
और हनन क्या होगा

राजतंत्र में व्यक्ति की अपनी सत्ता तलवार के हाथ बिक जाती है और पशुवत् राजसत्ता के नियमों का पालन करना ही जनता का कर्त्तव्य रह जाता है । अनियंत्रित राजतंत्र अर्थात् अधिनायक तंत्र में व्यक्तिगत गुणों के विकास की समस्त संभावनाएँ रुद्ध हो जाती हैं । कर्म ही नहीं विचार और चिन्तन भी बाधित कर दिया जाता है । बौद्धिक विचारक या नीति-उपदेशक उनकी चिंतना यदि राज्यसत्ता के अनुकूल नहीं होती तो तृणवत् उनको कुचल दिया जाता है । राज्य का जन्म समाज में शान्ति और व्यवस्था लाने के लिए हुआ किन्तु वह शक्तिशाली वर्ग का समर्थन प्राप्त कर मार्क्स के शब्दों में 'श्रेणी सरकार' बन कर रह गया जिसने पुलीस, सेना, न्याय विभाग, जेल आदि दमन-साधनों की मदद से सीमित वर्ग पर अत्याचार किए । यह राजतंत्र मानवता के नाम पर कलंक रहा है । —

'राजतंत्र द्योतक है नर की
मलिन, विहीन प्रकृति का,
मानवता की ग्लानि और
कुत्सित कलंक संस्कृति का ।।

इसके विनाश के लिए अराजकता के प्रसार की नहीं अपितु श्रमिक वर्ग को अधिनायकत्व देने की ज़रूरत है । राजसत्ता के अन्त होने पर ही मानव-समाज की सबसे ऊंची व्यवस्था प्रकट होती है, जिसमें समाज के सदस्यों का पारस्परिक सम्बन्ध — शोषण पर आश्रित न होकर — सहयोग पर आधारित होता है —

सब थे बद्ध समष्टि सूत्र में
कोई छिन्न नहीं था,
किसी मनुज का सुख समाज के
सुख से भिन्न नहीं था ।

यह मार्क्सवाद में मेल खाती कवि की धारणा लेनिन या मार्क्स की पुस्तकों से उधार नहीं ली गयी है। अपितु अपने युग-बोध का प्रतिफलन है। मुगलकालीन छिन्न-विशृंखल भारत को एक सूत्र में बांधने वाले अंग्रेजों ने अपने समर्थक वर्ग का निर्माण कर जनसाधारण की विपन्न स्थिति का नाजायज फायदा उठाया। समस्त गृह-उद्योगों का ध्वंस कर मशीनीकरण के सहारे भारत को केवल कच्चा माल उत्पन्न करने वाला तथा मजदूर देश बना दिया। दिनकर ने जहां भी 'राजसत्ता' की बुराई की है वहां उन्होंने अधिनायक की अनियंत्रित, प्रपीड़क सत्ता को ही आलोचना का केन्द्र बनाया है। अंग्रेजी राज्य में शिक्षा (सविधा विधिवत्‌ये) तक को राजनीति से बांध लिया। नई भूमि की ओर जीवन का प्रवाह बहने की मनाही होने से प्रजा की ग्रीवा पर मानो दुःशीलतंत्र की शिला रख दी जाती है जिससे नूतन-अन्वेषण की दिशाएं बन्द हो जायें —

और आज प्रहरी यह देता
उसे न हिलने-डुलने,
रूढ़ि-बन्ध से परे मनुज का
रूप निराला खुलने।

दिनकर अराजकतावादियों के समान 'राज्य' नामक संस्था के विरोधी नहीं हैं जैसा कि 'कुरुक्षेत्र' का सतही अन्वेषण कर निर्णय दे दिया जाता है। और न ही वे हिंसात्मक उपायों के साम्यवादी समाज की स्थापना करना चाहते हैं। करुणा और प्रेम को साध्य स्वीकार करने वाला कवि हिंसा को आपद्धर्म के रूप में लेता है न कि सामान्य नियम के रूप में। दिनकर ऐसे 'समाजवादी समाज' की स्थापना की आवश्यकता महसूस करते हैं जहां मानवता की राह में बड़े पर्वतों का अस्तित्व न हो, मनुज-मनुज का सुख-भाग सम हो[1]। जहाँ मानव राग से रहित होकर

१— न्यायोचित सुख सुलभ नहीं
जब तक मानव मानव को।
चैन कहाँ धरती पर तब तक
शांति कहाँ इस भव को॥

— [illegible] पृष्ठ १०३

विचरता हो , मानव -मानव परस्पर शंका और भय से रहित हो । अंग्रेजों के अनियंत्रित राजतंत्र के बीच 'कुरुक्षेत्र' के कवि ने ऐसे निर्भय राज्य का स्वप्न देखा है जहां स्वार्थ की कलुषित भावना न हो, करुणा, स्नेह का शासन हो --

जह लोक जहां शोषित का ताप नहीं है
नर के सिर पर रण का अभिशाप नहीं है ।
जीवन समता की छांह तले पलता है
घर घर पीयूष-प्रदीप जहां जलता है ।।

सृजनात्मक क्षमता

महाभारत की कथा को कवि ने आधुनिक युग की गाथा के रूप में प्रस्तुत कर अपनी असाधारण सृजनात्मक क्षमता का परिचय दिया है । अतीत का वह जीवित सिरा जो वर्तमान को छूता है, संस्कृति का निर्मायक होता है । महाभारत-काल को वर्तमान में पुनर्प्रतिष्ठित करना और भावी-काल सम्भावनाओं के पल्लवन योग्य भूमिका तैयार करना 'कुरुक्षेत्र' की महानता का द्योतक है । 'कुरुक्षेत्र' का विषकाल में प्रणयन हुआ, उसकी शीतलता और दाह का प्रमाण वह अपने भीतर संजोए है । अपने आत्मकथात्मक निबन्ध में स्वयं कवि ने इसे ऊंची कविताओं का लक्षण माना है कि वे वर्तमान की कुक्षि से पैदा होकर वर्तमान से उठकर ही अपनी झंकार से अतीत और भविष्य का स्पर्श करती है । कवि को अपने युग को सप्रयास चित्रित करने की आवश्यकता तब उसी स्थिति में महसूस होती है जब वह अपने समय से बचना चाहेगा क्योंकि समय का वातावरण काव्य को खाद है और वह किसी युग की सम्पत्ति नहीं है[1] ।

कुरुक्षेत्र केवल भीष्म के माध्यम से दर्शन-ग्रंथ प्रस्तुत करने का सराहनीय प्रयास नहीं है अपितु --" वह तो पराधीन भारत के क्रोध की कविता है, उसके "विक्षोभ का विस्फोट और गहन द्वन्द्वों का आख्यान है ।" एक और आतंकवादी नेता पौरुष और शक्ति के सहारे स्वतन्त्रता पाने के लिए देश को प्रेरित कर रहे थे तो दूसरी और करुणा , प्रेम आदि सात्विक गुणों के सहारे गांधी जी

१- काव्य की [illegible] पृ० २ -- रामधारी सिंह 'दिनकर'

`सविनय अवज्ञा आन्दोलन` के नेतृत्व से भारतीय स्वतन्त्रता पा लेने का प्रयास कर रहे थे। कुरुक्षेत्र, जैसा कि `निवेदन` में कवि ने स्वीकार किया है, `साधारण व्यक्ति का शंकाकुल मानस` है, जो हिंसा और अहिंसा के द्वन्द्व में फंस गयी है। निराश पराभूत व्यक्ति का वन में जाकर अपने पलायन को सन्यास का नाम देकर भुलाना बहुत सहज-सरल है। `व्यक्ति सुख से समष्टि सुख बड़ा है,` निवृत्ति से प्रवृत्ति का अधिक महत्व है` की स्थापना `कुरुक्षेत्र` में की गयी है। उन्नीसवीं शताब्दी के धार्मिक सामाजिक नेता स्वामी विवेकानन्द ने राष्ट्रीयता को जगाने के लिए विपुल प्रयास किया। तिलक ने `गीता रहस्य` द्वारा पौरुष का आतंक खो कर कायर को हिन्दू समाज को फिर से जगाया। दिनकर का क्रान्तिकारी व्यक्तित्व `तिलक` से काफी प्रभावित है। `द्वन्द्वगीत` तक राग-विराग, करुणा-शौर्य, हिंसा-अहिंसा, निवृत्ति-प्रवृत्ति आदि के द्वन्द्वों में ग्रस्त रोमांटिक धरातल पर उन गर्वों का सामंजस्य खोज निकाला है। इस दृष्टि से दिनकर का कुरुक्षेत्र `द्वन्द्वों का आख्यान` मात्र नहीं है अपितु `द्वन्द्वों के सामंजस्य का आख्यान` है। आवेग और आवेश के भावुक कवि ने `कुरुक्षेत्र` में वैचारिक धरातल पर खड़े होकर काव्य में ही हृदय और मस्तिष्क का संतुलन स्थापित नहीं किया है अपितु अपनी प्रतिपाद्य विचारधारा में भी संतुलन-स्थापित किया है। `हुंकार` और `द्वन्द्वगीत` का कवि युधिष्ठिर के रूप में जटिल और संश्लिष्ट जीवन की असंगतियों को उठाता है और `कुरुक्षेत्र` का कवि भीष्म पितामह के माध्यम से उनका निराकरण प्रस्तुत करता है। फलत: व्यक्तित्व में द्वन्द्वों को स्थिति विघटन का मूल न रह कर विकास की प्रेरणा बन जाती है। भारतीय दृष्टि में द्वन्द्व और संघर्ष सृष्टि का मूल अवश्य है परन्तु उसका उनमें परिशमन होता है न कि उनकी निरन्तर शृंखला चलती रहती है। `हुंकार` यदि प्रश्न है `द्वन्द्वगीत` उलझाव है तो `कुरुक्षेत्र` समाधान है।

दिनकर ने इस काव्य में मूलत: जीवन मूल्यों की समस्या को उठाया है। दया, अहिंसा, क्षमा, करुणा आदि मूल्यों की अर्थवत्ता आज इसलिए समाप्त हो गई है क्योंकि उनमें युग की परिस्थितियों के अनुकूल स्वरूप धारण करने की शक्ति समाप्त हो गई। सदियों से [illegible] की शृंखला में अवरुद्ध भारतीयों

के व्यक्तित्व में इतनी सृजनात्मक क्षमता अवशेष न थी कि यथाकथित शाश्वत मूल्यों को सामयिकता के अनुरूप बना ले।' अहिंसा परोधर्म:' के साथ ऐसी परिस्थितियों को नहीं भुलाना है जहाँ अहिंसा कायरता का पर्याय हो जाती है, अत्याचारों की शृंखला का विस्तार करती है। तिलक के गीताकाव्य ने नैतिक जीवन का नव आख्यान प्रस्तुत करने का जो कार्य किया उसी भूमिका को काव्य-क्षेत्र में दिनकर के 'कुरुक्षेत्र' ने निभाया है। नैतिक मूल्यों को जब हम निरपेक्ष मान लेते हैं तभी अनेकानेक समस्याओं का जन्म होता है। दिनकर ने 'नैतिक मूल्यों की सापेक्षता' का सिद्धान्त हमारे सामने रखा है। व्यक्ति के आत्मबल के उन्नायक दया, प्रेम, करुणा, क्षमा हैं पर समाज की दृष्टि से हमें इन्हें भूलना भी होता है। मनोबल लेकर मनोमय भूमि के विकारों को परास्त किया जा सकता है किन्तु पाशविकता के सामने शारीरिक बल की ही अपेक्षा होती है। शान्ति की स्थापना और युद्धों का नाश करना अभिप्रेत है। हिंसा के स्थान पर प्रेम की स्थापना हो ऐसा असम्भव है। इस अपूर्ण संसार में युधिष्ठिर तो एक ही होता है, दुर्योधन अनेक होते हैं। अत: संसार को चलाए रखने के लिए मानवीय सुरक्षा और कल्याण के लिए हिंसा, युद्ध और शक्ति भी अनिवार्य हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में हिंसा पाप नहीं रह जाती।[१]

> छीनता हो स्वत्व कोई, और तू
> त्याग-तप से काम ले यह पाप है।

चुराता न्याय जो, रण को बुलाता भी वही है,
युधिष्ठिर! स्वत्व की अन्वेषणा पातक नहीं है।

\+ \+ \+

शोषण की शृंखला के हेतु बनती जो शांति,
युद्ध है यथार्थ में, व भीषण अशांति है,
सहना उसे हो मौन हार मनुजत्व की है,
ईश की अवज्ञा घोर, पौरुष की भ्रांति है।
पातक मनुष्य का है, मरण मनुष्यता का,
ऐसी शृंखला में धर्म विप्लव है, क्रांति है।

१- " We cannot say violence is evil in itself ..... Destruction is not the aim of fighting in all cases, when its real aim is human welfare, when it respects personality, then war is permissible" - Religion and Science. Page 202-203. by

'कुरुक्षेत्र' का कवि यथासम्भव अत्यान्तिक सीमाओं से बचकर चला है। उसने निवृत्तिवादियों पर आक्षेप किया, 'अहिंसा' के ध्वजाधारियों की कायरता का पर्दाफाश किया तो दूसरी ओर वैज्ञानिक प्रगति का दंभ भरने वाले मानव की आदिम पाशविकता को भी दिखाया। विज्ञान की महाविनाशक तलवार दुधारी है। विवेक का साथ छोड़ देने पर यह स्वामी का ही विनाश कर डालती है। वैज्ञानिक सभ्यता के [illegible] देने वाले प्रकाश की ओर भागते मानव को रसैल के समान दिनकर ने ठोकर खा कर गिर जाने से सावधान किया है। रसवता भर के मनुज का श्रेय विश्वसंहारक आग्नेय विज्ञान नहीं हो सकता। स्थूल का जिज्ञासु मानव पशुधर्मा है जिसके हाथ से विज्ञान के फुल वज्र होकर छूटते हैं[1]। शिशुवार अज्ञानी मानव को सावधान कर दिनकर विज्ञान की तलवार फेंक देने को कहते हैं --

खेल सकता तू नहीं ले हाथ में तलवार,
काट लेगा अंग, तीखी है बड़ी यह धार।

दिनकर के 'कुरुक्षेत्र' में जीवन दर्शन और नैतिक बोध को लेकर न केवल रूढ़ि व परम्परा की आलोचना द्वारा नए [illegible] की खोज की गयी है अपितु उसके साथ ही आधुनिक प्रगति की आलोचनात्मक अभिशंसा द्वारा समकालीन भारतीय संस्कृति के स्वरूप का उद्घाटन किया गया है[2]।

१- कुरुक्षेत्र, पृ० ६३-६४

"Thus culture, besides involving a criticism of tradition, also require a critical approeciation of novelty" - Essays in Science and Philosophy. Page 202. by B.Russel.

जयभारत

-0-

नहुष के स्वर्गपतन से प्रारम्भ होकर युधिष्ठिर के स्वर्गारोहण पर समाप्त होने वाले इस काव्य में मानव-गरिमा का आख्यान है । भारत पराधीनता के कारावास में नहुष-पतन की दारुणावस्था का अनुभव कर रहा था । राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त ने 'जयभारत' में युधिष्ठिर के स्वर्गारोहण की गाथा के माध्यम से पतन और आरोहण के बीच निरन्तर विकासवान मानवता की यश: गाथा का अवलम्ब ले ह्रासोन्मुख भारतीय संस्कृति को गौरवशाली अतीत की कथावस्तु के सहारे नया अर्थ दिया है । रामकथा के सफल गायक महाकवि गुप्त जी भारत के राष्ट्रीय कवि कहे जाते हैं । एक साथ साकेत, कुणालगीत, जयद्रथवध, यशोधरा, काबा और कर्बला, हिन्दू, गुरुकुल, भारत भारती आदि के रचयिता ने भारतीय संस्कृति के विश्वकोश को सजीव बनाया है । यह काव्य अनवरत १५ वर्षों की साधना और कवि के परिपक्व काव्य-कौशल का परिचायक है । वर्तमान युग जो दो विश्वयुद्धों की ज्वाला से अभी मुक्त नहीं हो पाया है, आगामी विश्वयुद्ध की आशंका से त्रस्त है । युद्ध और शान्ति की समस्या, इससे पूर्व इतने विकट रूप में मानवता के सामने कभी नहीं आयी थी । परतंत्र भारत में 'जयभारत' का प्रणयन प्रारम्भ हुआ और स्वतंत्रता की छाया में इसका समापन हुआ । मानवतावादी कवि ने 'जयभारत' के माध्यम से धर्म और लौकिक विवेक में ऐक्य संस्थापन का प्रयास किया है । इस रचना में वे अधिक रमी हुई कथा से पुरातन घटनाओं और पात्रों को युगानुकूल अर्थ देने में समर्थ हो सके हैं । पुनरुत्थान के मूल में मानवतावादी जीवन मूल्यों की संस्थापना और अतीत को स्वीकार का अंग मान कर चलने की [illegible] व्यक्त हुई है ।[1] लक्ष्मण

१- वर्तमान [illegible] का आलोक है, जिस भावी जीवन का ।
[illegible] हों, अधिक [illegible] का ॥

की वीरता से अपने धैर्य को कम मानने वाले भीम का प्रशंसा हिडिम्बा--" वे ही तुम जिनमें अतीत ही महान है" -- कह कर करता है[1]। वर्तमान में कवि की सुदृढ़ आस्था है --

> आस्था स्वत: प्रस्तुत में न तो तो
>
> भविष्य का ही फिर क्या भरोसा ?
>
> \+ \+ \+
>
> जो भावी की आशा किए वर्तमान सुख छोड़ते,
>
> वे मानों अपने आप ही निज हित से मुँह मोड़ते ।

काव्य में पुरातन पीठिका लेने का यह अर्थ कदापि नहीं लेना चाहिए कि कवि अतीत-गान के द्वारा वर्तमान की अवहेलना कर रहा है । गुप्त-साहित्य का अध्ययन करने पर उनकी एक सामान्य प्रवृत्ति ज्ञात होती है कि प्राय: सभी कृतियों में पौराणिक,ऐतिहासिक कथानक चुन कर पात्रों की नवीन व्याख्या की गयी है । वर्तमान युग की बौद्धिकता को देखते हुए गुप्त जी ने यथासम्भव पात्रों के चरित्र की नवीन व्याख्या की है । जयभारत में कुंती,युधिष्ठिर,कर्ण आदि चरित्रों की युगानुकूल व्याख्या की गयी है -- जिसके मूल में "मानवतावाद" की प्रतिष्ठा ही कवि का मूल ध्येय रहा है । इसी कारण युद्ध सर्ग में युद्ध की [illegible] पर विचार करते हुए इस "युद्ध और शान्ति" की उस समस्या का संस्पर्श किया है जो पिछले दो महायुद्धों के बाद से अत्यन्त भीषण हो गई है ।

"जयभारत" महाकाव्य का [illegible] १२ वर्ष है । इसमें कुछ पूर्व प्रकाशित रचनाएं (नहुष,[illegible],वनवैभव, सैरंध्री,[illegible],शान्ति सन्देश,उर्वशी, दुकूल,वरदान,अर्जुन और सुभद्रा,अर्जुन और उर्वशी ,भीष्म प्रतिज्ञा,द्रौपदी हरण, केशों की कथा, रण निमंत्रण, कुन्ती और कर्ण, विदुरवाणी,उत्तर और बृहन्नला कुरुक्षेत्र व संग्राम का परिणाम, धृतराष्ट्र और धनञ्जय) फिर से लिखी गई है । [illegible],द्यूत,[illegible], [illegible],विदुर वार्ता,रण निमंत्रण,केशों की कथा,[illegible], कुन्ती और कर्ण,अर्जुन का बोध तथा कुरुक्षेत्र -- इन पूर्व रचित रचनाओं को यथा [illegible] किया गया है । यह और [illegible],कौरव-पाण्डव,[illegible] [illegible],एकलव्य,परीक्षा,

---

1- [illegible]

याज्ञसेनी, लाक्षागृह, हिडिम्बा, लक्ष्यवेध, इन्द्रप्रस्थ, वनवास, वनगमन, अस्त्रलाभ, तीर्थयात्रा, द्रौपदी और सत्यभामा, दुर्योधन का दुःख, वनमृगा, अतिथि और आतिथेय, यक्ष, अज्ञातवास, उद्योग, अनाहूत, मद्रराज, युयुत्सु, [illegible], युद्ध, हत्या, विलाप, शेष और स्वर्गारोहण -- ये ३१ रचनाएँ संकलित कर महाकाव्य 'जयभारत' की रचना हुई है जिसमें ४८ सर्ग पूर्ण पृथक् होते हुए भी धारा प्रवाह कथा के अंग हैं। इस काव्य में कवि की नाना शैलियाँ, भाव पद्धतियों के साथ विकासमान जीवन-विवेक का इतिहास देखने को मिलता है। जयभारत अर्द्धशताब्दी के साहित्यिक अनुष्ठान का क्रमिक विकास प्रदर्शित करता हुआ, कवि कृतित्व को पूर्णता पर पहुंचाने वाला महाकाव्य है। राष्ट्रकवि के कृतित्व का समग्र रूप में, यदि एक ही रचना में परिचय पाना हो तो 'जयभारत' को प्रतिनिधि रचना के रूप में लिया जा सकता है।[1]

महाभारत को आधार बनाकर रचित 'जयभारत' में न केवल अश्वत्थामा की पापरहिंसा, दुर्योधन की ईर्ष्या, कृष्ण की दुर्बोध कूटनीति के बीच महायुद्ध जन्य नीरस निस्तब्धता ही है अपितु साथ ही इसमें जीवन-सौन्दर्य में प्रवेश करने का उपदेश देने वाली गीता भी है। यदि इस काव्य का आधार बिन्दु जीवन के असुन्दर का, यथार्थवादी तूलिका से अंकन ही होता तो इस भीषण काव्य-ग्रन्थ को पढ़ने का जन-साधारण साहस ही न करता। जीवन-विवेक और नैतिक बोध की गहरी संवेदना युक्त 'जयभारत' में सुन्दर का बोध युगपद रूप से चला है।

सौन्दर्य बोध और जयभारत

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की हिन्दी साहित्य को अन्यतम देन के रूप में राष्ट्र-प्रतिनिधि कवि गुप्त जी का नाम गिनाया जा सकता है। इतिवृत्तात्मकता के इतिहास-काल में उनकी काव्य-प्रतिभा का शैशव बीता। युगानुरूप स्वरूप-परिवर्तन की अद्भुत प्रतिभासम्पन्न [illegible] गुप्त जी ने छायावाद की सूक्ष्म वायवी शैली का भी अपने काव्य में उचित सन्निवेश किया। यथावत् अंकन ही सौन्दर्य नहीं है और न केवल कल्पना की वायवी उड़ान पर थिरकने वाली तितली

१- रा[illegible]में अभिव्यक्तिकरण गुप्त का[illegible] ग्रन्थ, पृ०४१५ -- डा० विजयेन्द्र स्नातक

के पंखों के भी कोरी सुकुमारता ही सौन्दर्य है । गुप्त जी ने जयभारत में अपनी सौन्दर्याभिनिवेशिनी दृष्टि से सत्यवती,शची, द्रौपदी,उर्वशी जैसे नारी पात्रों और एकलव्य,अर्जुन,भीम, कृष्ण, जैसे पुरुष पात्रों की परिकल्पना को ऐसी सरल, सुकोमल पर गत्यात्मक रेखाओं द्वारा उभारा है कि न केवल उनकी आकृति में ही निखार आया है अपितु उनके मानसिक,आत्मिक रूप की झलकें भी अनावृत हो गई है । कल्पना का पुट है, आलंकारिकता है पर वस्तु और पात्र से परे नहीं ।

परम्परागत सौन्दर्य-उपमानों का भी यथोचित प्रयोग किया गया है और नवीन उपमानों की भी नियोजना की गयी है । दिव्यांगना शची का अभिजात सौन्दर्य सद्यः स्नाता रमणी के रूप में ऐसा प्रतीत होता है जैसे नीर से कमला निकल रही हो । केशों के लिए परम्परा प्रचलित 'व्याल' उपमान लाकर,गिरती हुई जल- बुन्दों को मुक्ता कहकर कवि सन्देह प्रकट करता है कि यह अमृत है या विष ?[१] योजनगंधी के माध्यम से कवि ने उस श्रमिक-बाला का चित्र उकेरा है जो कछौंटा मारे है और जिसका कलेवा वायु-[illegible] है । इस रूप-विधान मत्स्य कन्या को कवि श्रमिक-बाला के रूप में उपस्थित करके नारी-श्रम के सौन्दर्य को दिखलाना चाहता है । इससे पूर्व साकेत में कवि कछौंटा मारे पौधों का निराई करते सीता के सौन्दर्य को दिखला ही चुका था । आज के युग में हो ग्राम्य मांसल सौन्दर्य को [illegible]तिवादियों का आदर नहीं मिला है, सामन्तीय काल में भी बिहारी जैसे कवि भी [illegible] के गदरार सौन्दर्य को काव्य में प्रतिष्ठित करते हैं । यहां 'गांवटी' में एक तिरस्कार की ध्वनि है जिसका लेशमात्र भी 'योजनगंधा' वर्णन में नहीं मिलता —

> लायी थी धारा-विरुद्ध वह खेकर छोटी तरणी ।
> थी क्या वे उद्दीप्त और भी तप्तस्वर्ण शोभा भरणी ।।
> उभरा अंग सांस बढ़ने से [illegible]रे से लेते थे ।
> स्वेद बिन्दु माथे के मोती भाग्य सूचना देते थे ।।
> उसका बाँह लिए थी कर में जिस विजय ध्वज-दंड यथा....

१- जयभारत[illegible]

उर्वशी नारी का मात्र प्रिया रूप है जो माता, बहिन, पत्नी आदि सम्बन्धों तथा तज्जन्य नाना कर्मों के बन्धन से पूर्ण वियुक्त है । कवि ने जीवन से परे की इस 'उर्वशी' की कल्पना को भी उसी सजीवता से उकेरा है जिससे उसने द्रौपदी जैसी पति प्राणा एवं यौजन गंधा जैसी श्रमिक बाला को साकार किया है । रूप-गंध की फलित-ललित लपटें छोड़ता अपना मदिर दृष्टि से मन: सृष्टि के स्वप्न बिखेरता यह अप्सरा नारीत्व का माँ, बहिन, पत्नी आदि सम्बन्धों से रहित मात्र 'प्रिया' रूप है[1] ।

पुरुष का सौन्दर्य उसके पौरुष में सन्निहित है । एकलव्य यद्यपि निषाद-बालक है परन्तु उसका भव्य-व्यक्तित्व सबों का ध्यान अपनी ओर खींचता है ---

प्रौढ़ शबर रूपी शंकर का बाल्य-रूप-सा वाम ।
आया एक नवयुवक, उसने गुरु को किया प्रणाम ।।
कसी गँसी थीं मांसपेशियाँ, श्यामल चिकना चर्म ।
बना आप ही था सो अपना जन्म जात वर वर्म ।।

पीताम्बरधारी वंशीवादक कृष्ण के 'विराट रूप' को गुप्त जी ने अत्यन्त सजीवता से उतारा है ---

भूमि से नभ तक पिण्डाकार,
ज्वलित था तेज: पुंज अपार ।
प्रभा से वहाँ दिशाएं पाट
प्रकट था प्रभु का रूप विराट ।।
दीप्त बहु बाहु उदर-मुख-नेत्र
केश तक थे किरणों के क्षेत्र ।
कणों से उड़ उड़ ग्रह-लोक
लीन होते थे पीतालोक ।।[2]

१- रही न मैं किसी का नाम । उसकी तुलना रहे मुझे उससे क्या काम ?
मैं किसकी मां, बहन ? और पत्नी भी नाह । एक प्रेयसी मात्र रूं किसकी भी न
--- जय भारत, पृ० १६४

२- [illegible] ११।१०-३०

सौन्दर्य स्वयं में निरपेक्ष है । द्रष्टा के भाव का अध्यारोपण चाहे प्रेम को उज्ज्वल बना दे या वासना-कलुष से स्वरूप विकृत कर दे । द्रौपदी के सरल-शुभ्र सौन्दर्य से कीचक वासनाकुल हो गया और अपनी बहिन से अनुरोध करता है कि वह सैरन्ध्री को उसके पास भेजे । रानी सोचती है कि यदि सौन्दर्य वासना का जन्मदाता है तो कुल-ललना उसे क्यों पाती है ? काम-रीति को नर 'प्रीति' का नाम मात्र देते हैं , कीट केवल तृप्ति के लिए प्रसून चाहता है । यदि 'प्रेम' काम से पृथक् पावनता युक्त होता तो कीचक अपनी बहन तथा द्रौपदी को समान क्यों न मानता ?

कामरीति को प्रीति नाम नर देते हैं बस,
कीट तृप्ति के लिए लूटते हैं प्रसून-रस ।
यदि पुरुष जनों का प्रेम है पावन नेम निबाहना
तो कीचक मुझ-सा क्यों नहीं, सैरन्ध्री को चाहता ?

मर्यादावादी गुप्त जी के मतानुसार रमणी सौन्दर्य की सार्थकता जगत को लुब्ध करने में नहीं है अपितु "घर के वर के लिए वधू का साज बाज सारा"। महाकवि ने प्रश्न उठाया है कि "क्या प्रीति नाम में ही प्रकट काम वासना है अहो !" भारतीय संस्कृति फ्रायडीय विचारधारा से साम्य नहीं रखती कि हमारी प्रत्येक भावना के पीछे काम वृत्ति कार्य करती है । "काम" का उदात्त रूप स्वीकार करने वाली आदि [illegible] धारा की स्थापना कामायनी में प्रसाद जी ने की है । उनका भाव है कि काम को ठुकरा कर हम इस जीवन को असफल बनाते हैं । प्रवृत्ति-वादी गुप्त जी के के शब्दों में —

स्वाभाविक है काम वासना भी हम सब की,
और नहीं तो सृष्टि नष्ट हो जाती कब की ?[1]

१- तु० काम मंगल से मंडित श्रेय
सर्ग इच्छा का है परिणाम
तिरस्कृत कर तुम उसको भूल
बनाते हो [illegible] असफल धाम —
— कामायनी [illegible]

प्रेम पूर्ण समर्पण की स्वीकृति है । प्रेम की कल्पना उदय होने पर दोष भी गुण आभासित होने लगते हैं । इसी कारण प्रेम को अंधा कहा गया है । कुन्ती कर्ण से पूछती है कि पाँच गाँव देकर भी जो संधि को तत्पर न हो उस अन्यायी का साथी बनने से क्या लाभ ? तो कर्ण उत्तर देता है-- " प्रेम दोष गुण नहीं देखता ।" उसके प्रतिवाद में कुंती इस अंध भावना को निर्बलता का पर्याय कहती है जो धीर वीर कर्ण के मुख से कदापि शोभा नहीं देती । प्रेम के साथ-साथ विवेक की आवश्यकता है । विवेक को जाग्रत रखकर ही अपने बन्धुबान्धवों से प्रेम करता हुआ भी युयुत्सु पाण्डव पक्ष में आ जाता है । फलत: उसे स्वजनों के कटु आक्षेपों और द्वेष का भाजन बनना पड़ा । उर्वशी का दान विवेक की कसौटी पर खरा न उतरने के कारण ही अर्जुन ने अस्वीकृत किया और शाप सहन किया । इसका कारण है कि --" विफल हुआ जो राग वहाँ था वहाँ द्वेष ही छाया[1] ।" जो राग द्वेष में परिणत हो जाए उनकी नींव स्वार्थ पर टिकी होती है परन्तु सच्चा प्रेम विफल होने पर भी सफल होता है । वहाँ स्वयं की हार में जीत का निवास होता है । माँ के मर जाने पर राक्षसी हिडिम्बा के समक्ष भीम के प्रणय की प्राप्ति जीवन-मरण का प्रश्न था । कुंती कठिनता से सहमति प्रदान करती है और साथ ही आशंका प्रकट करती है कि यदि भीम प्रत्याख्यान कर दें तो वह उत्तर देती है --

तब भी मैं पतित न हूँगी किसी पाप से
उज्ज्वल रहूँगी शुचि स्नेह के प्रताप से ।।
विफल भी सच्चा प्रेम व्यर्थ कहाँ होता है ।
तीर्थ ही बनाता वह, व्यर्थ जहाँ होता है ।।

जीवन विवेक

नाना द्वन्द्वों के बीच समन्वय का प्रयास करती साहित्यकार की समग्र दृष्टि जीवन के प्रति सुनिश्चित विवेक अथवा दर्शन का निर्माण करती है । यह दर्शन

१- [illegible] पृ० १७०

शास्त्रीयता की रूढ़ पद्धति पर चलने वाला दर्शन नहीं होता अपितु संवेदनशील कलाकार की संवेदना और समकालीन सन्दर्भों की विवेचना के परिणामजन्य जागरूक विवेक होता है । मैथिलीशरण गुप्त का व्यक्तित्व विरोधों के बीच सामन्जस्य का अद्भुत उदाहरण है । उनमें एक और वैष्णव भक्त आस्तिक का परम्पराप्रियता है तो दूसरी ओर नवयुग के सहस्त्र-नी नवीनताओं को पचा लेने वाली शक्ति भी है । गुप्त जी का कवि पुरातन और नवीन मर्म को एकाकार कर देता है । प्राचीन आख्यानों के माध्यम से नवयुग को जगाने वाले "भारत भारती" के कवि की कलम ने परम्परागत आदर्शों को नवयुग के सन्दर्भ में पर्यालोचित किया है ।

"नहुष" से "[illegible]" तक विशाल कथावस्तु का विस्तार मानवता की उद्भावना के लिए किया गया है । गिरने वाला मानव जहाँ दानवीय प्रवृत्तियों से परिचालित होता है, वहाँ वह वही मानव अपनी दैवी प्रवृत्तियों से स्वर्गाधिष्ठाता बन जाता है[1]। दानवता उभर कर मानव को हिंसक बनाती है[2] और वह कल्याणपाद नृप के समान अमानुषिक राक्षसी कृत्य करने लगता है परन्तु जैसे ही उसका चैतन्य जाग्रत होता है वह ग्लानि से अभिभूत हो गुरु वशिष्ठ से यही दया चाहता है —

"जीऊँ भूल निज दानवता ।
तो लौटे न मेरी मानवता ।।
हे देव, मिले विस्मरण मुझे ।
अन्यथा भला है मरण मुझे ।।

आत्म ग्लानि सब पापों का प्रक्षालन कर देती है । अपनी भूलों पर पछता कर पाप पुण्य हो जाता है । वशिष्ठ यही उपदेश देते हैं कि पाप करने वाला पापी नहीं होता, वह पुण्य करके उस कलंक कालिमा को धो लेने की क्षमता रखता है[3]।

१- जग के जीवों में परम जन्तु मानव है
उसमें ही दोनों मिले देव दानव हैं ।
— कुणाल(?),पृ० २११

२- हिंसा है हिंसक नहीं
जहाँ मानव में दानव बनता
— [illegible],पृ० १०४

३- हा तात उठो धीरज धर के
जीवो निज पाप पुण्य करके
डूँस मर क्या बचे कलंक से तुम
उबरो अब निज कलंक से तुम ।
— कुणाल(?),पृ० १००

नहुष र्ग की यही सार्थकता है -- `निश्चय मनुज ही दनुज एक बाज है ।` नारद के कथनानुसार दैत्य हमारे मन की आसुरी वृत्तियों का प्रतीक है, जिनसे हमें अपना हृदय रूपी देवधाम बचा रखना है । स्वर्ग के राजा इन्द्र का पद प्राप्त करने वाले मानव को आसुरी वृत्तियों ने पराभूत किया । वह भुजंग बनकर धरती पर आ गिरा । परन्तु इस पतन में भी पुनरुत्थान की आस्था छिपी है । इस दृष्टि से `जयभारत` मानव द्वारा का प्रगतिमुखी आख्यान है --

गिरना क्या उसका, उठा ही नहीं जो कभी ।
मैं ही तो उठा था, आप गिरता हूँ जो अभी ।।
फिर भी उठूँगा और बढ़के रहूँगा मैं ।
नर हूं, पुरुष हूँ मैं, चढ़के रहूँगा मैं ।।

कुपथ पर जाकर पीछे हटने में अपने स्वाभिमान की हानि मानने वाले नर की उद्धत-दृप्तता वीरता और पौरुष का पर्याय नहीं हो सकती । `गलती करना उतना बुरा नहीं है जितना गलती को न मानना ।` गलती को स्वीकार न कर पाना दुर्बलता का द्योतक है क्योंकि `सच्चा साहस यही आप अपने शोधन में ।`[१] इस दृष्टि से कवि ने कर्ण के चरित्र को निखारा है --

मैंने अपना एक कर्म ही अनुचित माना ।
कृष्णा का अपमान, किन्तु तब क्या यह जाना ।।
यह है मेरी अनुज-वधू, अब कहाँ ठिकाना ।
इसका प्रायश्चित्त मृत्यु के साथ बिताना ।।

अभाव की वर्णना भी भी भाव का बोध कराने में सक्षम होती है । मानवतावाद की स्थापना `जयभारत` के लेखक का मूल ध्येय रहा है और इसकी पूर्ति के लिए उन्होंने मानवता के विरोधी तत्वों का वर्णन किया है । वर्ग वैषम्य, मिथ्या आदि गौरव की भावना ने सच्ची मानवीयता के मार्ग में साम्प्रदायिकता, जातीयता, अछूता आदि के रोड़े अटकाए हैं । युधिष्ठिर के शब्दों में --

---

१- जयभारत,पृ० ३११

हाय जल से भी मनुज कुल आज पिछड़ा ।

जल मिला जल से, मनुज से मनुज पिछड़ा ।।

दूसरी ओर परावलम्बन और भाग्यवाद ने उसके पौरुष को कुंठित किया है । 'नर की यह निरीहता' मानवता की असीमित शक्ति के सम्मुख प्रश्नचिह्न है । हिडिम्बा राक्षसी स्पष्ट करती है कि नर अपनी निरीहता में दानव और देव दोनों से विकट है, क्योंकि वह पग पग पर किसी दिव्य की अवतनता की बाट जोहता है -- यह दीनता या आत्महीनता है[१]। द्रौपदी के केशों को भरी सभा में खींचा जाना -- मानवता पर सबसे बड़ा आक्षेप है । घटोत्कच द्रौपदी के अपमान की कथा श्रवण मात्र से विक्षुब्ध होकर उठता है --

हाय । ये दुष्कृत असम्भव दानवों से

हम निशाचर ही भले तुम मानवों से ।

परन्तु युधिष्ठिर एक ऐसा चरित्र है जिसके माध्यम से कवि ने यथार्थ मानवता के प्रतीक की स्थापना की है । प्रारम्भ में औदार्य, त्याग और तितिक्षा और बाद के सर्गों में [illegible], अनासक्ति, कर्मनिस्संगता, समता की स्थापना कर स्वर्गारोहण के प्रकरण में मानवता का यशोगान कराया है । युधिष्ठिर एक ऐसा धरती का सुमन है जो स्वर्ग को भी दुर्लभ है[२]। --

जय पृथिवी पुत्र जयति भारत

जय जय अजातशत्रो स्वागत ।

'नरत्व' में कवि की इतनी आस्था है कि वह उसके सामने 'नारायण' को ठुकरा देता है । उसे नर और '[illegible]' का एकत्व अभिप्रेत नहीं है क्योंकि 'घुल जाने में ज्योति कहां ।' मानव प्रतीक युधिष्ठिर के शब्दों में --

हे नारायण, क्या और कहूं,

तू भिन्न नर मात्र मुझे रखना,

क्या नहीं एक है भी उनसे

कीलत्व कहां रहे बचना ।

१- [illegible], पृ० ४२

उनकी इस आत्मगौरव की भावना से नारायण प्रभावित होते हैं और उनका स्वागत करते हुए कहते हैं --

> आओ हे मेरे नर आओ ।
> जो कुछ है जहां, तुम्हारा है,
> मुझको पाकर सब कुछ पाओ ।

'मानुष से श्रेष्ठ इस लोक में कुछ नहीं है' के रूप में मानवतावाद को लेकर गुप्तजी ने मानवतावाद की स्थापनार्थ नवढंग में जयभारत की संरचना की गई है । यह मानवतावाद शास्त्रीय अर्थों में रूढ़ नहीं है --

> नमो नारायण , नमो नर-प्रवर पौरुष केतु ।
> नमो भारति देवि, वन्दे व्यास, जय के हेतु ।।

प्रत्येक दलित और तिरस्कृत को करुणा और स्नेह से समता का धरातल प्रदान करना मानवतावादी विचारधारा का मूल रहा है । वैदिककाल की गरिमामयी नारी का व्यक्तित्व सामन्तीय संस्कृति में अत्यन्त क्षुद्र हो गया था । पुनर्जागरण-काल में इस नारी जाति के उद्धार का संकल्प सभी धार्मिक सामाजिक आन्दोलनों के मूल में पाया जाता है । 'जयभारत' में मानवतावादी गुप्त जी ने अशिक्षित, मौन नारी को विदुषी द्रौपदी का जागरूक व्यक्तित्व और अपराजेय स्वर दिए ताकि वह यह पूछ सके कि उसे दांव पर लगाने से पूर्व स्वयं हारे युधिष्ठिर का यह कृत्य कहां तक नैतिक था । कौरव की सभा में लांछित द्रौपदी स्पष्ट शब्दों में कहती है --

> मैं दासी ही नहीं, यदि पंडिता भी हूं कभी ।
> तो आज मैं कैसे मूक हूं आज अपने कुल सभी ।।

क्षत्रिय नारी की समस्त गरिमा 'जयभारत' में पाई जाती है । कोमल-मना नारी देश और जाति के गौरव की रक्षा के लिए निःशंक भाव से अपने पुत्रों तथा [illegible] को रणप्रांगण में भेज देती है । राष्ट्रीय [illegible] में भारतीय नारी ने न केवल अपने पति तथा पुत्रों को सहर्ष भेजा अपितु स्वयं भी [illegible]-युद्ध और अन्य आन्दोलन सम्बन्धी समस्त कार्यों में सक्रिय योग दिया ।

ऐसी स्थिति में जयभारत में कवि जब यह कहता है कि नारी का असली कार्यक्षेत्र घर है, उसकी शोभा और साज सज्जा संघर्षों से टूटे हुए और बिखरे पुरुष को नवता देने में ही निहित है[1] तो सन १९५२ में रचित काव्य की इस स्थापना में अनुदारता दीख पड़ती है। यह सत्य है कि गुप्त जी नारी जाति के हिमायती तथा उद्धारक हैं और उन्होंने विधृता, उर्मिला, यशोधरा, विष्णुप्रिया, आदि नारी पात्रों के अकुंठित दान और समर्पण को काव्य की उच्च-पीठिका पर प्रतिष्ठित किया है। "एक नहीं दो दो मात्राएँ नर से भारी नारी"[2] कहने वाला कवि जब "अबला नारी केवल दान और समर्पण के लिए विश्व में आती है"[3] अथवा "नारी अमरबेल का आश्रय पति रूपी महाद्रुम होता है"[4] आदि ऐसी परम्परा - प्रचलित सामन्तीय उक्तियों को यथावत् दोहराया है तो ऐसा प्रतीत होता है कि गुप्तजी की परम्परागत वैष्णवी आस्तिकता समकालीन प्रगतिशीलता के आड़े आती हो। प्रकृतिदत्त कोमलता के कारण जीवन के बहुमुखी क्षेत्रों में उत्तरदायित्व का वहन करते हुए भी नारी घर के साथ बंधी रहती है — किन्तु इस आधार पर उसके व्यक्तित्व को घर की चार दिवारी में बंद नहीं किया जा सकता। हिडिम्बा के राक्षसत्व को धोकर कवि ने नारी-जाति मात्र में समता स्थापित करने का प्रयत्न किया है।[5]

कवि की इस विचारधारा के मूल में उनका गेह गौरववाद ही निहित है। कौटुम्बिक कवि गुप्त जी ने जीवन के विविध क्षेत्रों में मुक्त विचरण करती नारी का ध्यान, बार बार उसकी कोमलता, दया, करुणा, समर्पण आदि प्रवृत्तियों के द्वारा घर की ओर आकृष्ट किया है। फलतः परिवर्तनशील नवयुग के कहीं-कहीं अनुदार प्रतीत होने लगते हैं। पश्चिमी संस्कृति में पूर्व प्रचलित परम्परागत

१- जयभारत, पृ० १७९-८०

२- द्वापर — विधृता

३- नारी होने यहाँ लोक में देने ही आती है।
   बहु देय लेकर वह उससे प्रभुता भी पाती है॥
   पर देने में विलय न होकर क्यों खोती है।
   अपना अर्पण का भी अपना कहीं नहीं होता है॥

४- "हम भी समाज में अमरबेल ... "

५- जयभारत, पृ० ..

संयुक्त परिवार-प्रथा में कवि ने अपनी आस्था प्रकट की है । सद् गृहस्थ का चित्र 'वक संहार' में दृष्टिगत होता है । घर का द्वार शुचिलिप्त है, देहली पर पूजा-प्रसून बिखरे हैं, यज्ञवेदी के निकट शिशु-सुत सहित मंत्र पाठ द्वारा विप्र सन्ध्या कर रहा है और पास ही रखे वायु शोधक तुलसी बिरवे पर कन्या दीपक रख रही है --ब्राह्मणी आंख मूंदे खड़ी है । ठेठ भारतीय परिवार का यह चित्र आंखों के सामने सजीव हो उठता है । वक को बलि जाने के लिए सदस्यों की आतुरता पारिवारिक सौहार्द,प्रेम की परिचायक है । अपने को 'पराया धन' मानने वाली कन्या भली प्रकार जानती है कि मां के अभाव में उस भाई का पालन नहीं हो पाएगा जो सम्पूर्ण कुल का आधार है, पिंडदाता है[1]। दूसरी और विप्र भी अपनी पत्नी को नहीं त्याग सकता --

पाणिग्रहण जिसका किया
सब भार जिसका है लिया
कैसे उसे मैं मृत्यु-मुख में छोड़ दूं ?
सामाजि..-सम्मुख विधि-विहित
जिसको किया निज में निहित
सम्बन्ध उस सहधर्मिणी से तोड़ दूं ?

परम्परागत आदर्शों,मान्यताओं में आस्था प्रकट करने वाले गुप्त जी ने रूढ़ियों पर आघात भी किया है । हिडिम्बा,एकलव्य और कर्ण के माध्यम से जाति शुद्धता, कुल महत्ता पर प्रश्न उठाए हैं । वर्ण व्यवस्था का जन्म सामाजिक सुविधा और कार्यनैपुण्य की दृष्टि से हुआ और उसका आधार गुण और कर्म था, वंश परम्परा नहीं। एकलव्य जाति के आधार पर अयोग्य शिष्य करार देने वाले द्रोणाचार्य से प्रश्न पूछता है कि क्या अराजन्यों में ईश्वर का अंश नहीं होता या वे मूल मनुवंश के नहीं हैं[2]।युधिष्ठिर तो स्पष्ट शब्दों में एकलव्य को समान स्वर प्रदान करते हैं --

सुनो तात, हम सभी एक हैं भवसागर के तीर ।
हो शरीर यात्रा में मार्ग पीछे का व्यवधान ।।
परमात्मा के अंश रूप हैं आत्मा सभी समान ।
एकलव्य तो मनुज मुकनी-सा मुकर्म सब का भाग ।।

१- [illegible]
२- [illegible]

स्वयं को मानव कह कर हिडिम्बा राक्षसी को पुत्रवधू बनाने में झिचकती कुंती से हिडिम्बा कहती है --" प्रा[illegible] सहज प्रवृत्तियों से एक हैं जन्म से मैं जो भी रहूं जाति से तो तुम्हारी हूं ।" यक्ष के प्रश्नों का उत्तर देते हुए धर्मराज स्वीकार करते हैं कि " कुल तो है चारित्र्य हमारा ।" व्यर्थ विशुद्धि गर्व किससे करते हैं ?" -- इस प्रश्न का उत्तर दिया --" जाति वर्ण कहते हैं जिसको ।" यह ठीक है कि संग हैं संस्कार रह जावें कहीं भी" -- पर केवल कुल के आधार पर संस्कारों का निर्णय नहीं किया जा सकता । संस्कारों का संस्कार करने की क्षमता मानव में होती है । कर्ण से जब वर्ण-परिचय पूछा जाता है तो वह निःशंक उत्तर देता है कि उसके कर्म अभी वर्ण का परिचय देंगे -- पिता के सारथी होने मात्र से उसके महारथी होने में शंका करना व्यर्थ है । 'जयभारत' कवि की [illegible] रचना है जिसमें नवयुग का प्रभाव सर्वाधिक मुखर हुआ है । उन्होंने इस काव्य में [illegible] मूल्यों की स्थापनार्थ स्पष्टतः स्वीकार किया है --

> कुल से नहीं शील से ही होता है कोई जन आर्य[2]
>
> \+ \+ \+ \+
>
> पद से ही मैं किन्तु मानती नहीं महत्ता ।
>
> चाहे जितनी क्यों न रहे फिर उसमें सत्ता ।।
>
> स्थिति से नहीं, महत्त्व गुणों से ही बढ़ता है ।
>
> यों मयूर से गीध अधिक ऊंचे चढ़ता है ।[3]

भारतीय संस्कृति मूलतः आशावादी रही है क्योंकि वह समग्र दृष्टि से जीवन के विविध रूपों और [illegible] को अपनी विचारणा का केन्द्रबिन्दु बनाकर चली है । केवल दुःख और निराशा पर ध्यान केन्द्रित करने से जिस निवृत्तिवादी रुग्ण दृष्टि का जन्म होता है, उसे उपनिषद् और गीता के सन्दर्भ में स्वस्थ स्वरूप प्रदान किया गया । सुख और दुःख जीवन में रात और दिन के समान चक्राकार

१- जयभारत,पृ० २२०

२- जयभारत,पृ० २२

३- जयभारत,पृ० ३३०

आते हैं[1] आवश्यकता है अन्तस् में शांत भाव रखकर दु:खों से शूर सदृश लड़कर सुख-स्वप्नों से जागने की[2]। अपने विविध ज्ञान-विज्ञान के नाश से हतप्रभ युधिष्ठिर को भीष्म यही समझाते हैं --

> 'सुख हो वा' दु:ख' तो शून्य है पर मेरा कहना ।
> तुम सुख और दु:ख दोनों से ऊपर उठकर रहना ।।

आशा की [illegible] हमारी संस्कृति में निराशा के लिए कोई स्थान नहीं है । यहाँ पर मृत्यु को भी सहज रूप में लिया जाता है तथा इस बात पर आश्चर्य प्रकट किया जाता है कि जो निश्चित है, उसके प्रति भय कैसा[3]?

> नव जीवन तुल्य मरण को भी
> बढ़ यथा समय में लेते हैं,
> विधु का वार्ता-वह जान उसे
> आतिथ्य मान सब देते हैं ।

यहां पर उत्साह का ही नाम जीवन है, निराश तो जीवित ही मरा है[4]। मृत्यु भी हमारे उत्साह को भय में नहीं बदल सकती, क्योंकि मरने का अर्थ नये जीवन की तैयारी है[5]। इसी कारण यहां आत्मघात जैसी ह्रासशील प्रवृत्ति को सदैव पापवत् ग्रहण किया गया है । सुभद्रा अभिमन्यु के शोक से पागल होकर मरना चाहती है । कृष्ण उसे समझाते हैं --' निम्न गति होती है बहन आत्मघात से ।' [illegible] मरा नहीं अपितु अपनी कीर्ति द्वारा मर कर भी अमर हो गया है ।

१- जयभारत, पृ० १५७

२- जयभारत, पृ० ४२६

३- तु०की०   'जिन्दगी ज़िन्दादिली का नाम है
           मुर्दा दिल क्या ख़ाक जिया करते हैं ।

४- 'नित्य प्रति बहुजन मरते हैं ।
   तदपि मृत्यु से हम डरते हैं ।।
   इससे अधिक कौन विस्मय है ।
   जो निश्चित है उससे भय है ।। -- जयभारत, पृ० २२४

५- जयभारत, पृ० २००

निरन्तर बहती धारा के समान यह जगत् प्रवाहशील है । युधिष्ठिर इस संसार को छोड़कर स्वर्ग के लिए आरोहण करते समय मानवता की निरन्तर उत्कर्षमयी प्रगति गति में आस्था प्रकट करते हैं । अपने अनिश्चित अस्तित्व की सार्थकता कुछ नूतन समृद्धि देकर जाने में है । नयी पीढ़ी के प्रति 'तिस्पर्द्धा' के भाव की नहीं अपितु इस भाव की अपेक्षा है कि वे अपनी सृजनात्मक क्षमता में हमें भी पराभूत कर दें । यह भारतीय संस्कृति की असाधारण विशेषता है कि यहां पिता पुत्र से, गुरु शिष्य से तथा पुरातन नवीन से पराजित होने की कामना करता है । पुरातन और नयी पीढ़ी के अनेक द्वन्द्वों का समाहार इस भावना के जन्म के साथ हो जाता है । गुप्त जी इसी अर्थ में कहते थे --' जो पीछे आ रहे हैं उन्हीं का मैं आगे का जय जय कार' --

हम नहीं कर सके जो साधन
वह सिद्ध करे अगली पीढ़ी ।
बढ़ता चल तू इस भांति सदा
चढ़ता रह नित्य नयी सीढ़ी ।।[1]

परन्तु हमें यह स्वीकार करने में संकोच करने की आवश्यकता नहीं है कि नये और पुराने के द्वन्द्व ने अपने उग्र स्वरूप में भारत की सृजनात्मक-क्षमता को अनेक बार अवरुद्ध किया है । प्रह्लाद की मौलिक चिन्तना उनके पिता को क्रुद्ध कर देती है, नचिकेता शाप का भाजन बनता है और रामचरितमानस में प्रश्नाकुल 'शिष्य' को ऋषि-मुनि 'कौआ' बना देते हैं । यहाँ प्राय: नया विचारक और आन्दोलन उपेक्षा और दमन का शिकार बना है । गुप्त जी आदर्शवादी कलाकार हैं । उन्होंने पुरातन और नवीन को ऐतिहासिक विकास की शृंखला के रूप में परिकल्पित कर पुरातन नवीन के द्वन्द्व का परिहार करने की चेष्टा की है । पर उन्नीसवीं शताब्दी के सामाजिक धार्मिक आन्दोलनों के नेताओं को अपनी नवीन स्थापनाओं को लेकर विपुल विद्रोह का सामना करना पड़ा ।

वसुन्धरा वीर विहीन नहीं है, कभी वदाय जननी है । एक हाट के उठने पर जैसे दूसरी लगती है वैसे ही संसार क्रम चल रहा है[1] । इसकी नश्वरता से डर कर

१- [illegible], पृ० ३२१

हमें इससे पलायन की आवश्यकता नहीं है । इस भूमि की मधुर-रूप-गंध के देवता भी अभिलाषी हैं । धरती के दुर्निवार आकर्षण में बँधकर मोक्ष भी न चाहने वाले महापुरुष हुए हैं[1] । जीव मात्र को अपना जन्म स्थान प्यारा होता है --

ऊंचे रहे स्वर्ग, नीचे भूमि को क्या टोटा है ?
मस्तक से हृदय क्या कभी कुछ छोटा है ?

जन्मभूमि स्वर्ग से अधिक महनीय होती है । स्वर्ग में सदेह सुखोपभोग करने वाला वीर अर्जुन स्वर्ग के आकर्षण को धरती के सामने हेय मानते हैं ।

पर मैं पृथिवीपुत्र, अन्त में जाती है गति मेरी ।
जहां साधना है इस तनु की रहे वहीं रति मेरी ।।

संस्कार, प्रारब्ध, भाग्य और कर्मों के अनुसार फल प्राप्ति की परम्परागत अवधारणा[2] में विश्वास करते हुए भी कवि ने पौरुष और कर्मठता पर बल दिया है --

जो हो सो हो, करो स्वयं तुम निर्णय निज कर्तव्य ।
भोगो भद्र, यथोचित भव में मिले जहां जो भव्य ।।
पावें सब निज कर्मों के फल तुम यों न रहो उदास ।
छिपे न बाहर के विषयों में भीतर का विश्वास ।।

मानवीय पौरुष को इतर सम्बल की आवश्यकता नहीं --

छोड़कर आश्रय आवश्यक बल का--
देखा जाय क्यों न परिणाम सीधे बल का ?
वीर की ही वसुधा है, वीरव्रत पालें हम
हाथ हैं तो कर्म की भी रेख मेटे डालें हम ।

उपनिषद् में कहा गया है कि इस धरती में मानवीय आवश्यकता की पूर्ति के समस्त पदार्थ विकीर्ण हैं । पौरुष और कर्मठता द्वारा ही उनका उपयोग सम्भव है ।

१- स्वर्ग से पतन, किन्तु मेदिनी की गोद में ।
और जिस जीव में जो, वो उसी में मोद में ।।-- जयभारत,पृ० १३

२- होता है परिणाम कहीं भी बुरे काम का भला नहीं ।-- जयभारत,पृ० २०३
एवं
जिसके जैसे कर्म, प्राप्त वह गति वैसी ।। -- जयभारत,पृ० ३२६

धनद के क्रीड़ा सरोवर से भीम फूल तोड़ते हैं, क्योंकि --

गति जहाँ जिसकी, वहीं है भाग उसका,
प्राप्य है जो, मैं करूं क्यों त्याग उसका ?

परतन्त्रता के लम्बे काल में हमारी मूल्य[illegible] दृष्टि खो गई --पुरातन का अंधत्याग या पुरातन का अंधानुकरण-- इन दो आत्यन्तिक प्रवृत्तियों ने भारतीय मेधा को कुंठित कर दिया । इस संदर्भ में गीता के पुनराख्यान की आवश्यकता कर्मयोगी तिलक ने महसूस की । जयभारत में अनेक स्थलों पर गीता में उल्लिखित सिद्धान्तों की आवृत्ति पायी जाती है । गीता दर्शन का नहीं जीवन-दर्शन का संदर्भ ग्रन्थ है । नहुष कर्म में आस्थावान् है--"फल से क्या, उत्सुक मैं कुछ कर जाने को ।" अकर्मण्यता का निषेध करते हुए कर्मवाद का प्रतिपादन है" ईश्वर ने जीव से यही कहा कि तू कभी निश्चिन्त होकर मत बैठ रहना[1] । "स्वधर्मानुसार गृहीत कर्म करने में भी गौरव है क्योंकि पर धर्म भयावह है[2] । क्षत्रिय का धर्म समर में अपना जौहर दिखलाना है, क्योंकि उसकी समर में हुई मृत्यु भी उसे अमरत्व प्रदान करती है[3] । युधिष्ठिर यों स्पष्ट शब्दों में कहते हैं --

जीवन, यशस, सम्मान, धन, सन्तान, सुख सब कर्म के ।
[illegible] का परन्तु शतांश भी लगते नहीं निज कर्म के ।।

क्योंकि कर्म ही योग, कर्मठता ही संकल्पों को पूर्ण करती है । इसी अर्थ में "ध्यान योग" से "कर्मयोग" और "चिन्तन" से "संघर्ष" श्रेष्ठ है ।

विश्वात्मा में स्वयं को विलय कर देने पर कर्मयोग जनित पाप और पुण्य की सीमायें नष्ट हो जाती हैं । समस्त पापों से मुक्ति पाने के लिए सब धर्मों का परित्याग कर "एक" की शरण में जाने की आवश्यकता है[4] । कोई भी कर्म स्वयं में पाप या पुण्य नहीं होता । सन्दर्भ और उद्देश्य ही उसका निर्णय करते हैं । एक सिद्ध

१- जयभारत, पृ०१०

२- त्रिगुण सा भी स्वधर्म वरणीय ।
मुझे वो महत् कर्म करणीय ।।
कर्म का ही तुझको अधिकार ।
न कर तू फल का सोच-विचार ।। -- जयभारत, पृ०३५२

३- जयभारत, पृ० २०४

४- जयभारत, पृ० ३४८

के दो पहलुओं के समान पाप और पुण्य, स्वर्ग और नरक अनिवार्य आवश्यकतावश संघटित हैं --

प्रत्येक स्वर्ग के साथ नरक
क्या आवश्यक अनिवार्य ।
ये उभय परस्पर पूरक हैं
अथवा दूरक, यह कौन कहे ।।

पाप को स्वीकार करना पुण्य की सम्भावना का जन्म है --" पाप के पराजय में पाप भी है पुण्य ही ।" एवं " पाप जो हुआ है उसे मानना ही चाहिए ।"

वैयक्तिक अहं का विसर्जन इसी महत् पीठिका पर सम्भव है । ऐसी स्थिति में व्यष्टि और समष्टि के द्वन्द्व का समाहार हो जाता है । परात्पर भाव समाप्त हो जाने पर 'दुर्गति हो मेरी भले , सब की सुगति हो' का भाव जन्म होता है --

कोई क्यों मुझसा दु:ख सहो
सब सुखी रहो, सब सुखी रहो ।

वैर वैर को जन्म देता है । परस्पर प्रेम और सौहार्द की भावना में ही व्यक्ति का विकास सम्भव है क्योंकि व्यष्टि समष्टि से पृथक् नहीं है, वह उसी का एक अंग मात्र है । समाज में सुव्यवस्था और सुरक्षा के बिना व्यक्ति के विकास की परिकल्पना ही नहीं की जा सकती[१] । यह सामन्जस्य की स्थिति सदैव रहती हो यह अनिवार्य नहीं है । कभी कभी रूढ़ नियमों और परम्पराओं के बीच समाज व्यक्ति की गति अवरुद्ध कर लेता है । वैदिककाल की पूज्य शिक्षित नारी सामन्तीय संस्कृति में पिस कर रह गई । समाज सत्ताधारी पुरुषों ने उसके जीवन और मरण को खिलवाड़ के ढंग से ग्रहण किया गया । विक्षुब्ध सखी के शब्दों में --

सत्ता हाँ समाज की है, वह जो करे,करे,
एक अबला का क्या, जिये,जिये मरे,मरे ।

गुप्त जी ने 'समष्टि के लिए व्यष्टि का बलिदान' का आदर्श प्रस्तुत करने के साथ-साथ उन [illegible] का भी वर्णन किया है जहां व्यष्टि को अपनी स्थिति-रक्षा के लिए समष्टि से लोहा लेना होता है ।

गुप्त जी ने छिन्न-भिन्न राष्ट्रीयता को एकसूत्र में आबद्ध करने की भावना से भारत-भूमि का बखान करते हुए उसकी समस्त संतानों में निहित एकता को बताया ।

१- [illegible] ।
[illegible] ।।--जयभारत,पृ०[illegible]

गांधी जी के अनुयायी गुप्त जी ने `स्वर्ग का पुनर्निर्माण` करते हुए `जन्मभूमि की स्वर्ग से महत् गरिमा` को राष्ट्रीयता तथा मानवता के नाते अपने काव्य `जयभारत` में स्थान दिया है । जन्मभूमि से ममत्व की प्रधान शर्त है । `जीव मात्र को ही निज जन्मस्थान प्यारा होता है`। फिर पृथिवीपुत्र में तो इतनी सामर्थ्य और गरिमा होती है कि वह कह सके कि मस्तिष्क से हृदय छोटा नहीं होता, स्वर्ग कितनी भी ऊंचा रहे पर नीचे भूमि पर कुछ टोटा नहीं है[1] । कृष्ण `भारत को भव का भी भव`[2] कहते हैं तो दूसरी ओर स्वर्ग शिखरों पर आरोहण करने वाली द्रौपदी की जन्मभूमि में गहरी आसक्ति है --

फिर भी पुण्य भूमि मेरी
मेरे स्मृतितंतु न तोड़ेगी ।
यह कौन कहे, रोकर जाकर
कब कहां मुझे यह छोड़ेगी ।।

यह काव्य `भारत` की जयगाथा न कि `जनार्दन` को । `जयभारत` समास द्वारा कवि ने यह स्पष्ट कर दिया है कि उसका लक्ष्य है ऐतिहासिक अर्थात् महाभारतीय काव्य की दृष्टि ।...." स्पष्टत: कवि ने धार्मिक काव्य की रचना नहीं की, जीवन काव्य की रचना को अपना काव्योद्देश्य बनाया[3] ।` इस जीवन-काव्य में लोक संस्कृति का संस्पर्श देते हुए भारतीय संस्कृति के परम्परागत आदर्शों को वाणी दी गयी है । राजन्य संस्कृति के बीच भी कवि छप्पर में रहने वाले भारतीयता के वास्तविक प्रतिनिधि किसान को महत्व देता है —

छप्पर में गोधन सम्भाल कर वृद्ध कृषक भी गाया—
`आजा घटा, पूर घट सबके, छाजा मेरी छाया ।`

गुप्त जी के संस्कार ठेठ भारतीय आस्तिक के नवयुग के बीच नूतनादर्शों और मान्यताओं को उन्होंने स्वीकार किया है । उनके काव्य में बंधी हुई दूब और प्रात:काल गाते हुए [illegible] आंगन में रखा हुआ बाइलौक तुलसी बिरवा भांवरे लेकर[4][5]

१— जयभारत, पृ० ३
२— जयभारत, पृ० ४०१
३— मैथिलीशरण गुप्त: व्यक्ति और काव्य—कमलाकान्त, पृ०२११
४— जयभारत, पृ० ३५८

पूर्ण होने वाला पाणिग्रहण[1] और पिंडदाता पुत्र छोड़ने का दुर्योधन का आग्रह है[2] और पूर्वजों के तपस्त्याग की स्मृति से युक्त नियम-संयम-साधना-क्षमा से युक्त तीर्थों का महत्ता इन सब का चित्रण हुआ है। गुप्त जी के महाकाव्य में मानवीय सम्बन्धों का मधुर आख्यान है तथा भारतीय शिष्टाचार का मधुर निदर्शन है। पारस्परिक वार्तालाप में तात,आर्य, आर्यो, देवि, आर्यपुत्र,अम्ब, देव आदि का व्यवहार विनीत आचरण का परिचायक है। युधिष्ठिर युद्ध में संलग्न होने से पूर्व गुरुजनों का आशीष लेने के लिए जाते हैं तो प्रतिपक्षी होने पर भी द्रोणाचार्य ने

जयी हो वत्स बनूं मैं जेय
प्रथम ही हीन भावना जीत
उठे तुम ऊंचे, बढ़ो विनीत।

कहा क्योंकि हमारे यहां पुत्र और शिष्य से पराजय की कामना की जाती है।

शरणागतवत्सलता और अतिथि सत्कार-भारतीय संस्कृति की प्रमुख विशेषता रही है। दुर्वासा का समुचित आतिथ्य कर सकने में असमर्थ द्रौपदी को गृहस्थ धर्म के ह्रास की चिन्ता है, शाप का भय नहीं है[3]। गृहस्थ का घर हर समय अतिथि के लिए खुला रहता है -- अतिथियज्ञ की यहां चरम महिमा रही है। कुन्ती का आगमन सुनकर विप्र पत्नी प्रसन्नमना हो कहती है --

"आओ, अहा! हम सब विशेष सनाथ हैं।" चित्ररथ द्वारा कौरव मंत्री भेज कर पाण्डवों से रक्षा की याचना करते हैं। पुराने अपमान के प्रतिशोध के कारण जब भीम उनके अपकर्ष से प्रसन्न होते हैं तो युधिष्ठिर समझाते हैं —

भीम शरणागत का अपमान
कहां है आज तुम्हारा ज्ञान ?

१- [illegible],पृ० ८३
२- जयभारत, पृ०३६१
३- जयभारत,पृ० २१६

व्यास,बुद्ध और गांधी से प्रभावित गुप्त जी ने सत्यनिष्ठा,शील साधना आदि मानवीय मूल्यों को 'जयभारत' में प्रतिष्ठित किया है म नवतावाद का आदर्श लेकर कवि ने भोग-त्याग,सत-असत,प्रवृत्ति-निवृत्ति,धर्म-कर्म,युद्ध और शान्ति आदि जीवन की विविध द्वन्द्व मूलक स्थितियों पर 'जयभारत' में विचार किया है । 'साकेत' यशोधरा आदि रचनाओं में पारिवारिक जीवन की झाँकी सजाने वाले कवि की दृष्टि व्यष्टि-समष्टि, युद्ध और शान्ति जैसे महान् प्रश्नों के बीच विकसित होकर [illegible] जीवनदर्शन बन गई है । गुप्त जी की प्रारम्भिक रचनाओं में कोरा उपदेश ही प्रधान है, उत्कर्षकाल में उपेक्षित चरित्रादर्श की दृष्टि मुख्य है तो प्रौढ़ोत्तरकालीन रचनाओं यथा 'जयभारत' में जीवन दर्शन की अभिव्यक्ति सर्वप्रधान हो उठी है । दैवत्व सापेक्ष [illegible] की स्थापना, मातृभूमि की सर्वाधिक महत्ता, राक्षसों का मानवीय चित्रण पतित मानवों का चारित्रिक उत्कर्ष,करुणा की अन्तर्धारा से दलित और [illegible] यथा नारी और शूद्रों की गौरव व्यंजना, वर्तमान में आस्था आदि के द्वारा गुप्त जी ने युधिष्ठिर की मानवता के जीवनादर्श का जयजयकार किया है ।

नैतिक बोध

महाभारत सम्पूर्ण भारत की आचार संहिता के रूप में समादृत है क्योंकि इसमें राजाओं,योगियों,योद्धाओं से लेकर सामान्य व्यक्तियों तक के आचार-विचार के रूप पाये जाते हैं[१] । ऐसे महाग्रन्थ की मूल कथावस्तु लेकर चलने वाले 'जयभारत' में

१- The impetus of common Dharma or moral code, which governed the conducts of kings, priest warriors and ordinary people high and low and provided a common set of rituals and sacraments, together with common traditions of heroism righteousness and compassion, brought about the fusion of utter-Daksina and slowly built up the fundamental moral unity of Indian Civilization -
The Culture and Art of India. Page 66.
by Radhakamal Mukerji

नैतिकता के प्रति गहरी और यथार्थ दृष्टि पायी जाती है । विधियां और निषेध हमारे जीवन को मर्यादित करते हैं, परन्तु आवश्यकता है समय के अनुसार उनका अर्थ विस्तार करने की --

विधियाँ हैं विधेय, यद्यपि वे समय समय के अर्थ हैं
नव नव मार्ग दिखाते चलते हमको सूत्र समर्थ हैं ।

नव मार्ग दिखाने में 'समर्थ सूत्रों' के रहते समाज जड़ता के बीच प्रगति को अवरुद्ध न कर निरन्तर लक्ष्य प्राप्ति की ओर अग्रसर होता है । जीवन की गतिमयता में नाना ग्लानियां, अवरुद्ध शृंखलाएं बह जाती हैं[१] । रूढ़ व्यक्ति से तो सांप ही भला जो कंचुक छोड़ता है[२] । जड़ होकर प्रगति में बाधक नहीं बनता है अपितु गढ़ी हुई विधियों के जड़ ठहराव से आगे जाना है --

बस क्या यही है, बस बैठ 'विधियां' गढ़ो ।
अम्ब से कहो न करे कुछ तो बढ़ो, कुछ तो बढ़ो ।

'महाभारत' को आधार बनाकर चलने वाले इस महाकाव्य में नीतियों और आचारवादों का ही यशोगान हो, ऐसी बात नहीं है । इसमें उस मानव का गहरी रेखाओं से अंकन है जो ऊँचे कुल में जन्म लेकर भी जिसके आचार गिर रहे हैं, जिसे विद्या और कलाएँ शिक्षित सभ्य बनाती हैं नयी योजनाएं रचकर नयी युक्तियाँ बनाती हैं --

सरल प्रकृति से सरल पुरुष का संग कहाँ कब छोड़ा ।
हन्त दुष्ट जिसा कब नाकर भी न करे तो थोड़ा ।।

१— (पिछले पृष्ठ का [illegible])

विशाल हृदय मानव में ही क्षमा की असीम शक्ति होती है । अपराध करना बहुसुलभ है पर क्षमा अत्यन्त मूल्यवान् है । कायरता और शक्तिहीनता को क्षमा के आवरण में छिपा लेने की भर्त्सना की गयी है --

दण्डपाणि समर्थ का अपराध कैसा तात ।

और भिक्षुक की क्षमा तो है हँसी की बात ।।

रामायण में दया,करुणा, भावुकता,संयम के जिस आदर्श की स्थापना की गई थी वह महाभारत के यथार्थ में दर्प,तेज,उग्रता, औद्धत्य में बदल जाता है । पश्चिमी विकासवादी दृष्टि के अनुसार मानव की पाशविक प्रवृत्ति का निरन्तर संस्कार होता है तो हमारे यहां सतयुग से कलियुग तक निरन्तर पाशविकता बढ़ती है । राम का करुणामय शील कैकयी की प्रतिहिंसा को शांत कर देता है परन्तु महाभारत के शीलस्वामी युधिष्ठिर दुर्योधन के वैमनस्य को क्षमा से शमित कर पाने में असमर्थ रहते हैं । जैसे जैसे सभ्यता के विकास में मानव आगे बढ़ता गया सम्बन्धों की जटिलता, वैयक्तिक-परिधि से आत्यन्तिक लगाव आदि ने "आदर्श" को "यथार्थ" में बदल दिया। जिस राज्य को राम और भरत में से कोई ग्रहण नहीं करना चाहता उसी को लेकर सुई मात्र भूमि बिना युद्ध के न देने वाला दुर्योधन "महाभारत" रचाता है । कृष्ण जैसे गम्भीर तत्वदर्शी ने जहां एक ओर शान्तिसंदेश दिया, वहीं भीष्म, द्रोण और दुर्योधन के वध में "शठे शाठ्यं समाचरेत" की नीति को आधार मानते हुए क्षमा के स्थान पर दण्ड के लिए पाण्डव-पक्ष को प्रेरित किया । सदैव क्षमा करना या क्रोध करना श्रेयस्कर नहीं होता है[1], जिसके उदाहरण कृष्ण-चरित्र में मिलते हैं किन्तु न तो व्यास ने और न ही गुप्त जी ने उन तत्वों का उल्लेख किया है जब जिनके सहारे हम यह पहचान सकें कि कहां पर अक्षमा, क्रोध दुराचरण है और कहाँ पर क्षमा [illegible] ।

~~दण्डपाणि समर्थ का अपराध कैसा तात ।~~

~~और भिक्षुक की क्षमा तो है हँसी की बात ।।~~

१- न श्रेय: सततं [illegible] न नित्यं श्रेयसी क्षमा

तस्मान्नित्यं क्षमा तात पंडितैरपवादिता

-- महाभारत व वनपर्व [illegible] २८

प्रतिहिंसा की तीव्रगति को शान्त करने का उपाय प्रतिहिंसा ही है। उस स्थिति में "विष खाकर ही विष शान्त होता है और अन्त में अमृत बन जाता है"[1]। "शांति संदेश" में कहा गया है कि क्षमा की एक सीमा होती है, अन्त में वह प्रतिहिंसा का बीज बोती है। पाण्डवों को यदि कौरवों पर अप्रीति नहीं है तो इसका कारण अशक्ति है[2] और प्रीति नहीं है। सामर्थ्यवान् की क्षमा ही मूल्य रखती है।

"मैं पीछे हूँ किन्तु कार्य सदा है आगे मेरा" मानने वाले कर्मठ के मार्ग को बाधाएं रोक नहीं सकती। निरन्तर प्रतिहिंसा और प्रतिघात के कारण व्यक्ति या तो प्रतिक्रियास्वरूप पूर्ण निष्क्रिय हो जाता है या सब कुछ दाँव पर लगाकर प्राप्त कर लेता है। अश्वत्थामा दूसरी श्रेणी में आता है जो स्पष्ट शब्दों में कहता है --

साधन कैसे हों, किन्तु सिद्ध हो आज साध्य ही मेरा।
यह दुर्दिन की निशि, किन्तु मुझे है रहा प्रकाश अंधेरा।।

संसार में सदैव [illegible] से काम नहीं चलता -- आर्ष नियमों का निरन्तर पालन नहीं किया जा सकता। द्विज का वध [illegible]हत्या के पाप के बराबर माना गया है परन्तु इस सम्मान को सुविधा मान कर अत्याचार करने वाले को अवध्य नहीं कहना होगा --

द्विज-सुत जो हो तुम, गुरु हो अवश्य ही
किन्तु वध-योग्य वह जो भी आततायी हो।

ऐसी स्थिति में दण्ड और हिंसा भी [illegible] है --

नहीं हिंसा दुष्टों की शास्ति
अन्यथा न्याय नीति की [illegible]

\+ + + +

[illegible] क्षमा है दण्ड में ही [illegible]हिंसा की।
[illegible] पर [illegible]ताधियों की [illegible]।।

1- जयभारत, पृ० [illegible]
2- जयभारत, पृ० [illegible]

क्षमा धर्म का मूल है और अहं के पराभव की द्योतक है । समर प्रांगण में भीरु अर्जुन की [illegible] और व्यामोह को कृष्ण औदार्य का लक्षण स्वीकार नहीं करते और उसे क्षुद्र हृदय की दुर्बलता का त्याग कर क्षात्रिय धर्म का पालन करने को कहते हैं —

कहां औदार्य, और यह दैन्य ।
प्रथम ही चढ़ धुक पर सैन्य ।।
क्या बन आयी दुर्बलता ।
आप तू अपने से लड़ता ।।

'केशों की कथा' सुनाती हुई द्रौपदी धर्मराज युधिष्ठिर के क्षमा और आदर्शवाद के आगे नाना प्रश्नचिह्न लगाती है। द्रौपदी ही संधि के प्रस्ताव से प्रसन्न नहीं होती । स्वातंत्र्य संग्राम में उग्रवादी दल के सदस्य अंग्रेजों को प्रत्यक्ष दण्ड देने के लिए [illegible] अडयंत्र रचने में विश्वास करते थे । यदि दुष्ट को उसकी दुष्टता का प्रतिफल क्षमा है तो फिर सत्पथ पर चलते हुए नाना कष्टों को सहने की जरूरत ही क्या रह जाएगी । रावण और दुर्योधन का प्रत्यक्ष पराभव देखकर राम और युधिष्ठिर वत् आचरण करने की प्रेरणा मिलती है । इसी कारण प्राचीन भारतीय साहित्य में सर्वत्र असत् पर सत् की विजय दिखलायी गयी है । रामायण में जहां [illegible] में असत् पक्ष कोरा असत् है सत् केवल सत् है वहां महाभारत में दोनों पक्षों में दोनों वृत्तियों का मिश्रण है अन्तर केवल अनुपात का है । नाना अत्याचारों को करने वाला दुर्योधन अपने पूरे समुदाय सहित यदि कुरुक्षेत्र में मृत्यु को प्राप्त होता है तो "[illegible] नरो वा कुंजरो" के पाप का प्रतिफल युधिष्ठिर इस लोक में ग्लानि सहकर तथा परलोक में नरक दर्शन में भोगते हैं । पापी को यदि प्रकट रूप से उसके पाप का दण्ड न दिया जाए तो सज्जनों को कष्ट सहन कर पुण्यपथ से जाने की जरूरत ही क्या ? दुष्टों की प्रवृत्ति ऐसी स्थिति में बढ़ती होती जाएगी । संधि के प्रस्ताव से द्रौपदी विक्षुब्ध हो जाती है —

क्या दस्युओं पर क्या मात्र ही दिखलाई गई
दौर्बल्य का [illegible] रूप [illegible] सिखलाई गई ।

जहाँ तक है, आपस की बात ।
वहाँ तक वे सौ हैं हम पांच ।।
किन्तु यदि करे दूसरा जांच ।
गिने तो हम हैं एक सौ पांच ।।

मानवीयता का सर्वप्रमुख आग्रह हम युधिष्ठिर के चरित्र में पाते हैं, उन्हें दुर्योधन पर क्रोध नहीं खेद है, क्योंकि उसमें हिताहित का भेद करने वाली शक्ति का ह्रास हो गया है[1]।

निष्ठा और साधना ही मानवता के परिचायक हैं । निष्ठा, लगन और साधना के द्वारा ही मानव धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष — इन चारों पुरुषार्थों को प्राप्त करता है । तिरस्कृत एकलव्य अपनी सच्ची निष्ठा और आस्था से जड़ प्रतिमा में भी चेतन की स्थापना कर सिद्धि पा लेता है[2]। स्वर्ग, ऐश्वर्य और ईश्वर की अनोखी माया से परे पार्थ कहते हैं—

'पर मैं पृथिवी पुत्र, अन्त में जाती है गति मेरी
जहाँ साधना है इस तनु की रहे वहीं रति मेरी

इस प्रकार हम देखते हैं कि धर्म की आड़ में पलने वाली नैतिकता को समाज के विस्तृत दायरे में लाकर कवि ने क्षमा, दया, करुणा, अहिंसा आदि सनातन कहे जाने वाले मानवीय मूल्यों को परख कर नई दृष्टि देते हुए आपद्धर्म को स्वीकृति प्रदान की है —'रक्षा के ही लिए बना जो, आपद्धर्म सुधन्य है । रूढ़ि और परम्परा की दीवारों में बन्दी, धर्म के विकास में बंधी सीमाओं को भारतीय संस्कृति के [illegible] कवि ने नवीन-निर्माण के लिए [illegible] किया ।

राजनैतिक आर्थिक स्पन्दन

'जयभारत' महाकाव्य में दुर्योधन के कुशासन से प्रारम्भ और युधिष्ठिर के सुशासन में समाहार द्वारा गुप्त जी ने राज्यव्यवस्था के कलुष और उज्ज्वल दोनों पक्षों को सामने रखा है । 'द्यूत', 'वकसंहार' और 'सैरन्ध्री' सर्गों में प्रकारान्तर से अनियंत्रित राजतंत्र की कटु आलोचना की गई है जिसमें अन्याय, अत्याचार और शोषण राजा के इंगित पर पलते हैं । भरी सभा में एकवस्त्रावस्था में खींच लाने वाले अन्यायी का प्रतिकार न करने वाले शासन को द्रौपदी 'अंधराज्य' कह कर पुकारती है । वह वस्तुतः 'पाप सभा' और अंधराज्य ही है जिसमें धर्म, नीति के अनुसार सुझाव देने वाले गुरुजन भरी विद्वत्सभा भी आंख मूंद कर बैठ जाएं

१– जयभारत, पृ०१८८
२– जयभारत, पृ० ४४
३– मुझे एकवस्त्रावस्था में खींच लाया यह चेर
अंधराज्य में क्या कोई भी नहीं देखता यह अंधेर ?
पाप सभा में यह कुल , भी बैठे हैं निश्चल [illegible],
नेत्र [illegible] नहीं कहीं भी [illegible] विशाल ।
— जयभारत, पृ० १३६

दीपक के तले ही जहां अंधियारा होता है, राजगृह में ही अत्याचारों को आश्रय दिया जाए, कुलवधुओं की लज्जा रख पाना जहां कठिन हो जाए ऐसे राजा को प्रजारंजक कैसे कहा जा सकता है ? अधिकारी वर्ग के अनियंत्रित अत्याचारी होने पर मर्यादा और धर्म टूट जाते हैं। गुप्त जी का राजतंत्र पोषकमर्यादावादी व्यक्तित्व राजा को ईश्वरत्व का पद देकर उसके अन्यायों का आंख मूंद कर समर्थन करने वाला नहीं है। कीचक का अन्याय सदा देखकर भी न्यायासन पर मौन बैठे रहने वाले न्यायी राजा की राजनीति का मर्म पूछती हुई सैरन्ध्री कहती है --

तुममें यदि सामर्थ्य नहीं है अब शासन का
तो करते नहीं त्याग तुम राजासन का ?
करने में यदि दमन दुर्जनों का डरते हो,
तो फिर क्यों राजदण्ड दूषित करते हो ?

द्रौपदी के प्रखर व्यक्तित्व के माध्यम से कवि ने राजतंत्र के अत्याचारों की आलोचना की है। यदु भी राजा ययाति की भर्त्सना करता हुआ कहता है कि 'ऐसा नृप तो विद्रोह करने योग्य।' वक राक्षस को बलि के लिए नित्य एक व्यक्ति को भेजने वाले राजा की कुंती ने कटु आलोचना की है कि पाप के प्रतिरूप उस राजा को वक-बलि के लिए बारी क्यों नहीं आती ? आवश्यकता है या तो राजा उस राक्षस का वध करे या बलि में भाग दे। न्याय के लिए भीरु प्रजा को लड़ने के लिए प्रस्तुत रहना चाहिए --

यह राज्य हा ! असहाय है
मरता न करता हाय है
मुझसे कहो राजा यहां का कौन है ?
कुछ यत्न वह करता नहीं
कर्तव्य से डरता नहीं
मरती प्रजा है और रहता मौन है ?

राजतंत्र की सीमा प्रस्तुत करने वाले कवि ने प्रजातंत्रीय प्रणाली पर भी विचार किया है। 'राजा और प्रजा' में कवि स्वतंत्र रूप से इन दोनों राज-व्यवस्थाओं के गुण-दोषों का विवेचन कर चुका है। जनता में अधिकारों के प्रति जागरूक चेतना [illegible] न होने पर सर्वजनताधिकार और मतसंग्रह द्वारा निर्णय

बहुधा कोरा अंधानुकरण ही रह जाता है। बहुधा प्रचार के बल पर गुण कार्यों को अवहेलना होती है, "नाम" ही जीत जाता है -- "या बन जाते हैं हीन चरित्र ही मत संग्रह में साध्य है। ऐसे बहुमत से विजयी भी जनसाधारण में उचितानुचित विवेक नहीं है[1] -- यह कहकर अपना स्वार्थ सिद्ध करते हैं। इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं होना चाहिए कि गुप्त जी परम्परापालन के नाम पर प्रजातंत्रीय विधान की सीमाएं प्रस्तुत कर रहे हैं। लास्की ने भी जनता की असामर्थ्य और स्वार्थपरता का उल्लेख किया है -- "आधुनिक समाज की समीक्षा से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि ऐसे लोगों की संख्या बहुत बड़ी है जिनमें राज्य की समझ का अभाव होता है। वे बड़ी धृष्टता से निजी हित के संकुचित दायरे में आबद्ध रहते हैं।.... सामाजिक संघर्ष को वह एक ऐसा नाटक समझते हैं जिसमें उनकी अपनी कोई भूमिका नहीं। उनको न तो नेताओं में दिलचस्पी होती है, न दृश्यों में। ये तो सिर्फ यह चाहते हैं कि राजकीय हस्तक्षेप के कारण उनके निजी मामलों में किसी प्रकार के बाधा-बन्धन न पैदा हो जायें।"[2]

गुप्त जी राजतंत्र के प्रजातंत्रीकरण में आस्थावान हैं। वे "परम्परागत" राजतंत्र की उस प्रजातांत्रिक व्यवस्था में विश्वास करते हैं जहां प्रजा होने के नाते भीष्म धीवर की कन्या का अपहरण नहीं करते, तथा युयुत्सु स्वेद बहाने वाले श्रमिकों के प्रति सहृदय हैं। "प्रजा राज्य के राजा प्रजा के ही बल से -- वस्तुत: श्लाघ्य स्थिति है परन्तु इसके लिए आवश्यकता है नृप के नियमित रहने की, तभी प्रजा नियमित रह सकती है।[3] इसके लिए आवश्यक है कि प्रजा में एकता हो, वर्गों की साध्यां न हों। धन के असमान वितरण ने ही अमीर-गरीब, इन दो अनियमित साध्यों को जन्म दिया है। कुरुक्षेत्र में एक भूखे ब्राह्मण -परिवार की गाथा सुनकर युधिष्ठिर को व्यथा घेर लेती है --

---

१- जयभारत, पृ० ३१७

२- राजनीति के मूल तत्व (अनुदित) लास्की, पृ० २६

३- जयभारत, पृ० २५८

.... राज्य में मेरे कोई मरे न वैसे भूखा ।
यदि सब ओर जलाशय हो तो पेड़ कहीं क्यों सूखा ।।
रहें किसान अवर्षण में भी भूमि जोतते-बोते ।
फलें उच्च उद्यान देश में अति वर्षण भी होते ।।
आप दु:खी अनुभवी उन्होंने सब को सुखी बनाया ।
मन से प्रजाजनों ने उनका जयजयकार मनाया ।।

ऐसी स्थिति में ही 'अपनी सी सब को स्वतन्त्रता सदा मनाते हैं हम' को उदात्त भावना का जन्म होता है । समानता से स्वतन्त्रता पुष्ट होती है । स्वतंत्र व्यक्ति ही अधिकार - रक्षा के लिए संघर्ष करने में निर्भय रहता है[1] ।परन्तु स्वत्व हेतु हम विकल होकर कहीं हम अपने धैर्य को खोकर उच्छृंखल न हो जायें । यह ध्यान रखने योग्य है ।

राज्य में शान्ति और व्यवस्था बनाए रखने के लिए दंड-विधान आवश्यक है[2] । अर्जुन कोदण्ड को, रजोगुण का चिह्न होते हुए भी अस्त्र-लाभ के लिए की जाने वाली तपस्या में, धारण करते हैं -- 'आवश्यक यह दुष्ट दंड के अर्थ अखण्ड ।' अगर पापी इस जन्म में पाप से बच जायेंगे तो अगले जन्म तक और भी परिपुष्ट हो जावेंगे[3] । दण्ड के प्रतिशोधात्मक सिद्धान्त के साथ कवि दूर तक सहमत नहीं है । दण्ड केवल शस्त्रों से ही नहीं दिया जाता -- असली दण्ड तो वह है जिसे अपराधी का मन स्वीकार करता है । तभी अपराध की सम्भावनाएँ समाप्त हो जाती हैं । जयभारत का कवि इस मानवतावादी धारणा से का अनुयायी है --

मुख्य दंड दाता है जन का मन ही उसकी भूलों का ।
कंटकमय कर देता है वह उसका आसन फूलों का ।।

क्षमा और दण्ड के समानान्तर युद्ध और शान्ति की गहन समस्या पर कवि ने विचार किया है । युद्ध-काव्य महाभारत को आधार बनाकर कवि ने

१- जयभारत,पृ० ३०१
२- जयभारत,पृ० १०१
३- जयभारत,पृ० ३३०

युद्ध की अनिवार्यता प्रतिपादित करने वाले पक्षों पर विचार किया है । राज्य में शान्ति और सुव्यवस्था की स्थापना के लिए युद्ध की आवश्यकता है ।

कलह का एक मुख्य निर्णायक रण ही
विजय-हेतु अनिवार्य सदा प्राणों का पण ही

अन्यायी के सम्मुख आत्मसमर्पण करने से अच्छा कुन्ती स्वत्व धर्म पर प्राणों की बाजी लगा कर युद्ध करना मानती है[1] । कुरुक्षेत्र के महासंहारक युद्ध का दायित्व युधिष्ठिर पर नहीं है --

दोष नहीं मेरा , यदि है तो क्षात्रधर्म का
हम अपराधी निज धर्म पालने के हैं
वह है विगुण तो प्यारा अपराध क्या ?

प्रश्न उठता है कि न्याय के लिए लड़े जाने वाले युद्ध क्या सदैव न्यायपूर्ण होते हैं ? न्याय के नाम पर लड़े जाने वाले इन युद्धों में ही सर्वाधिक अन्याय होता है क्योंकि समर-संकुल में युद्ध बुद्धि-विवेक नहीं रह पाता है[2] । युद्ध समाप्त होने पर लगता है ' किस पर लड़े हम जाय । हम पर लड़ रहे हैं श्वान हैं[3] ।' युद्ध का परिणाम केवल विनाश है --

नोचें गृद्ध शृगाल,इसी के लिए मनुज क्या ?
रण में अनात रहे किसी के अनुज -तनुज क्या ?
यहाँ हार कर जीत, जीत पर हार मिलेगी,
जैसा है भी सत्य न अपनी हानि मिलेगी ।

पतिव्रताओं के सिन्दूर को अंगार में बदलने वाले,वृद्ध माता-पिता को असहाय बनाने वाले युद्ध की भीषणता का वर्णन 'शान्ति सन्देश' में कृष्ण करते हैं तथा उसका प्रत्यक्ष दर्शन युद्ध सर्ग में होता है । दुग्धवरा पर रुधिर धार बहाने वाले इस युद्ध के पीछे अनेक प्रत्यक्ष परोक्ष कारण छिपे हैं । पारस्परिक ईर्ष्या

1- जयभारत,पृ० ३३१

2- जयभारत,पृ० ३०१

3- जयभारत,पृ० ३०२

के कारण महाभारत हुआ । गांधारी स्वीकार करती है कि पाण्डवों पर उसकी डाह ही दुर्योधन के नाना ईर्ष्याजन्य कार्यों में प्रतिफलित हुई थी --

पाण्डु सुतों को देख मुझे भी डाह हुई थी
एक एक पर बीस बीस की चाह हुई थी ।
दुर्योधन में विकसित हुई घनीभूत वह डाह ही ।

धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र में हुआ महाभारत अनीति की गाथा का इतिहास है । 'युद्ध कहीं पाल पाता अपने नियम ही'[1] । इसमें शिखण्डी की सहायता से, अश्वत्थामा हतो नरो वा कुंजरो' के छल से, एकाकी निशस्त्र अभिमन्यु की नृशंस हत्या, निहत्थे रथ का पहिया ऊँचा करते कर्ण की हत्या आदि प्रसंग समाहित है । कर्ण के वध से पूर्व अर्जुन अभिमन्यु के प्रति कहे गए उसके वचनों (हिंस्र पशुओं के समान नर युद्ध क्यों करें जब उसके पास शस्त्र हों) -- की याद दिला कर कहता है --

आती है याद सभी को दुख संकट में धर्म की
किन्तु तूने पहले ही घात किया उसका ।

भीम की हत्यक को बलराम 'अधम' घोषित करते हैं तो भीम कहते हैं --

युद्ध योद्धाओं के साथ युद्ध के नियम हैं,
का पुरुष क्रूर यह, सभी कहीं छल का
लेते नहीं आश्रय, कुल स्त्री की कदर्थना
करते नहीं थे, इस दुष्कृत ने जैसी की
दु:शासन युक्त ....

युद्ध के प्रारम्भ में वीर रस का भाव रहता है, रौद्र मध्य में, भयानक अन्त में और उसका परिशिष्ट तो वीभत्स प्रधान होता है[2] । दोनों पक्ष अन्त में हत्यारे दीख पड़ते हैं और कृष्ण भी हाहाकार युक्त हो जाता है । महाभारत केवल कौरव पाण्डव पक्ष की लड़ाई नहीं थी अपितु पूरे देश के विनाश का तांडव नृत्य था ।

१- जयभारत, पृ० ३५२

२- जयभारत, पृ० ३८०

गुप्त जी ने महाभारत पर इस काव्य की रचना कर युद्ध और शान्ति की समस्या को हल्की सी तूलिका से छुआ भर है और उसका समाधान दिया है --

युद्ध की अशोभनता जन यदि जान लें
तो न होगा व्यर्थ यह इतना अनर्थ भी ।

जयभारत में समस्या-विस्तार तथा समाधान-- के रूप में युद्ध को उठाने वाली वैज्ञानिक दृष्टि का गुप्त जी में अभाव है । संवत् १९९९ में प्रणीत 'विश्ववेदना' में कवि महायुद्ध के प्रभाव को प्रेरणा बनाकर चला है । इस रचना में युद्ध की ~~विभीषिका~~ विभीषिका से कवि का मन करुणा और वेदनाप्लावित भगवान से प्रार्थना करता है --

कृपाकर करुणा पारावार ,
हो रहा है नीरस संसार ।
बहा दे नव रस की वह धार ,
कि धो दे जो वैषम्य-विकार ।

इस तरह 'जयभारत' का युद्ध सर्ग संवत् २००६ में 'जयभारत' से पूर्व ही प्रकाशित हो चुका था । उसी वर्ष 'पृथिवीपुत्र' का प्रकाशन हुआ जिसमें आधुनिक मानव को [illegible] आणविक शस्त्रों को लेकर विनाश लीला करने वाली उसकी आदिम पाशविक वृत्ति को धिक्कारती है और युद्ध-विनाश के नाम पर युद्ध रचाने वाले, देश कुल जाति और वर्ण भेद में बंटे व्यक्ति को 'विश्वमा[illegible]' बनने को कहती है ताकि उसकी भव की भीति प्रेम का अनुशासन बन सके --

उठ भट, ऊँचा चढ़ कर छिर सब को,
सबके छिर तू और तेरे छिर सब है ।
नाश में लगी जो बुद्धि, बिछे विकास में,
स्वर्ग नर्क में भी निज पुण्यवती होने का ।

जयभारत में इन दोनों [illegible] के समान कवि ने युद्ध और शान्ति की समस्या पर खुले मन से विचार नहीं किया है । [illegible] लेकर सम्बन्ध इस [illegible] है, युद्ध सर्ग में कवि यदि आस्था को [illegible] शान्ति की ओर मनन [illegible] का [illegible] विश्लेषण कर सकता था परन्तु ऐसा नहीं हुआ है । 'युद्ध अपने नियम नहीं पाल पाता' -- यही सारे युद्ध सर्ग का आ[illegible] है । कौरव पा[illegible] के

महाविनाशकारी युद्ध की ज्वाला कैसे सम्पूर्ण भारत देश के विनाश का मूल बनती है यह दिखला कर कवि अप्रत्यक्ष रीति से जीवन-व्यापक मूल्यों के अन्वेषण और आस्था में विश्वास प्रकट करता है । आपकी युद्ध का मूल कारण राज्यलिप्सा ही न थी । ~~आपसी-युद्ध-का-मूल-कारण-राज्यलि~~ केवल पाण्डवों द्वारा दुर्योधन को राज्य सौंप देने से यह समस्या नहीं सुलझ सकती थी क्योंकि कौरव पक्ष की जन्मजात ईर्ष्या तज्जन्य नाना अत्याचार और सर्वोपरि उस द्रौपदी का भरी सभा में घोर अपमान[१] -- आदि का प्रतिकार आवश्यक था । सीता, ध्रुवस्वामिनी, पद्मिनी आदि के शत्रुपक्ष में जाने से जैसे महायुद्ध की ज्वाला न रुकती उसी प्रकार पाण्डवों के राज्य छोड़कर वनवासी हो जाने से समस्या का सुलझाव नहीं हो सकता था । अत्याचारी की अनैतिकता पर यह समर्पण अंकुश का नहीं अपितु प्रोत्साहन का कार्य करता । अत: समष्टि की दृष्टि से भी महाभारत अनिवार्य था, यह समझाते हुए कृष्ण ग्लानि विजड़ित युधिष्ठिर को उसको कुंठा से उबारते हैं ।

> किन्तु तात, कातर क्यों तुम इस घात से ?
>
> जब तक जाती है, अंकुरित होगी ही,
>
> नित्य नए फूल-फल फूलें-फलें हो ।
>
> भावी तो प्रसूत है सदा ही [illegible] से,
> आज के प्रलय में भी क्या किसी अन्य की ?
> कल की विजय भी मैं आज ही मनाता हूं ।[2]

१- पांचाली पातिव्रत पाला कहां किसने
मेरी अब [illegible] बलि की
कल्पना का [illegible] का यह परिणाम है।
कब भी पड़े, जो न [illegible] आज से
आपकी आर्ये न हो [illegible] का ।
—[illegible]

2 तुलनीय
राम को, वसुधा की बाधा
जो युग की पीड़ा आज
और इसी [illegible] में
पाएँ सुख अपना पुरा
—[illegible], पृ० [illegible]

रामायण में भगवान राम की राक्षस-रावण पर जय होती है और महाभारत में सद्वृत्ति सम्पन्न मानव युधिष्ठिर की दुर्बुद्धि दुर्योधन पर विजय होती है। रामायण काल के बाद आदर्शवाद की शृंखलाएं निरन्तर क्षीण होती गयीं, दया, करुणा, क्षमा, औदार्य [illegible]-निरपेक्ष सत्य के रूप में परास्त हुए और `धर्मक्षेत्र` में `कुरुक्षेत्र` घटित हुआ। राम-काव्य के अनन्य गायक गुप्त जी को वर्तमान युग के बदलते हुए नैतिक बोध, [illegible] जीवन दर्शन के बीच `जयभारत` प्रणयन की आवश्यकता महसूस हुई और निरन्तर पन्द्रह वर्षों की साधना के प्रतिफल के रूपमें यह महाकाव्य सामने आया। इसकी रचनात्मक क्षमता पर आक्षेप करते हुए कुछ विद्वानों ने इसकी मौलिकता को प्रश्नातीत कहा है।[1] उनके मतानुसार यह काव्य महाभारत का पद्यीकरण मात्र है उसी रूप में जिस रूप में महाभारत का गद्यीकरण उनके काव्य-गुरु ने किया। परन्तु यदि महाभारत का पद्य-रूप प्रस्तुत करना ही कवि को अभीष्ट होता तो पूर्वलिखित रचनाओं के पुनर्लेखन, संशोधन तथा नवलेखन की आवश्यकता ही क्या थी? यह बात यह सिद्ध करती है कि निश्चित रूप से कवि के मानस में महाभारत के अनुगायन से पृथक् कुछ `विशिष्ट` रचने की योजना रही है।

भरत वंश `भारत` अर्थात् युधिष्ठिर की जयगाथा को प्रस्तुत करने वाले इस महाकाव्य की रचना-सामग्री महाभारत से लेते हुए गुप्त जी ने `युग-विवेक` की उपेक्षा नहीं की है। `जयभारत के प्रमुख पात्र युधिष्ठिर में बीसवीं शताब्दी के युगधर्म-- मानवतावाद की स्थापना हुई है।`[2] युग युगादर्श, युगधर्म और युगोचित विवेक की रक्षा करते हुए सद्धर्म की जय की प्रतिष्ठा युधिष्ठिर द्वारा कराकर `मानव` को ऊंचा उठाया गया है --

> `जय पृथिवी पुत्र, जयति भारत
> जय जय [illegible] स्वागत`
> सादर सैकों से घिर गए
> स्वयं युधिष्ठिर वे निष्ठा-नत।

1- द्रष्टव्य, मैथिलीशरण गुप्त: व्यक्ति और काव्य -- डॉ० कमलाकांत पाठक
2- मैथिलीशरण गुप्त: कवि और भारतीय संस्कृति के आख्याता, पृ० ५२
-- डा० उमाकान्त

वर्तमान बौद्धिक युग में तर्क ने अनेक दैवी, अतिप्राकृत घटनाओं में अविश्वसनीयता प्रकट की है। उन्नीसवीं शताब्दी में भारत के पश्चिम से हुए सम्पर्क ने अंधानुकरण के स्थान पर बौद्धिक पर्यवेक्षण के लिए प्रेरणा दी[1]। तर्क और बौद्धिकता को आधार मान कर चलने वाले नवशिक्षित वर्ग ने ऐतिहासिक और पौराणिक समृद्ध परम्परा को शंका की दृष्टि से देखा। गुप्त जी का नवधार्मिक व्यक्तित्व इसे स्वीकार न कर सका। पुरातन और नवीन के बीच सामंजस्य लाने के लिए, अतीत को वर्तमान के जीवन का अंग बनाते हुए उन्होंने 'जयभारत' में अतिप्राकृत घटनाओं और तथ्यों का बौद्धिक विश्लेषण प्रस्तुत किया है। राक्षसी हिडिम्बा को उनका मानववाद सहज नारी के रूप में लेकर चला है। द्रौपदी चीरहरण प्रसंग में साड़ी को बढ़ाने वाले भगवान कृष्ण को 'जयभारत' में स्थान न देने का कारण अस्वाभाविकता से रक्षा ही है। जयभारत में द्रौपदी दुःशासन की प्रतारणा करती है तो --

> सहसा दुःशासन क ने देखा अंधकार चारों ओर।
> जान पड़ा अम्बर सा वह पट जिसका कोई ओर न छोर।।
> आकर अकस्मात् भय सा उसके भीतर पैठ गया।
> कर जड़ हुए और पद कांपे, गिरता सा वह बैठ गया ।।

उसी समय गांधारी का प्रवेश पाप-सभा को सभ्यता प्रदान करता है उनका अंधीसर्पों को [illegible] दुष्टों को प्रबोध प्रदान करता है। इसी प्रकार की चक-अपमान को लेकर द्रौपदी का भरी सभा में राजा को [illegible] नारी के गौरव आत्म सम्मान तेज और स्वाभिमान की रक्षा करता है। द्रौपदी के पंच-पतित्व का भी बौद्धिक समाधान देने का प्रयास कवि ने किया है --

---

१- आधुनिक हिन्दी काव्य पर पाश्चात्य प्रभाव से उद्धृत--"यौरोपीय जीवन और संस्कृति के सम्पर्क का जो कुछ भी परिणाम हुआ हो पर उसने तीन अति आवश्यक प्रेरणाएं अवश्य दीं। प्रथम उसने हमें एक बौद्धिक और आलोचक की जैसी दृष्टि दी द्वितीय उसने हमारी नवनिर्माण की शक्ति में आवेग भर दिया और अन्त में भारतीय संस्कृति की आत्मा का [illegible] स्थापन कर उस नवीन परिस्थितियों को समझने अपनाने और अन्त में उनपर विजय पाने का अवसर दिया।"

-- [illegible] (दि [illegible] इन इंडिया)

नर पार्थ वधू है पांचाली
दो वर ज्येष्ठ का पद पावें ~~बने-देवरत्व-पर-बलि-जावें-~~+
दो देवरत्व पर बलि जावें ।
भोगों यों पांच सुख इसका
ताकें सदैव शुभ मुख इसका ।

परन्तु कवि का संस्कारी मन इससे पूर्णतः संतुष्ट न हो सका तो उसने शिव के वरदान कुन्ती की अनुमति,व्यास की व्यवस्था तथा कृष्ण के अनुमोदन का सहारा लेकर इस अंश को औचित्य प्रदान किया है ।

पौराणिक पात्रों के चरित्र में आत्मग्लानि के प्रयोग द्वारा नूतन भाव की उद्भावना की गयी है । आत्मग्लानि में तपकर 'साकेत' की कैकेयी का चरित्र निखर गया है । गुप्त जी के मतानुसार जन का मन ही उसके पापों का मुख्य दण्डदाता है जो फूलों के पथ को कंटकमय कर देता है । यह मानवतावाद की मुख्य स्थापना है कि पाप का स्वीकार ही उसका परिमार्जन है । इस दृष्टि से कवि ने कर्ण,गांधारी, धृतराष्ट्र,कुन्ती,दुःशासन, [illegible], हिडिम्बा,युयुत्सु आदि चरित्रों का पुनरोल्लेखन किया है । अपने नवजात शिशु को गंगा में प्रवाहित करने वाली , जातिकुल के आधार पर उस पर होने वाले नाना [illegible] की मूल जननी कुंती की [illegible]त्सना और आत्मग्लानि में उसका स्वरूप निखर जाता है —

देवी नहीं, न आर्या ही हूं, मैं,नागिन सी जननी हूं ।
सबसे ऊँचा पद पाकर भी स्वगौरव हननी हूं ।।

अनुजवधू कृष्णा का अपमान कर्ण को सालता है, उसे लगता है कि उसके '[illegible]' पाप का प्रायश्चित तो मृत्यु के साथ मिल गया है[1]। दुर्योधन का क्रीतदास होकर उसपर इतना भार ब ढ़ गया है जिससे वह दबा रहता है[2]। गांधारी भी स्वीकार करती है कि उसकी पाण्डवों के प्रति ईर्ष्या ने ही महाभारत को जन्म दिया । युधिष्ठिर

१– जयभारत,पृ० ४२८
२– जयभारत,पृ० ४३१

का अर्धसत्य उनके धर्मराजत्व की गहरी मीमा लेकर अर्जुन के आक्षेप (आपके निकट भी क्या राज्य बड़ा सत्य से ?) को आत्मरक्षा का उदाहरण देकर भीम टालते हैं तो युधिष्ठिर कहते हैं --

पाप जो हुआ है, उसे मानना ही चाहिए
अन्यथा असम्भव है प्रायश्चित उसका ।

[illegible] उनके दृढ़ व्यक्तित्व की कमजोरी रही है जिसे लेकर उन्हें आत्मग्लानि है लेकिन उन्हें सन्तोष है कि द्यूत में भी उन्होंने छल-छद्म को न अपना कर नियम-परिपालन ही किया --

मैं अपने में आप न नियम विरुद्ध रहा
द्यूत -अद्यूत, परन्तु स्वयं मैं शुद्ध रहा ।

`मानवतावाद` के बीच`जयभारत` के पात्र गलती करने पर खुलकर अपनी गलती स्वीकार करते हैं,घृणा करने वाला खुलकर अपनी घृणा का प्रदर्शन करता है और प्रेम करने वाला अपने प्रेम पर [illegible] करता है । पग-पग पर विपत्ति,अन्याय, छल-छद्म और परास्त करने वाले षड्यन्त्रों की वे चट्टानें हैं जिनसे टकरा कर जीवन की सद्चेष्टाएं चूर-चूर हो जाती हैं पर चेष्टा करने वाला हतोत्साही नहीं होता । प्रेम, अहिंसा और मानवता को लेकर चलने वाला जीवन-संग्रामी नाना की [illegible] के बीच विजय प्राप्त करता है । नहुष के स्वर्ग पतन से युधिष्ठिर के स्वर्गारोहण तक जीवन-यथार्थ के बीच ऐसे विकसित [illegible] और नैतिकबोध का प्रतिफलन है जो मानवोत्कर्ष-विधायक तत्वों से बना है ।

[illegible] की प्राणवत्ता,महच्चरित्र की अवतारणा,भारतीय संस्कृति के जीवन-व्यापी रूप का आलेखन करने वाले इस काव्य को `मालाकाव्य`[2] कहना असंगत है उदात्त जीवनदर्शन की अभिव्यक्ति करने वाले,नूतन परिवेश। [illegible] परिवर्तित मूल्यों में आस्थावान् , सांस्कृतिक व्याप्ति को वर्ण्य विषय बनाकर चलने वाले इस बृहत् प्रबंध संकलन का यह भारतीय संस्कृति को ~~करने वाले मक~~ प्रतिफलित करने वाले [illegible]काव्यों के बीच श्रेष्ठ स्थान है ।

१- अनुचित मुझपर द्रुपद सुता का रोष नहीं ।कर दे मेरा त्याग अनुज तो दोष नहीं
२- गुप्त जी द्वारा प्रयुक्त काव्यरूप-- डा० [illegible] शर्मा सा।हत्यसंदेश-गुप्त विशेषांक
३- मैथिलीशरण गुप्त: व्यक्ति और काव्य पृ० [illegible] डा० कमलाकांत पाठक पृ०३०५

[illegible]

-:०:-

मानवीय-चेतना नित-नूतन-अन्वेषिणी है । जिज्ञासाकुल मानव-प्रज्ञा की खोज ने ही सभ्यता-संस्कृति के विविध उपादानों का निर्माण-प्रसार किया है । कितने ही नए-नए अज्ञात घाटों पर उसने अपना नैरा बांधा है । जल बंध कर पोखर की सीमा में सड़ जाता है । इसी प्रकार संस्कृति की अबाध धारा एक सृजनोन्मुख प्रक्रिया है । जब उसके चिन्तन के आकाश पर कोहरा छा जाता है, उसमें अयाचित ठहराव आ जाता है तब रूढ़ियों और परम्पराओं के भंवरावर्तों में न जाने कितनी नावें डूब जाती हैं । भारतीय संस्कृति के इतिहास में एक ऐसा ही युग आया । मध्ययुगीन सामन्तीय संस्कृति में शाश्वत जीवन-मूल्यों को सांस लेने का अवसर न था, नूतन अंकुरों को सिर उठाने का अवकाश न था । ऐसी जड़ गतिहीन-सुषुप्ति को उच्छिन्न करने का प्रयास पुनर्जागरण-काल में किया गया । और यमुना, जो लगता था एक घाट पर ठहर गई है— फिर से बह उठी -- निर्बन्ध, अविच्छिन्न ।

नवयुग में राजाराम मोहनराय, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी दयानन्द आदि ने प्राचीन विचारधारा का पुनरुत्थान किया । रामराज्य की परिकल्पना को रा[illegible] गांधी ने मानवतावादी धरातल पर अधिष्ठित करने का विपुल प्रयास किया । जाति प्रथा, वर्ण व्यवस्था आदि परम्पराओं ने किसी युग में भले ही पद और भूमिका की [illegible] प्रदान की हो, श्रम-का-विभाजन और आवश्यक आर्थिक- सुरक्षा की पुष्टि की हो — किन्तु आज की परिस्थितियों में निम्न जातियों के लिए अनेक असमर्थताओं को थोपकर एक दलित वर्ग का निर्माण करने वाली [illegible] को प्रश्रय नहीं

दिया जा सकता । स्वामी दयानन्द और महात्मा गांधी ने इस दृष्टि से सर्वप्रथम विचार किया । उन्होंने स्पष्ट शब्दों में गीता- अनुमोदित गुण-कर्म पर आधृत वर्ण-व्यवस्था को जाति-प्रथा से पृथक मानते हुए जाति प्रथा को हिन्दुओं की उन्नति में बाधक तथा तज्जन्य अस्पृश्यता को अनावश्यक जंगली उपज माना है जो उखाड़ देने योग्य है[1] । भारतीय संस्कृति के विश्वकोश `महाभारत` से कथा सूत्रों का चयन करते हुए एकलव्यकार ने " शैशव के संस्कारों में अंकुरित और बापू के अछूतोद्धार में पल्लवित कथा को,दस वर्षों की साधना को, युगवाणी में प्रस्फुटित किया --" जन-जन-मानस को एक रूप कर दे[2] ।" एकलव्य का रचना-काल संवत् २००४ से २०१४ है । इसमें एक ओर अतीत क्षेत्र में जाकर विस्मृति के कारागार में बंदी बने मानव-मूल्यों का पुनरुद्धार है तो दूसरी ओर वर्तमान युगीन जड़ता के पाश में आबद्ध मानव-चेतना को मुक्ति का संदेश दिया गया है । रूढ़ि-जर्जर-समाज को वस्तुत: नव सम्बल की आवश्यकता थी । बदलते हुए समय की तेज रफ्तार में परम्परा-प्रकोष्ठ में अपने को सीमित कर लेने का दुष्परिणाम अनेकानेक रूपों में प्रकट हुआ । गांधीवादी जीवन-दर्शन से प्रेरणा ले,मानवतावादी दृष्टिकोण से परिचालित हो कर्मण्यता का अनुपम उदाहरण प्रस्तुत करने के लिए `एकलव्य` महाकाव्य की संरचना की गई है । सामाजिक वैषम्य, अस्पृश्यताजन्य गत्यवरोध ने कवि-मानस को आलोड़ित-विलोड़ित कर दिया । इस दसवर्षीय मंथन का सार-प्रस्फुटन `एकलव्य` रूप में हमारे सामने आया ।

मार्क्सवादी और गांधीवादी विचारधारा ने कवि की चिन्तना को विशेष बल प्रदान किया[3] । सामाजिक वैषम्य को हटा कर समता की स्थापना,द्वेष

1. "There is nothing in common between Varnasharma and Caste. Caste, if you will, is undoubtedly a drag upon Hindu Progress and untouchability is an excrescence upon Varnasharma. It is a weedy growth fit only to be weeded out. In this conception of Varna, there is absolutely no idea of superiority or inferiority" - The problem of Untouchability in India, Page 65 - 66 - Gandhiji.

2. एकलव्य पृ. ६

3. "इधर कोई वर्षों से मेरा ध्यान भारतीय समाज [illegible] की ओर आकर्षित हुआ हुआ है । [illegible] गांधी और मार्क्स की [illegible] से विशेष [illegible] । [illegible] काव्य की रचना में प्रवृत्त हुआ । [illegible] की अपनी काव्य-कथा में [illegible] । अतः एकलव्य की कथा एक बार फिर से प्रस्तुत [illegible]

के स्थान पर प्रेम का अनुशासन, मानवीय-ऐक्य का प्रतिष्ठा, अहिंसा और त्याग का गौरव-वृद्धि, कर्मण्यता का भव्य-रूप-संस्थापन-- इसके प्रणयन की मूल प्रेरणा है। धरती माँ की प्रशस्त- समता में दरारें पड़ गयीं -- वर्ण-भेद, जाति-भेद की दरारें। महावीर एकलव्य अपना दाहिना अंगुष्ठ काट कर भेदभाव की बलिवेदी पर अर्पित कर देता है। रक्त धारा बह रही है -- शायद उसे देखकर ही यह भूमि जो भूमिपतियों के उग्र वर्णभेद से विदीर्ण हो चली है -- जुड़ जाए --

> "रक्त धारा बही जैसे धनुर्वेद साधना
> द्रव रूप होकर लीन हो रही है भूमि में,
> जो कि भूमिपतियों के उग्र-वर्ण-भेद से
> है विदीर्ण, संभव है, जुड़े रक्त धारा से ।।"

एकलव्य, काव्य ग्रन्थ है उपदेशसंहिता या नीतिशतक नहीं। कविता की प्रकृत-संचरण-वीथिका 'सौन्दर्य' ही है। "आत्मा की गूढ़ छिपी हुई सौन्दर्य राशि का भावना के आलोक में प्रकाशित हो जाना ही कविता है।" --ऐसा मानने वाले महाकवि वर्मा जी ने सनातन सौन्दर्यासक्ति को भाव, अनुभूति और कल्पना का समाश्रय प्रदान करते हुए 'सत्य' को सजाना चाहा है। कवि की सौन्दर्याभिवेषिणी दृष्टि ने सदियों से अंधकार-कारा में आत्मा-स्तैं यथाकथित अछूत को महाकाव्योचित औदात्य से छुआ है। उनके समस्त जीवन-विवेक और नैतिक बोध का केन्द्रबिन्दु खोजने के लिए हमें 'एकलव्य' में सन्निहित 'सौन्दर्यबोध' पर सर्वप्रथम विचार करना होगा --

एकलव्य और सौन्दर्यबोध

"इस संसार में छिपे हुए सौन्दर्य को कविता में स्पष्ट कर देना ही कवि का महान् कर्म है।" मेघों की क्रोड़ में क्षण मात्र को कौंध जाने वाली सौदामिनी जैसे बादलों के क्षितिज व्यापी रूप समष्टि को ज्योतित कर जाती है वैसे ही कवि-तूलिका अंकित "एकलव्य" का शील-सौन्दर्य उस समस्त दलित वर्ग के मूक अछूते सौन्दर्य की [illegible] को अलाकृत कर जाता है जिसे पत्थरों की भारवाही- [illegible] दबाए थी [illegible] को नाम्रकरण प्रदान कर कवि ने "कुर्सी पर बैठ कर चपरासी को, मोटर में बैठकर [illegible] को, थियेटर में बैठकर [illegible] को भूल जाने वाली हृदयहीन--

अति बौद्धिक भावुकता को सृष्टि के कण-कण में व्याप्त स्नेह और पारस्परिक सौहार्द्र खोजने के लिए उत्प्रेरित किया।[1] एकलव्य की भावना का केन्द्रबिन्दु बनाकर सौन्दर्य उद्घाटित किया गया है। जिसमें भाव, अनुभूति और कल्पना की धाराएं पार्थक्य भुलाकर चरम सत्योपलब्धि में अपना योगदान देता है —

मेरी अनुभूति रंगहीन पुष्प जैसी है।
किन्तु वह खिलती है भाव-वृन्त में।
कल्पना-पराग के भले ही कण थोड़े हैं।
किन्तु उनका है योग गन्ध-मधु-बिन्दु में।।

शीश पर जटा जूट है, तन पर [illegible]जिन है। श्यामवर्ण कुमार एकलव्य का सोया हुआ सौन्दर्य कवि ने जगाया है। अन्यथा, "कौन जानता है। यह गूंज अविदित थी, कितने सहस्र कम्प लिए किसी तार का।" रेखाओं की गति किसी सिद्धहस्त कलाकार का सप्राण संस्पर्श पाकर अमूर्त का मूर्तीकरण कर जाता है। चित्रात्मक शब्दों के सधे हुए प्रयोग से आकृति और प्रकृति दोनों प्रकार के सौन्दर्य को उकेरा है। एकलव्य, बाल्य में साधना का मानवीकरण है जिसे किसी वीर माता ने वन में भेजा है —

केश में सधे नवीन पारावत-पंख हैं
जैसे बहुरंगी दल हैं ये धनुर्वेद के
उच्च भाल, नासिका नुकीली, भौंहें वक्र हैं
नेत्र बड़े, दृष्टि सीधी, जैसे वह दृष्टि ही —
विविध शराग्र-नोकों की बनी नीहारिका
जो कि मेरे पथ से खिंची लक्ष्य - बिन्दु तक।

\+ + +

जटा जूट शीश पर [illegible] तन में
भूमि नख-शिख से मनुष्य रेखा कृष्ण है।
जैसे चि[illegible] में अंकन की रेखा है,
दृष्टि के समान धनुर्वेद गतिशील है।

१- आधुनिक कवि, भाग ८- मेरा [illegible], पृ० ६-१० — डा० रामकुमार वर्मा

सटीक उपमाओं का सहारा लेकर कवि ने रूप को शब्दों में बांधा है। 'दृष्टि के समान धनुर्वेद गतिशील है' -- कहकर प्रतीप अलंकार के सहारे उस धनुर्वेद के कर्म कौशल और दृष्टि प्रक्षेपण की क्षिप्रता को सह अंकित किया है। बाह्याकृति अन्तर-प्रकृति की [illegible] होती है। [illegible] दृष्टि से कवि ने बाह्य सौन्दर्य के साथ आन्तरिक सौन्दर्य का संघटन किया है।

आर्य द्रोण के स दर्शन प्रथम सर्ग में होते हैं --' श्वेत जटा, विस्तृत ललाट, घनी भौंहे, रक्त वर्ण, विशाल नेत्र, बैठी हुई [illegible] और श्वेत श्मश्रु बीच शुभ्र अभ्रों की ओट संध्याकाल-मध्य दूर्वा के कलश से होंठ' -- हल्की से हल्की रेखाओं को एक करुण झटके में उभार देने वाली चित्रोपम क्षमता प्रशंसनीय है। गुरुवशिष्ठ का [illegible] और वाल्मीकि अंकित चित्र स्मरण हो आता है। सौन्दर्य का अभिधान मात्र नारी-देह-यष्टि में केन्द्रित करने वाली संकुचित सामन्तीय दृष्टि का यहाँ परिष्कार किया गया है। प्रेम, दया, करुणा आदि उच्च कोमल भावों की स्थापना मात्र नारी-हृदय में की जाए यह अनिवार्य नहीं। निषाद संस्कृति के इस पुरुष पुंगव एकलव्य के मानस में सन्निहित श्रद्धा, आस्था, प्रेम, दया, करुणा, ममता को दिखाते हुए उसे नायक पद का उचित अधिकारी बनाया है।

स्नेह पाकर माटी का दिया आंधियों के नगर में भी जीवित रहता है। एकलव्य के विश्वास-नेह से मिट्टी के गुरु द्रोण ज्योतिर्मय हो गए --

> दीप भी बने मृत्तिका से,
> इनमें भी ज्योति उठी स्नेह के आधार से
> क्या आश्चर्य, एकलव्य के [illegible]-स्नेह से,
> मृत्तिका की गुरु-मूर्ति ज्योतिर्मय न हो उठे।'

'स्नेह सूत्र बढ़ता है मोह जाल से।' आसक्ति, प्रत्यक्ष दर्शन पर ही अवलम्बित हो, यह सदैव अनिवार्य नहीं। सच्चा लगाव, श्रम और परोक्ष को भी प्रत्यक्ष में [illegible] करने में सक्षम होता है। स्थान और समय अन्तराल की सीमायें समाप्त हो जाती हैं -- एकलव्य की सच्ची श्रद्धा [illegible] में बंधी बने अब आचार्य

१-- [illegible] आश्रम में छूट गए वह से
और [illegible] प्रत्यक्ष हुआ आश्रो

को अपने आश्रम में साग्रह-सशक्ति खींच लाती है । फिर भी, आचार्य यदि उस अज्ञात अभिशापित शिष्य का परिचय पूछते हैं —

> "........ तो निवेदन यह है
> यद्यपि प्रत्यक्ष रूप आपको न पा सका
> फिर भी जो रूप मेरे मानस का अंग था,
> वह तो सदैव ही समीप रहा दास के ।"

चरम तन्मयता के उन्हीं क्षणों का साक्षात्कार एकलव्य करता है[1] जिन्हें सर्वत्र लाल की बिखरी लाली में कबीर की अनुरागिनी आत्मा ने अनुभूत किया था, जिन्हें एकमात्र गिरिधर गोपाल की उपासिका मीरा ने नाच-नाच कर जिया था ।

'प्रेम' हृदय की अत्यन्त विस्तृत वृत्ति है जिसमें गुरुजनों के प्रति श्रद्धा, छोटों के प्रति स्नेह, स्वजनों के प्रति सहानुभूति, बराबरी वालों के प्रति प्रीति, अनुराग— सब समाविष्ट हो जाता है । जिस प्रकार प्रेमिक की वृत्तियां एकोन्मुखी हो जाती हैं । उसी प्रकार साधना में तल्लीन एकलव्य की मनःस्थिति है ।

एकलव्य और जीवन दर्शन

अनुभूति के लिए पाण्डित्य की अपेक्षा नहीं है । आवश्यकता जीवन के निकट संस्पर्श की है[2] । आशा-निराशा, सुख-दुःख, जीवन-मृत्यु आदि अनेक द्वन्द्वों के बीच अपने जीवन की अनेकता को निरन्तर पर्यालोचित करने से जीवन विषयक एक निश्चित विवेक उत्पन्न होता है । कलाकार, सामान्य-जन की अपेक्षा अधिक संवेदनशील प्राणी होने के नाते इन मानव को करुण-विह्वल कर देने वाले प्रश्नों पर अधिक संयत-गम्भीर विचार करता है । सच्चा कलाकार अपनी सार ग्राहिणी

१- "........ इतना प्रकाश दिया गुरु ने
मेरी दृष्टि जाती ही दीखती है सृष्टि में
तारकों में, चन्द्र में, उषा में, पुष्प पुष्प में ।"
— एकलव्य, पृ० [illegible]

२- आधुनिक कवि(२), पृ० [illegible]— डा० रामकुमार वर्मा

चिन्ताधारा से उस जीवन-दर्शन का निरन्तर निर्माण किया करता है । अनुकरणजन्य
उधार विचारणा को लेकर महू-साहित्य की सर्जना नहीं की जा सकती ।
जीवनस्थिति-व्यापक मनुवों प्रज्ञा द्वारा निरन्तर पर्यालोचित करने वाला ,खुली आँखों
से जन-जीवन को देखने वाला प्रबुद्ध कलाकार अपने वैयक्तिक अनुभूत सत्य को और
विचारराशियों को समष्टि के आलोक में सजाता है । उसकी रचना में व्यक्त निजी
दर्शन में समष्टि अपने को पाती है । महाकाव्य रचयिता का यह सदा से महत्
दायित्व रहा है कि वह समाज का प्रतिनिधि होने के नाते उसके अनुभूत-अक्षय को
वाणी दे सके । परिस्थितियों के [illegible] में विचारणा के प्रांगण में नवागंतुकों
का पदन्यास होता है , नए मोड़ मिलते हैं, नई आवाज़ें आंगन महकाती हैं । ठहराव
अर्थात् प्राप्ति में गतिहीन निश्चिन्तता का जन्म संस्कृति के इतिहास में ह्रासोन्मुखी
प्रवृत्तियों को पोषित करता है । आवश्यकता है वर्तमान में बीते हुए अतीत की शक्ति
ले, भविष्य देखने की । एकलव्यकार ने परम्परा की पृष्ठभूमि बनाकर युग को वाणी
दी है —

"पूर्व काल की कथा का कठिन कोदंड है
उसमें प्रत्यंचा चले मेरे महागीत की
मेरे प्रभु । वीर एकलव्य तीक्ष्ण तीर है
जो भविष्य देखता है शक्ति ले अतीत की ।"

कठिन पाषाण तोड़ कर जल के प्रवाह में साधना के दीप जलाने
वाले उस अधिकारहीन निषाद[illegible], एकलव्य को नायक का पद प्रदान किया गया है[1]
जिसका "जीवन जैसे उत्सव के अंत में कंठ से उतारा हुआ लुंठित सा हार था ।"
[illegible] की यह सबल उद्घोषणा है । मनुष्य कोरा देवता नहीं होता और न
ही सम्पूर्ण दानव । उसके भीतर होने वाला देवासुर संग्राम ही उसे सही अर्थों में
"मानव" बनाता है । परिस्थितियों की आंधी में कब और कैसे सिद्धान्त और आदर्श
के तिनके उड़ जाते हैं — जिनसे हम प्राय[illegible] से घृणा करते हैं वही दुष्कर्म कर
बैठते हैं — यह भली प्रकार समझते हुए आचार्य द्रोण के चरित्र का मनोवैज्ञानि[illegible]

१— एकलव्य,पृ० ३१

विश्लेषण किया गया है । आधुनिक युग का साहित्य मानवता का व्यापक है । होरी जैसे अतिसामान्य पात्र को लेकर प्रेमचन्द जी ने क्रान्तिकारी उपन्यास 'गोदान' लिखा तो शर्मा जी ने दलित अस्पृश्य वर्ग का प्रतिनिधि अछूत एकलव्य लेकर मानव मात्र की एकता की स्थापना की है और सम्पूर्ण वसुधा को एक कुटुम्ब का रूप दिया है जिसका प्रत्येक सदस्य हमारा 'अपना' है

नूतन संदर्भों को जोड़ने वाले अध्याय प्राणवत्ता के परिचायक होते हैं । इतिहास इस बात का साक्षी है कि जब भी कोई धर्म या सम्प्रदाय रूढ़ कर्मकाण्ड और जड़ विधि-निषेधों में आबद्ध हो जाता है, तब वह मर जाता है । जब भी कोई जाति प्राप्त मूल्यों को चरम-साधना का परिचायक मानकर नए सूरज की किरणों के लिए अपने झरोखों का द्वार बन्द कर लेती है -- तब वह खंडहरस्वरूपा हो जाती है । मध्य युग के सामन्तीय संस्कारों में बंधी भारतीय चेतना ने ऊँच-नीच,भेद-भाव ,स्पर्श-अस्पर्श आदि अनेक विधि-निषेधों में स्वयं को बंध कर एक ऐसे जटिल अरण्य का रूप ले लिया था जिसमें पथ पाना दुष्कर कार्य था --

एक है, भयानक अरण्य घने वृक्षों से
भूमि है ढकी हुई सी जैसे कर्मकाण्ड की
जटिल क्रियाओं मध्य धर्म बंध जाता है
और किसी पांथ का प्रवेश नहीं होता है ।

भारतीय समाज का एक प्रमुख अंग निरन्तर प्रताड़ित होने के कारण जीवन-रक्षा-निर्वाह सम्बन्धी सुविधाओं के अत्यन्ताभाव के कारण एक "ऐसे व्रण के समान था जिसमें भीतर तो टीस और बाहर न मुख हो"[1] एकलव्य महाकाव्य द्वारा उस मूक को वाणी दी गयी है कि वह निर्भय होकर, स्वतन्त्र व्यक्तित्व की संस्थापना में बाधक रूढ़िग्रस्त समाज की यथाकथित प्रचलित मान्यताओं के आगे प्रश्नचिह्न लगाते हुए यह पूछ सके --

---

१-- एकलव्य,पृ० ८४

सूर्य की किरण को क्या जाति भेद मानती ?
अग्नि क्या विशेष जोधपुरियों की श्रेणी में--
सीमित है ? और वायु की तरंगे उठती -
केवल विशिष्ट व्यक्तियों की सांस लेने में ?
फूल फूलते हैं, वे न घोषणाएं करते
साधु हों सुगन्धि के विशेष अधिकारी हैं
और जो असाधु हैं, समीप जाके उनके
जो सुगन्धि है, वही दुर्गन्धि बन जायेगी ।"[1]

महात्मा गांधी ने अस्पृश्यता को घोर पाप और हिन्दू धर्म पर अदाय कलंक और भयंकर विष समझते थे । वर्ण और आश्रम, किसी समय हिन्दू धर्म की महान् देन के रूप में अभिहित हुए थे । पर कालान्तर में `धर्म` का अर्थ निकल गया और अहंकार गर्वोन्नत केंचुली शेष रह गई । मुसलमानों के आक्रमण ने जाति प्रथा को एक लक्ष्मण रेखा या कालकोठरी का रूप दिया जिसमें बंद होकर हमने अपनी सुरक्षा चाही थी । "पर जिस व्यक्ति को काल कोठरी में बन्द किया जाता है, उसकी तन्दुरुस्ती तो खो ही जाती है, विद्या, बुद्धि और विचारशक्ति भी लुप्त हो जाती है । शुरू में शायद बाहर की विपत्ति से आत्मरक्षा के नाम पर रेखा खींची गयी थी । आज वह लकीर ही मृत्यु का कारण हो गई है ।[1] आर्थिक संघ के रूप में जातिप्रथा ने श्रम-विभाजन द्वारा जहां आर्थिक सुरक्षा को पीठिका बनाई वहां दूसरी ओर उसने दलित वर्ग को जन्म दिया । "अस्पृश्यता जाति-भेद का ही सह-परिणाम है ।"[2] जिसका प्रतिनिधि एकलव्य है, उसे धर्मसंकीर्ण दृष्टि प्रगति पथ पर अग्रसरित होने से रोकती है । आर्य ब्राह्मण द्रोणाचार्य, भला एक शूद्र निषाद पुत्र को शिक्षा कैसे ?

१- संस्कृति संगम, पृ० १०६-- आचार्य क्षितिमोहन सेन

२- "The out caste is by-product of the caste -system".

हरिजन, दूसरा अंक, अम्बेडकर

'वे हैं आर्य, हम शूद्र, हम सब शूद्र हैं ।
आर्य और शूद्र कैसे गुण शिल्प होंगे ?
तेल अपने में मिला सकेगा क्या पानी को ?'

पर एकलव्य तो सच्चा साधक था जो पर्दों का भार बार बार निज-शीश लेकर नवल हरीतिमा में मोद रे बढ़ता है । जन्मकाल से एक चरण से तपस्या करता यदि प्रभु-चरणों से मिट भी जायगा तो भी ऐसी पथ-रेखा बना जायगा जिसे देख कर साधक गन्तव्य पर चलें ।' और वस्तुत: आत्म बलिदान। एकलव्य साधना के क्षेत्र में एक आकाशदीप के रूप में अनेक पथभ्रष्ट नौकाओं को राह पर लाने का कार्य करता है । बड़ों की 'बड़ाई' की निर्मिति में छोटों का आत्मत्याग कितना मायने रखता है, राजमंदिर का स्वर्णकलश किस पत्थर के सिसकते प्राणों के सहारे हंसता है --उसका साक्षी है 'एकलव्य' । विनीत किन्तु दृढ़ वाणी में वह कह उठता है --

आत्म बलिदान में अमोघ शक्ति होती है
यह सत्य कैसे कहूं देव । श्रेष्ठ जन तो
श्रेष्ठ ही हैं किन्तु यह धृष्टता क्षमा करें
आत्म त्याग में भी लघु सेवकों का हाथ है

हत-पौरुष का ज्वालामुखी जब फूटता है तो उसका समस्त अवरोधक प[illegible] को भेदता हुआ आगे बढ़ जाता है । ठेस खाए एकलव्य की एकनिष्ठ साधना ने सोचा कि ' क्या केवल क्षत्रिय-जाति ही धनुर्वेद में अग्रणी है ? ढाल और तलवार क्या उन्हीं का पृष्ठ भाग है ? उन्हीं की शक्ति क्या धनुष झुका सकती है ? क्या उन्हीं के कर से फुंकारित नाग से बाण चल सकते हैं ?' और --

~~'तुमने नहीं कहा ।~~ 'तुमने नहीं कहा । की ऐसी निष्ठ साधना
एक शूद्र ने समस्त क्षत्रियों की आन ली
मानव-बिन्दु का ही लक्ष्य-भेद यों किया
कि विश्व ने तुम्हारी बात मौन ही मान ली ।।

ब्रह्म को जानने वाले 'ब्राह्मण' में इतनी उदारता शेष न रही कि वह कनफूल की [illegible] साधना को अक्षय आशीष दे --उल्टे विद्या-व्यवसायी

राजगुरु ने उसके शक्ति-स्रोत को दक्षिणा में मांग लिया । औदार्य,क्षमा,धृति, शान्ति,परोपकार,श्रद्धा मानो सम्पूर्ण ब्राह्मणत्व एक शूद्र में आ समाया हो । एकलव्य ने गुरु-दक्षिणा के नाम पर दाहिने हाथ का अंगूठा काट चढ़ाया और आचार्य शूद्र शिष्य का स्तवन करते हैं --

एकलव्य हे !

तुम विप्र हो, हे शिष्य ! गुरु द्रोण शूद्र है
हा ! तुम्हारी लघुता में गुरु हुआ लघु है
सारा वर्ण भेद धुल गया रक्त धार से !
वीर एकलव्य जिस साधना के तरु को
सूर्य चन्द्र किरणों से सींचा दिन रात है
उसको उखाड़ दिया, एक क्षण मात्र ही में !

जाति प्रथा के इस विनाशात्मक पहलू पर विचार-प्रत्याविचार करते हुए भारतीय संस्कृति के प्रथम अध्याय की झलकियां प्रस्तुत की गयी हैं । आर्यों के आगमन के साथ ही जाति प्रथा का उद्गम हुआ, ऐसा कवि का मत है[1] । आर्य लोग जब भारत में आए तो उनका सामना अर्ध सभ्य मुण्डा और निषाद(आस्ट्रिक) लोगों से नहीं हुआ था, जैसा कि अब तक माना जाता रहा है । उनका सामना हुआ है द्रविड़ों की उस उन्नत सभ्यता से जो भौतिक दृष्टि से आर्य सभ्यता से अपेक्षाकृत बढ़ी चढ़ी थी[2] । उन्हें समयान्तरकाल ने आस्ट्रिक और द्रविड़ों में एक भाईचारे की सामान्य भावना जागृत कर दी थी । आर्यों को अपने पैर जमाने के लिए,अपने अस्तित्व-रक्षण के लिए कुछ दीवार बनानी आवश्यक थीं[3] । भीष्म की सूक्ष्म राजनीति ने आर्य द्रोण द्वारा राजपुत्रों को इसीलिए दीक्षा दिलाई वे अपराजेय रहें । भिन्न भिन्न व्यवसायों में फंसी जातियों,अत्यल्प संगठन होने के कारण आर्य जाति,नौका-शक्ति युक्त भील निषाद जाति से ही शक्ति छिन जाने का भय था --

---

1- हमारी संस्कृति ,पृ० २० -- डा० रामेश्वर गुप्त
तथा -- "इस देश में आर्यों के आने के बाद ज्यों-ज्यों समय बीतता गया,जातिभेद त्यों त्यों तीव्र होता गया है ।" -- भारतवर्ष में जातिभेद,पृ० ५३,
--आचार्य क्षितिमोहन सेन
2- द्रष्टव्य, संस्कृति के चार अध्याय, दिनकर
3- द्रष्टव्य, शूद्र कौन क्यों और कैसे ? -- डा० भीमराव अम्बेडकर

"चाप बना कंठ है तो बाण है प्रशस्तियां
आदि काल से निषाद जाति वीर जाति है ।"

ये भारत के आदिवासी जो जनशक्ति युक्त थे, अद्वितीय बाण विद्या में विख्यात होकर आर्य-पुर-रत्नों को समाप्त कर देने की क्षमता और सम्बल रखते थे । दूरदर्शी नीतिज्ञ द्रोण विशेषरूप से इस दृष्टि से आशंकित हैं । और निषाद पुत्र होने के नाते ही एकलव्य को वह अपना शिष्यत्व प्रदान नहीं करते[1] । निषाद संस्कृति के प्रतीक के रूप में एकलव्य हमारे सामने आता है । निषाद जातिगत वीरता-धीरता, उनका लक्ष्य कौशल, स्वाभिमान और शान्तिप्रियता तथा आत्मत्याग की गौरवमयी परम्परा-- सभी एकलव्य के चरित्र में पुंजीभूत हैं ।

[illegible] क्षेत्र में स्वयं को अनधिकारी करार किए जाने पर उसके मानस को भयंकर संघर्ष ने उद्वेलित कर दिया । गुरु द्रोण ने नहीं कहा था कि सामाजिक मान्यता में बंधे होने के कारण वह अनार्य को शिष्य नहीं बनायेंगे --यह सब कुछ कहलाया भीष्म की राजनीति ने । श्याम वर्ण आदिवासियों को जो अपनी प्रभुमि पर शान्तिपूर्ण ढंग से रहते थे, विजेता आर्य जाति ने अत्याचार सहने को विवश किया, 'अनार्य' की संज्ञा दी --

"आक्रमणकारी कौन ? आर्य । वे आर्य हैं ?
जो कि शान्ति प्रेमी जनों के लिए कृतान्त हैं ?
अपने को आर्यगण और हमें हिंसा से --
शूद्र कहा, पैरों-तले मर्दित किया गया ।
चाहिए तो यह था कि आततायियों को ही
शूद्र मान, हम आर्य अपने को कहते
किन्तु शूद्र और ब्राह्मणों में भेद कैसा है ?
जब कि सम्पूर्ण अंग मानवों के सब में हैं ।"

१-- [illegible] कहीं भी एकलव्य के शासन से परा[illegible] है, ऐसे लगता है कि [illegible]-लग्न आर्य जाति की सेना का [illegible] एकलव्य के तीक्ष्ण बाण काट देंगे, क्षत्रियों के [illegible] की [illegible] भी [illegible] होगी । [illegible] की सिद्धि से [illegible] कहां तक [illegible] हैं -- (अगले पृष्ठ पर देखें)

सेवा-भाव मान कर वर्ग की विगर्हणा के सहने वाले शूद्रों में आधुनिक काल में नवचेतना उत्पन्न हुई जिसका विपुल श्रेय स्वामी दयानन्द, महात्मा गांधी और भीमराव अम्बेडकर को है। सेवक बनाने वाली शक्ति दानवों का है। मानव की शक्ति तो महान् तब होती है--

"जब वह दानव को मानव बना सके
और सब मानवों में साम्य की हो स्थापना
हम हैं अछूत, और हमारे अंग-स्पर्श से
आर्यों के सुअंग क्या कुअंग बन जायेंगे ?"

कुछ विद्वज्जनों की दृष्टि में अछूतोद्धार ही इस महाकाव्य प्रणयन का मूल प्रेरणा है। किन्तु यह मान्यता भ्रामक है। एकलव्य अछूत है अवश्य पर उसका उद्धार करने के लिए किसी इतर हस्तक्षेप की अपेक्षा नहीं है। वह आत्मोद्धारक है। जुलाहे कबीर ने स्वामी रामानन्द के श्रीमुख से 'राम' नाम का उच्चारण मात्र सुनकर अपने को वैष्णव-दीक्षित मान लिया था उसी प्रकार 'एकलव्य' 'धनुर्वेद' शब्द सुनकर ही द्रोण-शिष्य बन जाता है। यह साधना की चरमोत्कर्ष परिणति है।

गुरु का विश्वास जिसे जीवन में होता है
जान लो कि वह गुरु से ही छला जाता है[1]
साथ में भले हों पिता, माता बंधु, मित्र हो
साधना का मार्ग निज पैरों चला जाता है।

एकलव्य की कल्पना--ने साधना ने मृत्तिका की मूर्ति को भी स्फुरित किया, जड़ में भी चेतनता की सृष्टि की। ऐसे साधना के प्रखर-सूर्य को [illegible] भी नहीं रोक सकती। साधना का बीज जो भाग्योपल-अंक की कठोर संधि बीच बोया गया है उसे वृक्ष का मानु सींचता सा है और मृत्यु उसके जीवन की सेविका

(पीछे के पृष्ठ का शेष भाग)

१० "कैसे रोक में सकूंगा [illegible] परिस्थिति को
क्या मैं चुपचाप किसी वृक्ष आवृत में
बैठ तीक्ष्ण [illegible] लेके पैने बाणों से
[illegible] गुरु की काटूं मैं एकलव्य को।"

१-- एकलव्य0 ~~[illegible]~~ -- लेखक [illegible]

१-- [illegible] का कथन है कि आज मनुष्य का जीवन असंतुलित है और उसका [illegible] है कि आज का मनुष्य सुख-भोग की खोज में प्राय: उन्मत्त हो रहा [illegible] का दार्शनिक विवेचन, पृ० ३०२ से उद्धृत।

होती है[1]। एकलव्य स्वयं एक ऐसा ही बीज था जिसने साधना की शिला के बीच पाया-

प्रभु । एकलव्य एक ऐसा बीज है कि जिसने
साधना -शिला के बीच अग्नि-रस पाया है
और शुष्कता में भी हरीतिमा को जन्म दे
जीवन का सत्य,शून्य नभ में सजाया है ।

गीतोक्त स्वधर्म-पालन का यहां प्रतिपादन किया गया है । 'स्वधर्मे निधनं श्रेय पर धर्मो भयावह:' ब्राह्मण की प्रमुख स्वभावज विशेषता निर्भीकता है जो आर्य द्रोण में प्रति शिरा प्रवाहित हो रहा है[2]। क्षत्रिय के लिए 'राजधर्म' है कि --

जीवन धनुष पर तीर रखो प्राण का--
धर्म-वीटिका पड़ी हो यदि हृदय-कूप में
तो निकालो शीघ्र उसे लक्ष्य-- भेद करके
कोमलता राजपुत्र के लिए कलंक है
शक्तिहीन होने की अपेक्षा प्राण हीनता
श्लाघ्य है, तुम्हारी मातृभूमि पावे तुमसे
शब्द वीरतान,किन्तु शब्द-भेद-वीरता ।[2]

'धनुर्वेद एक नद है, जिसके दो तट हैं ब्राह्मण और क्षत्रिय -- इन्हीं की सीमा रेखा में उसका प्रवाह होगा । अन्यथा बाढ़ में सुरभि भी कुभूमि बन जाती है । वैश्य क्या [illegible] बाण से खेती काटेंगे ? शूद्र शंख फूंक सेवा में लगेंगे ? सागर में जलपोत और मीन की ही गति मानी गयी है, यदि गजराज उसमें प्रवेश चाहे तो यह पूर्णतया असम्भव है । भूतल में दिग्विजय करने वाले क्षत्रियों की ही नाराच अपेक्षित है । एकलव्य तो निषाद पुत्र है-- क्या पतन- शावकों के लघु पंखों को हवाणों से

१- तु०क० प्राणमय चित्र की कमी नहीं ---- एकलव्य तथा चन्द्रगुप्त (प्रसाद) में द्राण्ड्यायन।

२- शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्।

३- तीसरी घोषणा है महाभारत के युद्ध की । पाप हो या पुण्य शक्ति के समक्ष क्षण है जीवन का युद्ध जहां , धर्मराज कहो । वीर कार न अन्य कोई जीव में अब है ।

--एकलव्य,पृ० १०८

गिराने में धनुर्वेद की महत्तम गरिमा का उपयोग होगा ?" यह जातिभेद की अवधारणा स्वभाव और गुण व कर्म पर आश्रित है । नीच कर्म करने वाला ब्राह्मण स्वर्ण-कलश में भरी सुरा के समान निंदित ही होगा और निम्नकुलोत्पन्न ज्ञानवान्‌ गुणवान् पूज्य माना जाएगा ।" जन्मना जायते शूद्र:" वाली लोक प्रचलित अंधमान्यता का निराकरण करने के लिए एकलव्य का आदर्श -चरित्र प्रस्तुत किया ह ।

न जाता ब्राह्मणश्चात्र, क्षत्रियो वैश्य सव न
न शूद्रो न च हे म्लेच्छो, भेदिता गुणकर्मभि:

-- शुक्रनीति १।३८

समय का रथ निरन्तर अबाध गति से चलता है । जीवन एक निरन्तर विकासशील प्रक्रिया है । इसके तेज प्रवाह में कदम टिकाए रखने के लिए आवश्यक है कि हमारी दृष्टि लक्ष्यानुकूल हो । युग के साथ आदर्श और धर्म भी बदलते हैं। जीवित रहने की आवश्यक शर्त है --

दृष्टि और लक्ष्य में सदा ही सद्भाव हो
यदि वह लक्ष्य हो तो वह दृष्टि साथ हो ।

संसार में हमारे विकास के समस्त साधन उपलब्ध हैं, जरूरत है इन इतस्तत: विकीर्ण प्रचुर साधनों को संग्रथित करने की । जड़ता को मानव-शक्ति ने ही चैतन्य बनाया है । भाग्य-कूप में पड़ी गेंद को ऊपर खींच लाने वाला बाण जड़ है यदि उसमें मानव की संकल्प शक्ति का लेप हो जाए । जीवन संघर्ष है, स्पर्द्धा की दौड़ है । यही कारण है कि मत्स्य-न्याय का सिद्धान्त सब युगों में सत्य रहा है । प्रतियोगिता [illegible] समाज में स्थिति रखने में विपुल शक्ति संचयन आवश्यक है । हमें एकलव्य के समान भाग्य के धनुष की प्रत्यंचा को खींचकर प्रबल [illegible] का बाण सज्जित करना है [1] --

जीवन भी तो है एक पूर्ण धनुर्वेद हो
बीचावार बाण काटते हैं तीक्ष्ण बाणों को ।"

वर्ग वैषम्य ही समस्त संघर्षों का मूलबिन्दु है । मार्क्सवादी विचारधारा से एकलव्यकार प्रभुत प्रभावित है । आर्थिक स्तर भेद से मालिक और मजदूर के बीच वर्ग - संघर्ष की जो खाई खुद गयी है वह मानवीय समता और सौहार्द्र के नियमों के सर्वथा प्रतिकूल है । ऐसी राजनीति को जिसने भूमिपति (बुर्जुआ) और भूमिपुत्र (प्रालितेरियट) को जन्म दिया है , सुख शान्ति की स्थापक नहीं हो सकती । "धन" को समस्त विधमानताओं का केन्द्रबिन्दु मान लेने से ही नाना संघर्षों का जन्म होता है । पूंजीवादी समाज में धन ही व्यक्ति को सामाजिक प्रतिष्ठा का निर्णायक माना जाता है -- " धन ही है साधक सुख और सम्मान का ।

धन से रहित हूं मैं, अतः शक्ति बाहेक हो
कौन पूछता है, ऐसे जनहीन को
सुन्दर भले ही हो, परन्तु वह शून्य में,
उड़ता है, गिरता है, जीर्ण शीर्ण होता है ।

पत्थरों की संधियों में सूर्य किरण का हाथ भूमिपुत्र को उठाने आता है, सूर्य की प्रखर अग्नि उसका बिछौना है, झंझा का प्रहार उसके यौवन का व्रत है, शीत का प्रकोप उसे कॉप से मरता है --वह वायु की तरंगों के बीच अपना निर्भीक मस्तक उठाए, कंटकों के बीच खड़ा होता है —

"अंधकार में भी जो प्रकाश बीज होता है
निष्प्राण आशा अनुगामिनी है जिसकी
जिसके समक्ष दुःख अपना स्वभाव ही
क्षण में बदल देता सुख बन जाता है ।
भूमिपुत्र होना तो मेरे भाग्य का सुयोग है
भूमि पुत्र मैं तो मुक्त मानव--हृदय है ।"

पर निरन्तर पदाघातित होने पर तो धरा भी भी पद-प्रहार कर देती है सुकत सरल भूमिपुत्र निरन्तर प्रताड़ित होने के बाद नाना अमानुषिक अत्याचारों में [illegible] जीवन व्यतीत करने में असमर्थ होकर क्रान्ति और विद्रोह का अवशिष्ट [illegible] ग्रहण करता है । आर्थिक असमानता ही विद्रोह को जन्म देती है —

सावधान भूमिपति ! हममें भी शक्ति है
भूमिपुत्र सर्वदा है भूमि बल जानते
पशुबल कौशल तो सीमित तुम्हारा है
आत्मबल की हमारे पास सीमा है नहीं ।

आकाश से बातें करते प्रासाद झोपड़ियों की वेदना को और गहरे रंग जाते हैं । उत्तर जनों की स्मृद्ध -हंसती-ज्योति हमारी विपन्नता के अंधकार को बढ़ा देती है । ग्राम में गोदन-बेला है पर निर्धन ब्राह्मणाचार्य का एकमात्र पुत्र चावल का घोल पीकर "पिता ! आज मैं दूद पिया गाय का, गाय का दू पिया ! दूद पिया गाय का" -- कहता हुआ आया तो द्रोण पर --"

अशनि निपात हुआ, हाय! मेरा पुत्र, तू
जग में अनाथ जैसा एक घूंट दूध भी
भाग्य में तेरे है क्या ? और मैं पिताश्री हूं
.... कुत्सित है द्रोण ! सब तेरी शक्ति व्यर्थ है ।"

यही असफलता का बोध उन्हें कादग्नि के पास, राजा द्रुपद के पास और अन्ततोगत्वा भीष्म की राजसभा में ले जाता है । द्रुपद के प्रति वैमनस्य और प्रतिशोध की भावना से परिचालित द्रोण अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व को राज्याश्रय के नाम पर समाप्त कर देते हैं ।

इस असमान अर्थ वितरण से उत्पन्न वर्ग वैषम्य का समाधान कवि सशस्त्र क्रान्ति में नहीं, अपितु हृदय-परिवर्तन विश्वासी गांधीवाद में खोजता है । गांधीवाद सर्वोदय की उस मांगलिक भूमिका पर अधिष्ठित है जो "सर्वे भवन्तु सुखिन: ...." के रूप में आर्य संदेश रहा है । इसी से करांची में भाषण देते हुए बापू ने कहा था कि गांधी मर सकता है पर गांधीवाद सदा जीवित रहेगा क्योंकि वह ऋषि परम्परा प्रेरित है ।" गांधीवाद का लक्ष्य प्रत्येक व्यक्ति के समय और सुविधाओं का उपयोग एक ऊंचे उद्देश्य के लिए करना है ।[1] आत्म पीड़ा और आत्म बलिदान

१- महात्मा गांधी का समाजवाद, पृ० ५६ — पट्टाभि सीतारमैया

को यहां बड़ी महिमा है । बीज आत्मोत्सर्ग द्वारा फल की मधुरता में [illegible] होता है और व्यक्ति अपने स्वार्थ को परोपकार के लिए त्याग कर आत्मदमन द्वारा ही ऊपर उठता है[1]। दधीचि के समान त्यागी एकलव्य भारतीय संस्कृति की परोपकारी वृत्ति का निदर्शन है । गांधीवाद और मार्क्सवाद का सहारा लेकर कवि ने भौतिकता और आध्यात्मिकता का समन्वय करने की चेष्टा की है । जहां एक ओर यह सत्य है कि मानव पशुजनी नहीं है , वह निरन्तर उच्च मूल्यों और आर्थिक अर्थवती छवियों के अन्वेषण में अभिरत होता है वहां दूसरी ओर उसकी भौतिक जैविक [illegible] और उनकी पूर्ति के लिए किए जाने वाले प्रयास भी सत्य हैं । शरीर की पूर्ण उपेक्षा करके अध्यात्म को नहीं पाया जा सकता । निवृत्ति द्वारा ही नहीं प्रवृत्ति द्वारा भी ज्ञान प्राप्त होता है-- राजर्षि जनक साक्षी है । "क्या आता है ज्ञान उसी को जो निज जननी त्यागे" — यह प्रश्न उन असंख्य माताओं पर है जो दयानंद, रामतीर्थ जैसे पुत्रों की जननी थीं ।

मृत्यु की विभीषिका और अनिवार्यता से कभी भी भारतीय मेधा संत्रस्त नहीं हुई । जन्म और मृत्यु के नैरन्तर्य में विश्वासी होने के कारण निराशा, अनास्था और संशयों का प्रादुर्भाव नहीं हो पाता । एकलव्य को विश्वास है कि यदि यह सिद्धि अन्वेषण में मृत्यु को प्राप्त हो जाता तो भी "जीवन" प्राप्त होगा —

मरण की यमुना में जीवन सरस्वती
गुप्त रहती है, वह मिट नहीं पाती है
संचरणशील है, सदैव कण कण में,
जड़ नहीं जड़ वह [illegible] है ।

१— वायु बहती है जैसे प्राण वायु ही
फूल भी सावन में खिलखिलाते हैं
मूलमंत्र उनके विकास का उत्सर्ग है
टूट जाने पर भी क्लान्त नहीं होते हैं ।
— [illegible] पृ० [illegible]

२— तुलसी० जन्म है मैं जैसे मृत्यु [illegible]
और मृत्यु में जैसे अंकुर जन्म का है ।

जीवन वेदना की रंगभूमि नहीं है । निराशा और उदासी स्थायी नहीं है । जिस प्रकार दिन के बाद रात का आगमन अनिवार्य है, उसी प्रकार दुःख की नील रजनी के बाद सुख के नवल प्रभात का आगमन अवश्यम्भावी है । जीवन एक मंच है । कभी प्रेम का प्रकाश लालिमा सा फैलता है तो कभी घृणा का तिमिर बढ़ जाता है ।[1] उस प्रत्यावर्तन में दुःख और निराशा के थपेड़ों में मानव-मन हार जाता है । सुख निमिष मात्र को आता है और दुःख की लम्बी दृष्टि है जो हमें आंसुओं और सिसकियों में गुज़ारनी होती है । एकलव्य को गुरु ने शिक्षा का अनाधिकारी करार किया, कितना दुःखी और विवश रहा होगा महत्वाकांक्षी एकलव्य । बाधाओं ने उसके जीवन को निषेधात्मक नहीं सकारात्मक दृष्टि दी —

अरे, यह जीवन विभूति को है म मा की
सुख तो छिपा है यहां सृष्टि के विकि(में
खोजो उसे । दुःख तो विवशता तुम्हारी है
बालक तुम्हारी सृष्टि श्रम का न अंग है ।

मानव-जीवन निराशा का दाई नहीं है । `सुख दुःख बादलों की तरह उड़ जाते हैं ।` उनका अस्तित्व होजब क्षणभंगुर है तो उनको लेकर शोक क्या करना ? जिन्दगी के संग्राम से थके -हारे उदास-मानव को `उत्तिष्ठित जाग्रत` का संदेश दिया गया है —

ये विहंग मादक है, कलकंठ वाले हैं
किसने इन्हें उदास देखा है प्रात: संध्या में
गीतों के बन्दनवार बांधते दिशाओं में हैं
मंगल त्योहार के सदा से अग्रदूत है ।

\+ + +

जीवन नैराश्य की भूमि नहीं मानवो ।
सुख-दुःख बादलों की भांति उड़ जाते हैं ।
शक्ति मिटती नहीं है,अवतार लेती है
सुखी होवे,सुख भोग्य तो बनो सभी ।

1- एकलव्य,पृ० २०१

आस्था और विश्वास जिन्दगी को जितना बनाते हैं, अनास्था, शंका और अविश्वास उतना ही बिगाड़ते हैं। मां को विश्वास ही नहीं होता कि उनके शुद्र पुत्र को राजगुरु शिक्षा देंगे पर एकलव्य के सामने यह प्रश्न ही नहीं उठता--

"यदि नहीं मानेंगे ?"

मानेंगे वे क्यों नहीं, मां पास यदि उनके

मंत्र शक्ति है तो भक्ति शक्ति मेरे पास है। -- और

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि इसी भक्ति शक्ति के सहारे मृत्तिका में प्राण-प्रतिष्ठित हो जाते हैं। कवि यह भली प्रकार जानता है कि "गई बात का गीत बना कर कैसे तुम आओगे ?" अत: आस्था, अकर्मण्यता, साधना आदि अनेक मानवीय गुणों के आख्यान-- गायन द्वारा कवि ने वर्तमान में भविष्य का बाण बेधा है[1] -- यही महा धनुर्धर के जीवन को इतिहास के सन्दर्भ में पर्यालोचित करने वाले विवेक का सार-संचयन है।

एकलव्य और नीतिबोध

"नैतिकता के सन्निवेश से काव्य शाश्वत बन जाता है। सभी प्राचीन साहित्य नीति सम्मत होने के कारण, आज भी पथ प्रदर्शक हैं। अत: साहित्य में नीति का अंश उसके जीवित रहने का अवलम्ब माना जा सकता है।"[2] अत: [illegible] महाभारत से महाकाव्य का आधार चुनते समय कवि-मानस में अपने काव्य ग्रन्थ में [illegible] को उचित स्थान देने की [illegible] अवश्य विद्यमान रही होगी। एकलव्य को शिक्षा का अधिकारी घोषित करना धर्म के नाम पर किया जाने वाला जितना अनैतिक कर्म था उतना ही अनैतिक है बिना उनकी परिस्थितियां और उद्देश्य की जानकारी के, आचार्य द्रोण पर अंगूठा दक्षिणा में ग्रहण करने का कलंक। एकलव्य आकाश की ऊंचाइयों का महाकाव्य नहीं है भूमि के यथार्थ का काव्य है जिसमें जीवन की स्वाभाविक दुर्बलतायें प्रकट [illegible] से उखड़े हुए

१-- एकलव्य, पृ० १

२-- साहित्य शास्त्र, पृ० ११ -- डा० रामकुमार वर्मा

पेड़ों की तरह मुलुंठित हो रही है ।" नैतिकता ऐतिहासिक रूप से निश्चित उस चेतनता को कहते हैं जिससे भले-बुरे तथा न्याय-अन्यायों के सामान्यों (Concepts) का विकास होता है । धर्म काफी लम्बे समय तक हमारे नैतिक बोध का मेरुदण्ड रहा है । कालान्तर में धर्म ने अपना स्वरूप खो दिया और तत्प्रसूत कर्तव्यशास्त्र संबंधी सार्वदेशिक मूल्यों को समाज की अवस्था विशेष की आर्थिक रचना ने या तो समूलत: नष्ट कर दिया या उनके आगे प्रश्न चिह्न लगा दिए । मार्क्सवाद यह मानता है कि सार्वदेशिक नैतिक नियमों की रचना तभी सम्भव है जब समाज का अन्तिम समन्वय अर्थात् वर्गहीन समाज की स्थापना हो जाए । नैतिकता का विमर्शात्मक पहलू ही कवि को अभिप्रेत है —

नीति हो तुम्हारी मति और क्षमा गति हो
गति हो तुम्हारी एकलव्य के प्रहार सी ।"

नीति से जब मति का अंश निकल जाता है तो वह रूढ़ि किंवा अनीति बन जाती है । शूद्र को विद्या-दान देना अनैतिक है या स्त्री और शूद्र के कानों में वेद-मंत्र पड़े जाने का प्रतिफल उनके कानों में गर्म शीशा डाल देना है जैसी भेदभाव को लेकर चलाने वाली नीति (?) ने धर्मान्ध स्वतन्त्र-मतिहीन हिन्दु जनता को काफी पथभ्रष्ट किया । निस्पृह उदारचेता आचार्य-वर्ग भी शिक्षा जैसे सर्वजनीन अधिकार को वर्ग विशेष में सीमित कर देते हैं —

जानता हूं भेदभाव आप नहीं मानते
किन्तु नीति आपसे ही यह मनवाती है ।

हमारी मति और आत्मा जिसे अविकल स्वीकारे वही नीति है । "क्षमा" युगों से स्वीकृत मानव-मूल्य रहा है । भृगु के पदाघात को भी क्षमा कर देने वाले विष्णु का आदर्श लेकर चलने वाली भारतीय जनता ने विदेशी शासन की असह्य दासतायों को मौन रह कर सहा । अपनी असमर्थता को "क्षमा" और "अहिंसा" के आवरण में छिपा लेने का प्रयास मानसिक और शारीरिक दुर्बलता का परिचायक है । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने "श्रद्धा और भक्ति" का विवेचन करते समय उदाहरण दिया है कि गुरुदेव पर आघात पर आघात करने को तत्पर अत्याचारी के हाथ को पकड़ लेना ही प्रथम कर्तव्य है । गुरु द्रोण की याचना रख प्रक्रिया के

सम्मुख निरन्तर भौंकने वाले श्वान को क्षमा नहीं किया जा सकता —

"मेरे गुरु के समक्ष भौंकता रहे
और मैं क्षमा करूं, क्या यह न्याय है ?"

नम्रता और क्षमाशीलता का अर्थ अन्याय का प्रतिकार न करना नहीं है — इसी प्रकार अहिंसा का अर्थ कायरता को प्रोत्साहन नहीं है[1]। वीरता और बाहुबल के साथ स्वार्थ टिक नहीं सकता, क्योंकि शक्ति और पौरुष की उपादेयता दलितों के सहाय करने में है। वीरता का प्रदर्शन निर्बल पर अत्याचार करने में नहीं, अपितु दलित को ऊपर उठाने में सन्निहित है। यही कारण है कि हंस को मारने वाले देवदत्त को नहीं अपितु उसके मरणासुर प्राणों में जीवन संचार करने वाले बुद्ध का, कलिंग युद्ध में असंख्य नर-नारियों की बलि देने वाले चंडाशोक का नहीं अपितु प्राणिमात्र के दुःख को करुणा का दान देने वाले बुद्ध का संसार आज भी यशोगान करता है। "दुःख-कूप में पड़े स्वजन को बाहुबल से बाहर निकालने वाला ही वीर है।" एकलव्य की दृष्टि में बाणादि शास्त्रों की अर्थवत्ता "रक्षण" में है —

"पंछि-शावकों के लघु मन पंख दीर्घ हो सकें
उसके लिए तो प्रभु ! करुणा का बल हो
उनके लिए जो प्रयोग हो विष बाण का
हिंस्र-पशुओं के लिए जिसका प्रयोजन हो ?"

इसी प्रकार गदा का अर्थ जीव को नष्ट करना है। वज्र का अभिप्राय दस्युओं के प्राण ले लेना है। चक्र की सार्थकता चक्र का विनाश तथा जो त्राण में रक्षक है उसी का नाम कृपाण है[2]। एकलव्य के हाथों में धनुष-बाण लेने का यही अभिप्राय था कि हिंस्र जीवों से असहाय पशु-पक्षियों की रक्षा हो सके[2]।

१- "I do believe that where there is only a choice between cowardice and violence, I would advice violence", Young India, Aug. 11, 1920 - Bapu.

२- एकलव्य, पृ० १३

३- [illegible]

[illegible] ॥

— गीता २।३४

सच्चा वीर विद्वेष रहित होता है । पार्थ की कुंठित शक्ति वैमनस्य और विद्वेष की जन्मदात्री है,जब कि उसे प्रेरणा के रूप में दूसरे वीर का वीरता को ग्रहण करना चाहिए था । द्रोणाचार्य यहाँ प्रश्न करते हैं कि तुम वीर विशेषण के पदाधिकारी हो ही कैसे सकते हो जब कि किसी अन्य वीर की महान् साधना तुमको प्रसन्न करने में असमर्थ है ।" व्यक्ति सागर जैसी गम्भीरता लेकर ऊपर उठता है न कि जरा से विक्षोभ से असंख्य ऊर्मियों को जन्म देने वाले छिछले चांचल्य को लेकर ।" प्रिय शिष्य को गंभीर होना चाहिए" -- क्योंकि विचारणा विहीन भावावेश का दुष्परिणाम स्वयं द्रोण भोग रहे हैं ।

एकलव्य से रुष्ठ है, माँ भोजन कराना चाहती है ।" मेरी बात यदि मानने का वचन करती हो" -- कहकर एकलव्य खाने को तैयार है । पर बिना सोचे-विचारे किसी प्रण को करने की बात उन्हें समझ नहीं आती । पार्थ को अद्वितीयता का वर देते समय राजनीति के आकर्षण और द्रुपद से अन्याय का प्रतिकार लेने की दुर्दमनीय भावना ने द्रोणाचार्य की [illegible]-शक्ति को इतना आक्रान्त किए हुए था कि उनके सामने उक्त वरदान जन्य अपर पहलू उनकी दृष्टि से ओझिल हो गए । एकलव्य की महान् साधना के सामने अपने उस गुरु को छोटा पाते हैं जिसने प्रतिज्ञा की है सोचे विचारे बिना ।" पार्थ से वरिष्ठ शिष्य एकलव्य के कारण जन्म लेने वाले लोकापवाद राजद्रोहजन्य ग्लानि....

" किन्तु चिन्ता कैसे ? यह दण्ड मेरे योग्य है
निन्दा,अपयश-भागी बना सब भांति मैं
जो कि भावावेश में प्रण कर लेते हैं
उनका सौभाग्य सदा बनता दुर्भाग्य है ।"

दृढ़ निश्चयवान, दृढ़ प्रतिज्ञ होने से व्यक्तित्व की संकल्प शक्ति का बोध होता है । मानव का पौरुष, उसके कर्तृत्व-संपोषित-स्वप्न ही उसकी प्रगति के मूल हैं । दृढ़- संकल्प होने के बाद एकलव्य को माता के दुलार, नागदत्त के आग्रह न रोक सके । किसी कार्य को करने का एक बार निश्चय करने के बाद यदि नहीं किया जाता तो यह वीरता का अपमान है । साधना और अभ्यास में

१- श्लोक० अकीर्तिं चापि भूतानि, कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् ।
संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥
गीता २।३४

एकलव्य (ध्रुव'से कम नहीं है । द्रोण ने स्तद्विषयक जो उपदेश पार्थ को दिया उसका वास्तविक प्रयोग- भमि एकलव्य का चरित्र है --

> चाहते हो लाघव जो तुम प्रिय ! सत्य ही
> तो अभ्यास नित्य और नियमित रूप से
> तुम करो वत्स ! चाहे दिन हो या रात हो ।
> तम में तुम्हारा हाथ जैसे मुख में गया
> तीर उसी भांति तम में भी लक्ष्य बेधेगी ।[1]

तपोवन में फलने फूलने वाली भारतीय संस्कृति ने इस सांसारिकता को उपेक्षणीय नहीं माना । इहलोक और पर लोक दोनों के अभ्युदय में सक्षम धर्म की अवधारणा में सफल समादृत सामाजिक व्यक्ति के लिए कुछ कर्तव्यों,जिन्हें 'ऋण' कहा गया है, की परिकल्पना का गई है । ऋषि ऋण,देव ऋण,पितृ ऋण के निस्तार बिना जीवन सार्थक नहीं होता । शिक्षा-अर्जन के उपरान्त पिता के गुरुकुल में शिक्षा-दान करते हुए द्रोणाचार्य को पितरों का आदेश हुआ-- पुत्रवान बनो तभी होगी सद्गति । अतः उन्होंने गृहस्थ जीवन में प्रवेश किया । भिक्षावृत्ति पर जीवित रहने वाला ब्राह्मण, शूद्र के समान , अधर्मानुकूल दान लेने से अपने पद और जाति की गरिमा से गिर जाता है । आश्रम में अर्थ संकट था, गुरु द्रोण देश-विदेश में घूम लिए पर प्रेम से शुद्ध-दान न मिल सका । फिर यदि दान लिया तो एक अभिशापित साधक की साधना के उत्स दाहिने अंगुष्ठ को मांग लिया -- क्या यह दान नीति-सम्मत था ? धर्म परिपुष्ट था ? आधुनिकता के सामने यह ज्वलंत प्रश्न है कि एक ओर आप यह प्रचार करते हैं कि दान दी हुई वस्तु का पुनर्ग्रहण पाप है दूसरी ओर धनुर्वेद की शिक्षा देने का अर्थ ही क्या रहा जब कि दाहिना अंगूठा ही काट लिया । यह तो ऐसा ही हुआ जैसे कोई मिष्ट-भोजन देकर जीभ काट ले --

---

१- एकलव्य,पृ० ३७

"आर्यगण वस्तुएं जो एक बार देते हैं
उसे लौटा लेना फिर, उनका क्या धर्म है ?
हम तो समझते हैं, दान हुई वस्तु को
फिर से ग्रहण कर लेना पाप है ।"[1]

द्वेष, अहंकार, स्वार्थ आत्मा के शुद्ध स्वरूप को ढक लेते हैं । अहं को ठेस लगने पर विक्षिप्त हुआ मानव कर्तव्याकर्तव्य के सामान्य विवेक को विस्मृत कर बैठने के कारण अनेक अकांड तांडव कर बैठता है[2] । राजा पद पर समासीन बाल-मित्र के अपमान ने ब्राह्म तेज को प्रदीप्त किया और प्रतिशोध के लिए राज्य में आकर आश्रम-धर्म की मर्यादा को बेंच देते हैं । "पार्थ हो एकमात्र अद्वितीय शिष्य हो" — इस भावना के मूल में गुरु का व्यक्तिगत स्वार्थ (द्रुपद से प्रतिकार) ही सन्निहित था । वीर एकलव्य के लाघव ने अर्जुन के अहंकार को अनजाने ठेस पहुंचाई और परिणामत: सिद्धि तक पहुंची एकलव्य की साधना को नष्ट होना पड़ा और वह भी उन गुरु के द्वारा जिनकी मिट्टी की प्रतिमा को प्राणों के आवेग और मानस की श्रद्धा से शिष्य ने बनाया था —

किन्तु दुर्भाग्य है कि राहु तमो ग्रस्ता है
जब पूर्णकला युक्त होता बालचन्द्र है ।

द्वेष का जन्म भी इसी पीठिका में होता है । दूसरे की प्रगति को देखकर अपनी असमर्थता और लघुता के बोध से मानस को जो निष्क्रिय ग्लानि होती है उसका प्रतिक्रियात्मक रूप ही द्वेष कहा जाता है । यह द्वेष एक ज्वालामुखी के रूप में मन के अतलान्त गर्भ में प्रच्छन्न रहता है जो क्षण-क्षण में आग की लपटें

१- एकलव्य, पृ० ३७

२- एक अहंकार है जो कुछ छद्म रूप से
वामन सा आता है विराट बन जाता है
"मैं" का पद नाप लेता है त्रिलोक क्षण में
होता "स्वार्थ बुद्धि के विशाल भाल में
सारी शुभ वृत्तियां पाताल चली जाती हैं
एक "मैं" का अखंड राज्य होता जब है
पार्थ । तब स्वार्थ कलंक लिए आता है
उसकी कलुषता है ... है फैलती ।
—एकलव्य, पृ० ६०

फेंक कर हरे भरे सौभाग्य नष्ट कर देता है । यह एक ऐसी अग्नि है जो स्वयं तो जलती ही है औरों को भी जलाता है । दूसरों के गौरव-शिखर पर वज्र के समान टूट पड़ने वाले इस द्वेष ने कभी यह जानने की चेष्टा नहीं की है कि पर्वत -शिखर तक जाने में कितनी साधना का योग रहा है[1] असफलता पर सेतु बांधने वाले एकलव्य ने कितना अभ्यास किया, न जाने कितनी बार चन्द्र-सूर्य उसका साधना को देख-देखकर अस्त हो गए -- उसे दिनमान और रात्रिमान का भी परिज्ञान न रहा क्योंकि 'यानिषा सर्वभूतानां तस्यांजागति संयमी ।'

असफलता पर मैंने सेतु बांधा देव ।
अश्रु भरी प्रार्थना है जिसकी सफलता
शिला स्वर्ण हो गई उसे हो अभ्यास से
जोड़ गाड़े श्रम से आयत्त कर डाला है ।

द्रोणाचार्य घोषणा करते हैं कि --" अहंमात्पूर्ण पार्थ तुमसे महान् हो यह धारणा तो पूर्ण मिथ्या है त्रिकाल में ।" एकलव्य वाणी का सफल प्रयोक्ता है । निर्बन्ध और असंयत वाणी अपने कटु-प्रहारों से न जाने कितने पल्लव प्रसूनों को मुंठित कर जाती है --

जिसको न संयम है स्व वाणी के प्रयोग में
उसको क्या ध्यान होगा अति और न्यून का ?
व्योम भकभोरता मरुत चलता है जो
वह क्या रखेगा ध्यान पल्लव-प्रसून का

१- तु० की० यह द्वेष दूसरे के गौरव शिखर को
देख टूटता है वज्र सा खिंच के
-- एकलव्य,पृ० ६१

तथा
हम नीचे तलहटियों के रहने वाले
कैसे भला देख पायें
उन हिम-किरीट-मण्डित शिखरों को ?
कैसे भला जान पायें हम
कितना ऊंचा चढ़ जाने के बाद
छोड़ा था बहता पसीना ने ?
-- राम "नीचे .. टिया है"

हास्य के सहारे कटु व्यंग्यों बाणों से प्रतिभा को आहत करने का प्रयास किया जाता है "कुल कामिनी के मुक्त मुख जैसे ओठ में, हलाहल बुझे नाराच हों।" एकलव्य शिक्षा प्राप्ति के लिए याचना करता है। द्रोणाचार्य उसका उपहास उड़ाते हुए कहते हैं कि उसके योग्य शर-क्रीड़ा ही है, "शर क्रीड़ा, हां हां, मिलती है शर-क्रीड़ा से।" और इस मर्मभेदी व्यंग्य ने एकलव्य के जीवन की दिशा ही बदल दी। "क्योंकि तीक्ष्ण वाक्य-बाण मुख से निकल के उर में प्रवेश पाते हैं सदैव के लिए।" पार्थ की व्यंग्य-स्मिति और छद्म-गुरु-निन्दा ने ही दक्षिणा में दाहिना अंगुष्ठ लेने जैसे जघन्य कर्म के लिए उत्प्रेरित किया --

तुम नहीं वत्स! यह समय ही क्रुद्ध है।
जिसका कि दक्षिणांगुष्ठ शक्तिशाली बन
निन्दा के नाराच छोड़ता है उग्र वेग से,
जिससे कि खंड खंड गुरु का हृदय है। --

सच्चा शिष्य एकलव्य गुरु के खण्ड खण्ड होते हृदय को भला कैसे देख सकता था? उसने गुरु-प्रण की पूर्ति के लिए, पार्थ को विश्व में अद्वितीय धन्वी बनाने के लिए अपना अंगूठा काट दिया। यहां आकर ऐसा लगता है कि "संसार भर के उपद्रवों का मूल व्यंग ही है।"

शिष्टाचार नीति का हल्का रूप है। एकलव्य में भारतीय संस्कृति के इस अंग पर यथेष्ट प्रकाश डाला गया है। प्राचीन शिक्षा प्रणाली के सामान्य आदर्श, राजा-प्रजा के पारस्परिक सम्बन्धों की अवधारणा, सामाजिक जीवन का आधार-प्रवृत्तियां-- सभी कुछ सजीव मुखरित है। आपका नाम क्या है -- इस वाक्यांश का प्रयोग न करके पूज्य आचार्य का परिचय प्राप्त करने के लिए पूछा -

"प्रभो! करें कृतार्थ परिचय दे हमें
आपका सुनाम किन अक्षरों की शोभा है
आप किसी वंश के प्रदीप्त मणि-दीप हैं?"

द्रोण उनकी इस शिष्टता से प्रसन्न हो उन्हें अपना शिष्य बनाने को तैयार हो गए परन्तु इस आग्रह के साथ कि राजपुत्र पहले अपने गुरु-कृपाचार्य से आज्ञा लेनी अनिवार्य है। जिसका पक्ष निर्बल हो, उसे झुकना होता है। ज्ञान प्राप्ति की अदम्य [illegible] गुरु व्यक्ति को [illegible] राग-द्वेष से उपरत होना अनिवार्य है क्योंकि " [illegible] शिष्य किस गुरु ने बनाया है?"

भूमि विश्वम्भरा है । 'भूमि पुत्रोऽहं' मानकर चलने वाली आर्य संस्कृति में भूमि को माता के रूप में परिकल्पना करके जन-जीवन को महत्ता दी है । मानव में भी क्षिति का अंश अधिक तथा आकाश तत्व कम होता है । यथार्थ का भूमिका को महत्ता देकर ही व्यक्ति-चेतना अपना विकास कर सकती है --

वह भूमिकण ही है, रत्नकण है नहीं
जो कि सूखे बीज को सजीव कर देता है
नवल ज्योतिमा में उस एक बीज को
शत-शत करता है मोद में सृजन के ।

न जाने कितनी वर्षा-पानी, सर्दी-गर्मी में रात-दिन एक करके छोटा सा अंकुर खेतों में लहलहाता है । अन्न, जीवन का प्राण है । उसे उत्पन्न करने में कितने श्रम बिन्दुओं का योगदान होता है अत: उसे व्यर्थ करने को 'पाप' की संज्ञा से अभिहित करना अनिवार्य था -- 'शेष अन्न छोड़ना भी एक पाप है ।'

कोई भी कर्म अपने आप में नैतिक या अनैतिक नहीं होता है । परन्तु वह स्वयं अच्छाई या नैतिकता नहीं है । गुरु द्रोण द्वारा प्रिय शिष्य का अंगूठा दान में मांगना अनैतिक कार्य कहा जाता है । किन्तु उच्च सदाशयता और परिणाम को दृष्टि में रखकर जिसप्रकार सिकन्दर को मारने वाला ब्रूटस बुरा नहीं था उसी प्रकार आर्य जाति की रक्षार्थ एकलव्य का अंगूठा दान में मांग लेने वाले आर्य द्रोण 'आचार्य' शब्द को लांछित नहीं करते । कवि का इस काव्य की उद्भावना में यही अभीष्ट विधेय रहा है कि आचार्य शब्द लांछित न हो[1] । यदि एक ओर शुभ परिणाम के लिए यथाकथित अनैतिक कर्म करने वाले आचार्य द्रोण का अन्तर्द्वन्द्व है तो दूसरी ओर 'साधुता को स्वं अपना साध्य' , मानने वाले वीर एकलव्य की एकनिष्ठ साधना है । केवल महाभारत युग की व्यापक दृष्टि ही यहाँ अंकित नहीं है प्रत्युत आधुनिक युग की मान्यताएं , मूल्यान्वेषण सम्बन्धी उपलब्धियाँ भी संचित हैं । वस्तु, इस महाकाव्य में मानव की विकसित चेतना की नई [illegible] की निरन्तर पूर्ति करने का प्रयास किया गया है[2] ।

१- अपनी बात, पृ० ५ -- एकलव्य
२-" It (Epic) should continually responds to the new needs of man's developing consciousness."

राजनैतिक आर्थिक संघटन

एकलव्य महाकाव्य अतीत की पृष्ठभूमि पर अंकित चित्र है जिसमें महाभारत उल्लिखित धर्म,दर्शन,राजनीति और समाज का अद्भुत दृष्टि पाई जाती है । आशामय उज्ज्वल नव-प्रभात देखने के कारण एकलव्य अपने सामाजिक और राजनैतिक परिवेश से विद्रोह करता है । 'राज्य' नायक संस्था का जन्म मानव कल्याण और सुरक्षा के नाम पर हुआ । पर विश्व इतिहास यह बतलाता है कि विभिन्न विचार पद्धतियों का (ideologies) को प्रचारित करने के ध्येय सामने रखकर अत्याचार और उत्पीड़न भी बहुत हुआ है । तानाशाह,राजतंत्र कुलीन तंत्र आदि अनेक प्रशासनों से अभिभूत-आक्रान्त जनता के गुणात्मक विकास के लिए 'समाजवादी-जनतंत्र' सामने आया । इस पूर्ण जनतंत्र में भौतिक पदार्थों के उत्पत्ति,वितरण एवं शिक्षा आदि पर राजकीय नियंत्रण न होने से समस्त नागरिकों को आत्मविकास तथा उन्नति के समान अवसर प्राप्त होंगे । एकलव्य जैसे मेधावी शिष्य मात्र जातिभेद के आधार पर जीवन-विकास की दौड़ में पिछड़े रह जाने को विवश नहीं किए जा सकेंगे[१] । आधुनिक समाजवाद के तीन प्रमुख प्रवर्तक फार्डिनेण्ड लसाले, कार्ल मार्क्स तथा फ्रेडरिक एंगेल्स ने रचयिता को प्रमुख मात्र में प्रभावित किया है ।

'शिक्षा और राजनीति साथ वर्ज्य हैं' -- इस महाकाव्य की प्रमुख समाजवादी अवधारणा है । भूमिपति भूमि के प्रशासक हो सकते हैं, किन्तु सरस्वती के शासक नहीं ।' राजदंड तो विधान करता है राज्य का किन्तु सरस्वती निवासिनी हृदय की ।' जब गुरुकुल का आचार्य राजगुरु बन जाता है,शिक्षा नीति और राजनीति के इशारों पर चलती है तब कल्याणी सरस्वती का प्राण

१- जातिभेद नहीं,वर्ग वंश भेद भी नहीं
शिक्षा प्राप्त करने के सभी अधिकारी हैं
सूर्य की किरण भी क्या जाति भेद मानती ?
-- एकलव्य,पृ० २२२

भी जड़ स्वर्णमयी हो जाता है । ऐसी ही स्थिति में द्रोण एकलव्य को शिष्यत्व प्रदान करने में असमर्थ हैं क्योंकि राजगृह में मणिदीप सजाने वाले के मन में फूंकों से बुझ जाने वाले कुटिया के माटी के दीपों का मोह अवशेष नहीं रहता है।[1] एकलव्य भेदभाव मनवाने वाली विषाक्त राजनीति से दूर प्रशान्त तपोवन में प्रतिमा के रूप में आचार्य को स्थापित करके धनुर्वेद विशारद बनता है । आचार्य द्रोण अपने को धिक्कारते हैं पिता भारद्वाज के उज्ज्वल आदर्श को गुरुकुल की स्थापना द्वारा न बढ़ाकर उन्होंने राजदंड की सहायता से सरस्वती को स्वार्थ-शिविका की वाहिका बनाया —

सरला सरस्वती को वाहिका बनाया है —
निज स्वार्थ शिविका का जिसमें मैं बैठा हूं ।
उसके पवित्र सुकुमार कंधों पर हा !
राजनीति दंड का सहा रहा हूं भार मैं ।

राजकुल-सेवी होने पर भी वे स्वीकार करते हैं कि 'शिक्षा की बेली बढ़ती है, जब बंधनरहित हो ।' हस्तिनापुर में राजकुल में शिक्षा प्रदर्शन की दासी है और साधना की प्यास द्वन्द्व-प्रतिद्वंद्विता की लम्बी मरु-भूमि में मृग जल में ही प्यासी है । वहां आचार्य द्रोण 'गुरु' नहीं है, वहां 'आसन' के स्थान पर मंच है । कितने विवश हैं राजगुरु द्रोण कि अपने उस प्रिय शिष्य का अभिनन्दन भी मुक्त हृदय नहीं कर सकते जिसने अपनी साधना से धनुर्वेद-कला-पूर्ण इन्दु को अवतरित किया है । उनकी हृदय-सिंधु में उठने वाली भावतरंगें इन्दु को छूना चाहती हैं पर अपनी [illegible] में गिर गिर जाती हैं —

कितना अभ्यास किया तुमने स्वयं से
कौन दूसरा करेगा इस पृथ्वी तल में
अहंकार शून्य हुए तुम जिस भांति हो
वैसा होगा कौन, योग्य बनकर इतना ?
गुरु-भक्ति तुमने जिस भांति व की शिष्य हो
रेखा कुछ खींची ऊंचा को क्षितिज रेखा से

1-एकलव्य, पृष्ठ १२६

है परोक्ष भक्ति तुम्हारी प्रत्यक्ष भक्ति से
कितना महान् ! यह युग कालात्मा !

विद्या विनय प्रदान करती है न कि उद्दण्डता का परिपोषण करती है। दुर्योधन की व्यंगमयी वाणी को सुनकर द्रोणाचार्य उसे यही उपदिष्ट करते हैं कि आर्य कृपाचार्य के शिष्य होकर भी आज तक स्पष्ट और शिष्ट वाणी नहीं सीखी ? अपने से ऊंचे तथा श्रेष्ठतर व्यक्तियों के प्रति आदर तथा श्रद्धा का भाव उत्पन्न करना भी शिक्षा का लक्ष्य है। "श्रद्धावान लभते ज्ञानं"। पार्थ में एकलव्य की सी श्रद्धा कहां ? पराजय का निविड़ बोध इतना हत-क्लान्त बना देता है कि पार्थ गुरु-निन्दा करता है --

सावधान पार्थ ! गुरु निन्दा के कुशब्द ये
कैसे यों निकलते हैं, एक क्षण सोचिए
गुरु हैं समर्थ, यह शिष्य की है असमर्थता
शिक्षा प्राप्त करने में वह अकुशल हो ।

एकलव्य का मनोरथ रथ के समान है। अगले भाग में श्रद्धा सारथी भी समासीन है। कामना-कोदण्ड,शील-शिलीमुख और सत्य के समान सीधी प्रखर प्रत्यंचा है[1]। वह गुरु सेवा में अपनी अस्थियों का समिध लेकर आता है[2]। यह दृढ़ संकल्प करके कि "यदि लक्ष्य भेद में सफल न बनूं तो काट के समर्पित करूंगा अंगुष्ठ में।" विधि की महान विडम्बना कि वह जीत कर हार गया। "जिसने एक शब्द भी ज्ञान का उपदेश दिया उसका ऋण आजन्म नहीं चुकाया जा सकता।" "कुछ भी अदेय नहीं गुरुदेव को।" तथा "गुरु को बचाना अपकीर्ति से ही धर्म है

१- एकलव्य,पृ० १२५

२- सेवा में समिध लाया हूं निज अस्थि को
    ब्रह्मचर्य साधना की स्तंभ बना लूंगा मैं
    बन्धा के समान देव ! पथ में झुका है
    शुचितीर धारणा हो, जिसकी प्रत्यंचा सी
    यदि लक्ष्यभेद में न सफल बनूं मैं तो
    काट के समर्पित करूंगा अंगुष्ठ मैं ।
                — एकलव्य,पृ० १२७

शिष्य का , उसा में वह नित्य भाग्यशाली हैं -- का विश्वास 'एकलव्य' आदर्श श्रद्धा प्रवण शिष्य की साक्षात् मूर्ति है । आर्य द्रोण ने उसे शिक्षा प्राप्ति का अनधिकारी घोषित किया पर जैसे व 'राम' श्रवण मात्र से कबीर ने रामानन्द को अपना गुरु मान लिया था वैसे ही 'धनुर्वेद' शब्द गुरु मुख से सुनकर ही एकलव्य उन्हें अपना गुरु मानकर निर्जन में गोई सिद्धि को जाकर ढ ढ जगाता है[1] । शिक्षा को राजनीति के विधान नहीं बांध सकते, भेदभाव का कगार उसकी धारा का संकुचन संयमन नहीं कर सके । ओंठ भले ही दो होते हैं, आचार्य और अन्तेवासी को जातियां भले ही पृथक् हों पर उनसे निकलने वाली वाणी क्या समता, ऐक्य और न्याय की परिचायक नहीं है --

मेरे गुरु विप्र और शूद्र मैं निषाद हूं
किन्तु गुरुवाणी ही अमोघ अभिषेक है
किन्तु जो मिलती है वाणी वह एक है ।

जब राजनीति से शिक्षा पृथक होगी तभी यह सम्भव होसकेगा कि शिक्षा ऐसे व्यक्तियों को उत्पन्न कर सकेगी जिनमें मानव जाति की श्रेष्ठतम प्रवृत्तियां उसके सुन्दरतम सपने और महत्तम प्रेरणाएं, सृजनात्मक जीवन प्रक्रिया में पुनरुन्मेष पायेंगी[2] ।

सामाजिक और राजनैतिक वैषम्य आर्थिक वर्गभेद के कारण मित्रता जैसे सद्-सम्बन्ध भी दूषित हो जाते हैं । मैत्री का तात्पर्य पारस्परिक प्रीति तथा जीवन की आवश्यक हेतु स्थितियों का निर्माण नहीं रह जाता । स्वार्थ और स्वहित की रेती पर निर्मित होने वाला मित्रता का प्रासाद क्षणिक आघात से

१- जाऊँगा जहाँ सिद्धि पड़ी सोती है
उसको जगाऊँगा, कहूँगा मेरे योग में
केवल दिवस ही है रात नहीं होती है ।
— एकलव्य,पृ० १११

२- संस्कृति का दार्शनिक विवेचन,पृ० ३४५ — डा० देवराज

धूल -धूसरित हो जाता है । बाल मित्रता को लेकर एक ओर कृष्ण ने सुदामा के चावलों का भोग लगाया तो दूसरी ओर राजा द्रुपद अपने बाल सखा से पूछते हैं संभ्रमित से --

मैत्री ? रही होगा, पर अब क्या है ? मैत्री है ?
किसकी है ? किससे है ? विप्र का नरेश से ?
+++ मित्रता सदैव समश्रेणी में होता है
आयु के समान मित्रता भी बीत जाता है ।

एक ही गुरु के शिष्य होने के नाते भाईचारे की भावना के पुनीत व संस्पर्श ,वर्तमान परिस्थितियों के वात्याचक्र में खो गए हैं । शब्दों ने ही नहीं अर्थों ने भी विपरीत लक्षणा का प्रयोग आरम्भ कर दिया है । औद्योगीकरण और नगरीकरण ने ग्राम्य अमूल्य और सरल सौहार्द का विनाश कर देने में कोई कसर नहीं उठा रखी है । एकलव्य की बाणविद्या को (द्रोण या अर्जुन ने की) पर कितने क कुंठित मन से । मानो बाण श्वान को न चूम कर उन्हें चुभे हों ।" आवें कभी कभी सेवायें स्वीकार करें लघु गुरु भाई को" -- एकलव्य के इस स्नेह निमंत्रण को बादलों में धिरे दिन से झुके मुख से"कभी आवेंगे" कहना क्या वास्तविक स्वीकृति थी ? --

गुरु भाई होके यह व्यवहार कैसा था ?
स्नेह स्निग्धता में सदा राजस है रखता
अथवा क्या नागरिक जीवन ही ऐसा है,
शब्द बोलने में विपरीत अर्थ देते हैं ।

आवश्यकता है ऐसे आर्थिक,राजनैतिक और सामाजिक संगठन की, जिसमें शिक्षा सर्वजन सुलभ पतितपावनी सुरसरि सी हो, मित्रता की अबाध भावनाओं पर वर्ग और जातिभेद का कुहरा न छाया हो । ऐसी स्थिति केवल जनतांत्रिक -समाजवादी व्यवस्था में ही सुलभ है -- यही कवि का निष्कर्ष है । राजनीति की दुर्लभ वारांगना में हृदय की कोमल भूमियां मुरझाकर क्षार न होवें, राजा अपने राजत्व में सहज मानवीयता को झुका न दे -- यह सफल [illegible] की प्रथम शर्त है ।" [illegible]काश की [illegible] में ध्यान से हृदय की बात भी भूलने वाले

राजा द्रुपद के शासन के प्रति विद्रोह की तीव्र ज्वाला अपने प्राणों में दबाए अनेक द्रोणाचार्य 'क्रान्ति' की प्रतीक्षा किया करते हैं --

सत्य यह जानूंगा कि मित्र नृप होने से
मित्रता का कंचुक उतारता है सर्प सा ।"

प्रो० लास्की का यह मत रहा है कि युद्धों का कारण हमारे समाज का वर्गमूलक संगठन है । पूंजीवादी समाज व्यवस्था में युद्ध अनिवार्य है । आचार्य द्रोण अपने पुत्र को दूध तक पिला सकने में असमर्थ हैं, वे सर्वहारा (Haves nots) वर्ग के प्रतिनिधि हैं जो चाहने पर भी सुखपूर्वक जीवनयापन की पद्धति नहीं निकाल पाता । मन में वितृष्णा हुई ऐसी स्वार्थी राजनीति के प्रति जिसमें शक्ति और अधिकार प्रवाहित और सुरक्षा में प्रयुक्त नहीं होते --

आततायी रूप लेकर राज्य नहीं चलते
राजा तो सदैव चलते हैं प्रजा-रक्षा से ।"

क्षत्रिय का कार्य देश की रक्षा करना है । यदि कदम्ब-कूप में कर्म-वीटिका पड़ी हो तो जीवन धनुष पर प्राण का तीर रख कर विजयी होना राजधर्म है[1]। गांगेय भीष्म की राजनीति निःसंशय संकेत से चलती थी जैसे भूमिभेद से तरु उगते हैं तथा सरितायें बह जाती हैं । परन्तु उसमें सभासदों और प्रजा प्रतिनिधियों का समुचित योगदान न होने से शोषित वर्ग को वाणी देने वाला कोई न था । राज्याश्रय में प्रस्तरखण्डों को चेतन कर देने वाली वास्तुकला विकसित हुई पर उसमें वह वेणी, कबरीभार लिए त्वंगी, नायक से मुंह फेरे मुग्धा मानिनी और कला में सिंची [illegible] नारी तक ही सीमित है । एकलव्य से दूर एक सच्चा शिल्पी है जो अर्थ के दुरु में चेतना स्फुरित कर धनुर्वेद-साधना कर रहा है । राजमंदिर के कला-प्रकोष्ठों में कला के प्राण सिसकते हैं । उसे चाहिए एकलव्य जैसे शिल्पी-साधक की प्रीति जिससे वह जन-जीवन के आंगन में खुली सांस ले सके ।

वस्तु, जनतांत्रिक समाजवाद की परिकल्पना को काव्य-चेतना में सन्निहित कर देने का प्रयास महाकवि ने किया है और मार्क्सवाद के साथ भारतीय

सर्वोदय की भावना को लेकर चलने वाले गांधीवाद का एकीकरण कर दिया है । वर्तमान से असन्तोष, अव्यवस्था के प्रति क्रान्ति का उन्मेष तो हुआ है पर वह क्रियात्मकता के अभाव में निष्क्रिय रह गया है । एकलव्य अपना अंगूठा काट कर दे देता है, इसका यह तात्पर्य नहीं है कि रचना में कोई सक्रिय संदेश नहीं है । काव्य का उद्दिष्ट प्रतीयमान होता है न कि कथित या उपदेशित । होरी, 'गोदान' करा सकने में असमर्थ हो लू में झुलस कर मर गया — कोई सक्षम क्रान्ति का प्रत्यक्ष रूपांकन न होने पर भी जैसे गोदान आधुनिकता को युगान्तरकारी रचना है उसी प्रकार दुर्दम्य राजनीति और वर्णनीति की वेदिका पर कटा एकलव्य का दाहिना अंगूठा, विकासित अवरुद्धकारी परिस्थितियों के प्रति तीव्र व्यंग्य और घृणा उत्पन्न कर मानवीय चेतना को समाजवादी-जनतंत्र की संस्थापनार्थ उत्प्रेरित करने में सक्षम है ।

<u>सृजनात्मक क्षमता और एकलव्य</u>

'कलाकार अपने युग के द्वारा उपस्थापित विशिष्ट सामग्री के आधार पर जीवनानुभूति के नए रूपों या संस्थानों की सृष्टि करता है और इस प्रकार नूतनता की उपलब्धि करता है[1] ।' अतीत की सांस्कृतिक धरोहर को आत्मसात् करके महाकवि ने पुरातन को नई सार्थकता तथा अभिप्राय दिए हैं ताकि आधुनिक मानव की संवेदनाएं और प्रतीतियां उसके संघर्षाकुल क्षण और उनमें अपने अस्तित्व-रक्षण का प्रयास करती आस्थाएं उनको रचना में मुखरित हो सकें । महाभारत में वर्णित एकलव्य की कथा का पुनरांकन कवि का ध्येय नहीं है । उसने महाभारत का चित्रण लेकर समसामयिक [illegible] की अप्रतिम अवगति को मर्माया है । इस दृष्टि से युग की समस्याओं के प्रति जागरूक द्रष्टा के हाथों रचित यह महाकाव्य युगप्रतिनिधि महाकाव्य है जिसका नायक देवता या कुलीनानन्द न होकर एक सामान्य शूद्र बालक है ।

वर्तमान में अतीत को और अतीत को वर्तमान में प्रतिष्ठापित करने के लिए कवि ने घटना-सूत्रों की कल्पना के माध्यम से ग्रहण किया है । आत्म निवेदन, साधना, त्याग, द्वन्द्व और [illegible] सभी महाभारत में वर्तन्ति हैं । महाभारत की देन के रूप में कथा, परिचय, अभ्यास और प्रसंग सर्गों को लिया जा सकता है । एकलव्य की साधना तथा क्रीड़ाभावों के अन्तर्द्वन्द्व को निखारने के लिए कल्पना प्रसूत प्रेरणा, आराधना, संकल्प और स्वप्न सर्गों को रखा गया है । कथावस्तु में किए गए
[illegible]

ज्वालामुखी हो । अर्जुन ने मर्मभेदी आक्षेप किया —

> आप सत्यद्रष्टा हैं हो, देखते हैं स्वप्न में
> आप प्रिय शिष्य को तो देते होंगे शिक्षा भी
> और यह सत्य है कि चेतन मनस से
> शक्तियाँ अधिक अन्तर्चेतन मनस की ।

साधनावस्था में चेतन और अचेतन मन समष्टि अचेतन मन (Collective unconsious) में लीन होने से मानव-मन की सौन्दर्यानुभूति अज्ञात रूप से जैसे कला का माध्यम ग्रहण करती है वैसे ही एकलव्य परामनोविज्ञान (Psi - Psychology) द्वारा शिक्षा लेता है ।

स्वप्न में देखे कुमार को द्रोण बार बार याद करने पर भी याद नहीं कर पाते हैं । क्या कारण है इस विस्मरण का ? मानव-मन स्वभावत: दुखद प्रसंगों को जन्म देने वाले विचारों का दमन (Repression) करता है क्योंकि उनको याद करने में हमें कष्ट होता है । एकलव्य को ठुकराना द्रोण के जीवन की एक ऐसी ही घटना थी । अत: प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक एबिंगहास के समान विस्मरण को एक निष्क्रिय मानसिक प्रक्रिया (passive mental process) नहीं माना जा सकता । विस्मरण एक सक्रिय-निष्क्रिय मानसिक प्रक्रिया (Active - passive mental process) है । —

> कौन है कुमार यह ? मैंने इसे देखा है
> कब इसे देखा, स्मृति स्पष्ट नहीं होती है ।
> देखा है अवश्य इसे, शिक्षा-दान वेला में,
> देख के भी देखा नहीं, ऐसा ज्ञात होता है ।

चरित्र-चित्रण में कवि को अभूतपूर्व कौशल प्राप्त है । पात्र के क्रिया कलापों द्वारा उसके स्वगत कथनों द्वारा, अन्य पात्रों के तद्विषयक धारणा द्वारा रचयिता ने अपने उद्देश्यानुकूल उनका सफल निर्माण किया है । द्रोणाचार्य का अन्तर्द्वन्द्व उनके पूर्वाग्रहयुक्त खिन्नता, राजा द्रुपद द्वारा हुए अपमान के आलोक में ही लिखा है । वह अपनी गुरुकुल की परम्परा को बचाने चाहते हैं, भरद्वाज के पुत्र हैं कि [illegible] से शिक्षित हैं वे गुणग्राह्य निषादपुत्र को भी अपनाना चाहते हैं पर वर्ग [illegible] की सीमाओं में [illegible] कर रह जाते हैं । स्वप्न में अवरुद्ध [illegible] का प्रकाशन होता है ।

रात्रि के अँधियारे के बिना सुबह की हंसी की कल्पना नहीं की जा सकती। विषम पात्रों के तुलना में ही प्रतिपाद्य चरित्र का उत्कर्ष सम्भव है। एक ओर पार्थ की ईर्ष्या है, द्वेष है, प्रतिस्पर्धा है और वह सीमा तक बढ़ी हुई जो गुरु-निन्दा करता है, एकलव्य की बांह काट लेना चाहता है और अन्त में उसका दाहिना अंगूठा लेकर जिसकी क्षुधा शान्त होती है तो दूसरी ओर श्रद्धा आस्था, मानव-प्रेम, करुणा, सौहार्द, पौरुष का साक्षात् दृष्टान्त 'एकलव्य' है जिसके प्रति मानव की सारी शुभकामनाएँ समर्पित हो जाती है। यही रचयिता का प्राप्तव्य है, जिसके लिए निरन्तर दस वर्ष की साधना की गयी थी। एकलव्य की मां के चरित्र की मौलिक उद्भावना ने ममता सर्ग में आकार ग्रहण कर करुण-सजल गातों के माध्यम से एक ओर महाकाव्य के शिल्प-कौशल को निखारा है तो दूसरी ओर उन सभी माताओं का प्रतिनिधित्व किया है जिनके राम चौदह वर्ष को वन चले गए हैं, जिनके कृष्ण राजकार्य में मथुरा से आने का अवकाश ही नहीं पाते और जिनके दयानंद शंकराचार्य मानव-मैत्री के लिए विश्वबंधुत्व का आदर्श लेकर उससे नाता तोड़ कर उसकी ममता के सिसकते आंचल को झटक कर -- अज्ञात लोक वासी हो गए हैं।

इस महाकाव्य में प्रबुद्ध चेता कवि ने जीवन को खुली आंखों देखते हुए सौन्दर्यबोध छवियों को अकुंठित किया है तो दूसरी ओर प्रखर झंझावात में ढहते भावी पौधों को सहारा देने वाले नैतिकबोध का आख्यान किया है -- रूढ़ और गत्यावरोधक मान्यताओं के आगे प्रश्नचिह्न लगाते हुए भारतीय संस्कृति की घाट बंधी धारा को उन्मुक्त किया है। अतीत कथा को आधार बनाते हुए कवि ने वर्तमान को दिग्भ्रमित भटकाव को पांव जमाने योग्य भूमि भी दी है और अपनी क्रान्तदर्शिता से अंधकाराच्छन्न भविष्य को अग्नि-बाण से बेधा है --

पूर्वकाल की कथा का कठिन कोदंड है
उसमें प्रत्यंचा चढ़े मेरे महागीत की।
मेरे प्रभु! वीर एकलव्य तीक्ष्ण तीर है
जो बेधता भविष्य है शक्ति ले अतीत की।"

तृतीय अध्याय

--0--

राम की शक्तिपूजा

-०-

महाकाव्य के लिए अपेक्षित व्यापक घात-प्रतिघात, [illegible] और गरिमा से युक्त 'राम की शक्ति पूजा' में जैसे महाकाव्य का [illegible] सूक्ष्मत्व में सिमट गया है। सन् १६३६ में प्रकाशित इस [illegible] औदात्य सम्पन्न लम्बी कविता में 'निराला' ने 'इतिहास के सत्य को व्यक्ति मात्र का सत्य बना कर' अपनी असाधारण क्रांतदर्शी मेधा का परिचय दिया है। राम की मायावी रावण से पराजय और उनका छलछलाए नेत्रों से कहना --' अन्याय जिधर है उधर शक्ति' -- में मानों स्वयं निराला का नाना विरोधों में टूटता व्यक्तित्व मुखर हो उठता है। सद्-असद्, न्याय-अन्याय के द्वन्द्व में असद् और अन्याय की निरन्तर विजय से न केवल राम विक्षुब्ध हुए थे, न केवल राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए युद्ध करने वाले सेनानियों ने व्यथा अनुभव की थी अपितु ये गहन पीड़ा के तिलमिला देने वाले क्षण उस प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में आते हैं जो न्याय और सदपक्ष को लेकर संसार में जूझता है -- इन्हीं अनुभवों को लेकर निराला ने 'राम की शक्ति पूजा' की रचना है। परन्तु यह रचना विषम [illegible] व्यवस्था के बीच व्यक्ति को निःसंबल नहीं छोड़ देती -- मानव-मुक्ति के लिए य लड़ने वाले शक्ति के उपासक की अंततः विजय होती है। यह कविता बाह्य विरोधों से विचलित मन की स्थितियों का सूक्ष्म [illegible] कराती है, और पुनः आत्मविश्वास जगाकर व्यक्तित्व का दृढ़ और दुर्धर्ष बना देती है। 'मनुष्य का मन पराजित होकर भी पराजय स्वीकार नहीं करता। युद्ध के लिए, विजय के लिए वह पुनः

चेष्टा करता है । 'राम की शक्ति पूजा' का यही महान आशावादी संदेश है[1]।' उस कविता में निराला के अपने व्यक्तित्व की गहरी छाप है । 'सरोजस्मृति' 'वनवेला' तथा 'गीतिका' के गीतों की वैयक्तिक विषम वेदना, जीवन संग्राम में भावुक कवि व्यक्तित्व की हार के प्रसंग 'राम की शक्ति पूजा' पढ़ते समय रह-रह कर स्मरण हो जाते हैं ।

भारतीय संस्कृति मूलत: आशावादी रही है । सुख-दु:ख,आशा-निराशा द्वन्द्व मानव जीवन में आते हैं -- यह मान कर चलने वाले की पराजय भी जयमूलक होती है । कर्मों का फल मिलने के महाविश्वास और पुनर्जन्म तक में पाप का प्रतिकार होने की आस्था और जीवन के प्रति लम्बी सुनियोजना के रूप को 'मानस' में दिखलाया गया है । पापी शासक 'प्रतापभानु' ही अगले जन्म में 'रावण' राक्षस बनता है । उसके नाना अपराधों और पापों से जब घड़ा ऊपर तक छलक आता है, उसके महाविष से ऋषि-मुनि और पृथिवी ही नहीं 'राम' भी पराभूत हो जाते हैं परन्तु अन्त में 'सद्' की जय होती है ।

आधुनिक युग में महात्मागांधी ने 'सत्य की विजय' का सिद्धान्त दिया ।' असद् पक्ष कितना ही उत्कर्ष दिखाए परन्तु अन्ततोगत्वा विजय 'सत्य' की होती है -- यही उनके समस्त सत्याग्रहों की मूल प्रेरणा है।इसी भावना को 'राम की शक्ति पूजा' में निराला ने अपनी दृष्टि से अंकित किया है । १६०५ में लाल पाल बाल के नेतृत्व में कांग्रेस में गरमदल निर्मित हुआ जिसके सिद्धान्तानुसार शक्ति को परास्त करने का अमोघ साधन शक्ति ही हो सकता है, विनय नहीं । विष की औषधि विष ही होती है । महारुद्र की उपासना द्वारा ही राम मायावी रावण की उत्पीड़क शक्ति के मायावरण का भेदन करने में समर्थ होते हैं । सद् और न्याय पक्ष को आक्रान्त करने वाली ये शक्तियाँ प्रारम्भ और मध्य में कितना ही वैभव और चमत्कार दिखलाएँ परन्तु अन्ततोगत्वा विजय न्याय की ही होती है । राम सद् और न्याय पक्ष के प्रतीक हैं और रावण असद् और अन्याय के । इसी परम्परागत पौराणिक रूपक को लेकर निराला ने इस कविता की उस

---

१. निराला,पृ० ११६-- डा० रामविलास शर्मा

काल में रचना की जब अंग्रेजी अन्याय न्याय-पक्ष का निरन्तर दमन कर रहा था ।

इस रचना के प्रेरणा स्रोतों में बंगला की 'कृतिवास कृत रामायण,' 'शिव शक्ति स्तोत्र' तथा 'देवी भागवत' हैं । राम जब रावण से पराजित हतप्रभ हो जाते हैं तो नारद आकर उन्हें शक्ति की आराधना करने का सुझाव देते हैं ऐसा 'देवी भागवत' में उल्लेख आता है[१]। राम एक हजार कमलों की बलि देकर शक्ति का पूजन आरम्भ करते हैं । नवें दिन अन्तिम फूल देवी परीक्षार्थ छुपा लेती हैं और जब राजीवलोचन अपना नेत्र देने को प्रस्तुत होते हैं तो प्रसन्न होकर देवी वरदान देती हैं -- यह कथा बंगला की कृतिवास रामायण तथा शिवशक्ति-स्तोत्र में मिलती है । इसी को कथा तंतुओं को आधार बनाकर निराला 'राम की शक्ति पूजा' की रचना की । साधक कवि की सिद्धावस्था का द्योतक ऐसा "....परम प्रौढ़ 'प्रबंधकाव्य' विश्व की किसी भी अन्य भाषा में कदापि नहीं लिखा गया[२]।"

असद् पक्ष के उल्लास और सद्पक्ष की अस्तव्यस्तता को लेकर इस काव्य का प्रारम्भ होता है । वानरवाहिनी स्थविर दलों के समान छिन्न-भिन्न चल रही है । राम का धनु-गुण श्लथ है, कटिबंध त्रस्त है तथा जटा-मुकुट विपर्यस्त हो अंधकारवत् पृष्ठ, बाहु तथा वक्ष पर फैला है --

> श्लथ धनु-गुण है, कटिबंध त्रस्त-तूणीर-धरण
> दृढ़ जटा-मुकुट हो विपर्यस्त प्रतिलट से खुल
> फैला पृष्ठ पर, बाहुओं पर, वक्ष पर, विपुल
> उतरा ज्यों दुर्गम पर्वत पर नैशान्धकार ।

उद्धत लंकापति कपि-दल-बल को मर्दित कर देता है । विश्वविजयी दिव्य-शरों को निरन्तर लुप्त लक्ष्य होते देख राम के अनिमेष राजीवनयनों से अग्नि विच्छुरित होने लगती है । सुग्रीव, अंगद, सौमित्र, जाम्बवन्त आदि सभी वीर रावण के दुर्वार प्रहार से विकल हो जाते हैं -- केवल हनुमान ही जानकी भीरु-उर की

१- देवी भागवत भाषा, तीसरा स्कन्ध, पृ० १०४-५

२- वही, पृ० २६-- आचार्य जानकी वल्लभ शास्त्री

आशा बनते हैं --

राक्षस-पदतल पृथिवी टलमल
बिंध महोल्लास से बार बार आकाश विकल ।

इसके उपरान्त कवि ने ऐसे विकराल वातावरण में एक कोमल दृश्य की नियोजना की है । ज्योति के पत्र में लिखा राम रावण का अपराजेय समर अमर रह जाता है । पर्वत-शिखर पर समस्त सैना सहित राम प्रात: के रण का समाधान करने के लिए एकत्र हैं । अमावस्या के गहन अंधियारे में दिशाओं का ज्ञान खो गया है, पवन संचरण स्तब्ध है -- पीछे से आती विशाल समुद्र की गर्जना के बीच स्थिर राम के मानस को संशय हिला जाता है । [illegible] राम का मन हार-हार जाता है । ऐसे भीषण उद्वेलन के क्षणों में जैसे अंधकार घन में विद्युत हो, पृथिवी-तनया [illegible] की छवि जागी । उनके मानस में विद्युत चित्रवत्, जनक , [illegible] का उपवन, लतान्तराल प्रथम स्नेहिल मिलन, नयनों का नयनों से गोपन प्रिय सम्भाषण, पलकों का नवपलकों पर प्रथमोत्थानपतन,कांपते किसलय, गाते खग, फरते पराग याद हो आया और उनका तन सिहर उठा । क्षण भर को मन वर्तमान पराभव को भूल फिर से लहरा उठा । सीता-ध्यान रत राम के अधरों पर स्मिति फूटी और फिर से विश्व-विजय की भावना भर आयी । हर धनुर्भंग करने वाले, ताड़का सुबाहु विराध,खरदूषण का वध करने वाले राम को जैसे ही कटु यथार्थ का बोध होता है उनके नेत्रों से आँसू निकल आते हैं । आज रण में उन्होंने समग्र नभ को [illegible] करने वाली शक्ति की [illegible] तें को देखा था, जिस तक पहुँचते ही उनके समस्त ज्योतिर्मय अस्त्र बुझ कर क्षण हो जाते थे । उनके कल्पनाप्रवण मानस में सीता के राममय नेत्र और विजयी रावण का अट्टहास सहअंकित हो जाता है । नाना असुरों का विनाश करने वाले अतुल-बल, शेष-शयन, राम के मन में शंका का जन्म रावण के रण कौशल से नहीं अपितु महामाया के प्रसार के कारण होता है । [illegible] राम की शक्ति माया और प्रपंच के सामने हार जाती है और उनकी पराजित शक्ति कभी शस्त्र न उठाने का विचार मन में लाती है । पलायन पौरुषहीनता का

परिचायक होता है। जब हम असद् के समक्ष समर्पण कर देते हैं, तभी पलायन और हार का प्रश्न उठता है[1]। परन्तु राम के मन में जन्मी पलायन की, अकर्मण्यता की भावना क्षणिक ही सिद्ध होती है।

विभीषण रण-विमुख राम को जानकी के दुःख की याद दिलाकर युद्धोन्मुख करना चाहते हैं तो राम कहते हैं --

> ...."मित्रवर, विजय होगी न समर
> यह नहीं रहा नर-वानर का रावण से रण
> उतरीं पा महाशक्ति रावण से आमंत्रण
> अन्याय जिधर है उधर शक्ति।" कहते छलछल
> हो गये नयन, कुछ बूँद पुनः ढलके दृग जल
> रुक गया कण्ठ ...."

राम के मन में जन्मा यह संशय प्रत्येक सत्पथ के पथिक के जीवन में जन्म लेता है। ज्योति का उपासक जब निरन्तर अंधकार में भटकता है और तम-पुत्र आनन्दोल्लास मनाते हैं तो एक बार को मन शंका, विद्रोह, अमर्ष और क्षोभ से पागल हो उठता है। राम उन तीक्ष्ण तेजपुंज शरों को योजित करते हैं जिनमें पतनघातक संस्कृति से सृष्टि की रक्षा का विचार निहित है, जो क्षात्रधर्म से पूर्णाभिषिक्त हैं, प्रजापतियों के संयम से रक्षित हैं -- पर वे सब श्रीहत और खण्डित होते हैं।

> देखा है महाशक्ति रावण को लिए अंक
> लांछन को ले जैसे शशांक नभ में अशंक[2]
> हत मन्त्रपूत शर संवृत करती बार बार
> निष्फल होते लक्ष्य पर क्षिप्र वार पर वार।

१- "Not to act is a complete confession of failure and submission of evil" ---
— Discovery of India. Page 13 - Pt. Nehru.

२- वांछित उस शिव कांछित छवि पर
केसरी स्नेह की कूची भर।
— अनामिका, पृ०१२०

उसी महाशक्ति ने समस्त कपि-दल को विचलित कर दिया तथा राम को अपनी माया में ऐसे बाँधा कि उनके हाथ बँध गए, धनुष खिंच न सका। धर्मरत राम आक्रोश-व्याकुल हो प्रश्न उठाते हैं --

रावण अधर्म रत भी, अपना, मैं हुआ अपर--
यह रहा शक्ति का खेल समर, शंकर शंकर !

ऐसे पराभूत मन को वृद्ध जाम्बवन्त प्रबोध देते हैं। वे राम को महाशक्ति की उपासना का सुझाव देते हैं --

हे पुरुष सिंह, तुम भी यह शक्ति करो धारण,
आराधन का दृढ़ आराधन से दो उत्तर,
तुम वरो विजय संयत प्राणों से प्राणों पर,
रावण अशुद्ध लेकर भी यदि कर सका त्रस्त
तो निश्चय से सिद्ध करोगे उसे ध्वस्त,
शक्ति की करो मौलिक कल्पना, करो पूजन।

शक्ति साधना का तात्पर्य यह विश्वास उत्पन्न करता है कि राम अन्यायी नहीं, रावण ही अन्यायी है। जगत् के लिए अकल्याणकारी उसके अस्तित्व को अंतिम रूपमें परास्त करना ही श्रेयकारी है। राम की शक्ति जनवादी है, जनद्रोही नहीं। सद् की स्थापना, असद् के उन्मोचन के लिए फूल से कोमल राम वज्र कठोर हो जाते हैं। वे उस शक्ति की उपासना करते हैं जो शिवमय हो। शक्ति शंकर का पक्ष है। अत: उसी शक्ति की विजय जीवन में अभिप्रेत है जो शिवमय हो। आक्रामक अंग्रेजों और अधर्मी रावण की अन्याय शक्ति की अंतिम रूप में पराजय होनी निश्चित है, क्योंकि वह स्वत? प्राणरहित है। शिव के बिना शक्ति और शक्ति के बिना शिव प्राण रहित होते हैं। शिवशक्ति के सम्मिलन में ही विकास और विजय निहित है। राम उसी शक्ति की उपासना करते हैं और उनके मन का ऊर्ध्व विकास होता है। व्यक्तिगत शिव जब [illegible] शिव का रूप ले लेता है तो "महाभाव" का उदय होता है --

खल-महाभाव-मंगल पदतल धंस रहा गर्व

मानव के मन का असुर मन्द, हो रहा खर्व ।

राम इस साधना में रत रहते हैं । जैसे ही सिद्धि मिलने को होने होती है तभी पूजा का अंतिम पुष्प [illegible] के लिए देवी उठा ले जाती है[1] । जीवन का नाम ही परीक्षा है । माया अनेकानेक प्रकार से सत-पथ के पथिक को विचलित करने का प्रयास करती है । नाना व्यवधानों के बीच भी स्थिर मन रखने वाला ही विजय प्राप्त करता है । राम का ध्यानमग्न-मन नीचे उतर आता है, नयन भर आते हैं --

> धिक् जीवन को जो पाता ही आया विरोध
>
> धिक् साधन जिसके लिए सदा ही किया शोध ।
>
> जानकी । हाय,उद्धार,दु:ख जो न हो सका ।
>
> वह एक और मन रहा राम का जो न थका,
>
> जो नहीं जानता दैन्य, नहीं जानता विनय

लोकनायक की इस वेदना से 'सरोजस्मृति' के व्याकुलमना कवि की वेदना का मिलान करने पर आश्चर्यजनक साम्य दर्शित होता है --

> दु:ख ही जीवन की कथा रही
>
> क्या कहूं आज, जो नहीं कही
>
> + + +
>
> बायेगी मुझमें नहीं विनय
>
> उतनी जो रेखा करे पार
>
> सौहार्द-बन्ध की निराधार ।

कभी न थकने वाले राम का मन जो दैन्य और विनय नहीं जानता

१- हरिस्ते साहस्रं [illegible] कमलबलिमाधाय पदयोर्यदेकोने तस्मिन्निजमुदहरन्नेत्रकमलम् ।
गतो भक्त्युद्रेकः परिणतिमसौ चक्रवपुषा त्रयाणां रक्षायै त्रिपुरहर जागर्ति जगताम्॥
॥१९॥ शिवमहिम्नस्तोत्रं

था, अपनी प्रबुद्ध बुद्धि की सहायता लेता है और जैसे ही राजीवनयन अपना नेत्र चढ़ाने को प्रस्तुत होते हैं तो उनका दृढ़ निश्चय देखकर ब्रह्माण्ड कांप जाता है और देवी का उदय होता है --

होगी जय, होगी जय, हे पुरुषोत्तम नवीन"
कह महाशक्ति राम के वदन में हुईं लीन ।

यह मानों सत् की असत् पर विजय का `सत्यासत्यसंगति` है । अहंकार, गर्व और असुरत्व का नाश कर अर्थात् `महाभाव` के द्वारा राम ने `महाशक्ति` को अपने वश में कर लिया । इस काव्य में व्यक्तिगत हित और लोकहित के संघर्ष की अंतिम परिणति राम की आत्मविजय के रूप में प्रस्तुत की गयी है । अंत में लोकहित और महाशक्ति की ही विजय का स्रोत है -- यह सत्य प्रकट कियागया है --

उमड़ता नहीं मन, स्तब्ध सुधी हैं ध्यान
\+ + +
.... मन ध्यान-युक्त चढ़ता ऊपर
कर गया अतिक्रम ब्रह्मा हरि-शंकर का स्तर
हो गया विजित ब्रह्माण्ड पूर्ण , देवता स्तब्ध
हो गए दग्ध जीवन के तप के समारब्ध,

इस प्रकार आलोड़न-विलोड़न के बीच राम की शक्ति पूजा न केवल व्यक्ति को प्रेरणा देती है अपितु यह असत् पर सत् की जड़ पर चेतन की विजय के समर्थ रूपक के स्तर पर विवृत होती है ।"कवि ने अपने युग की पराजित राष्ट्र-चेतना को कुण्ठा के गहन गर्त से उबारने का उपक्रम किया गया है ।"[१]

निराला ने जब इस कविता का प्रणयन किया तो उनके पास बंगाल में प्रारम्भ हुए सांस्कृतिक-जागरण की समृद्ध शक्ति थी । विवेकानन्द की `नाचे उस पर श्यामा` का संदेश --

---

१- निराला और नवजागरण, पृ० १२४, डा० रामरतन भटनागर

वीर डरार कभी न, आये
अगर पराजय सौ सौ बार
चूर चूर हो स्वार्थ, साध सब
मान, हृदय हो महा श्मशान
नाचे उस पर श्यामा, घनरण

में निज भीम कृपाण --` राम की शक्ति पूजा` का संदेश है। निराला का कवि-व्यक्तित्व द्वितीय महायुद्ध की विभीषिका तक नाना अत्याचारों के बीच अपराजेय और कुण्ठित रहा है जिसका परिचय हमें उनके साहित्य से मिलता है। स्वामी विवेकानन्द ने हततेज, निराश भारतीय मानस को शक्ति की उपासना का महासंदेश देकर उसे विदेशी आक्रान्ताओं से लोहा लेने को उत्प्रेरित किया। निराला की काव्यचेतना पर विवेकानन्द का सर्वाधिक प्रभाव है। विवेकानन्द के `अम्बास्तोत्र` के `आ घूर्णित भवजलं ·ब्लोर्मिभंगे, छायामयूंस्तव दयात्व मूतंच मात:` जैसे माँ काली के सम्पूर्ण भारत-व्यापी महास्वरूप की सी परिकल्पना निराला के राम द्वारा की गई देवी--वंदना में मिलती है --

".... सामने स्थित जो यह भूधर
शोभित शत-हरित-गुल्म तृण से श्यामल सुन्दर,
पार्वती कल्पना हैं इसकी, मकरन्द-बिन्दु,
गरजता-चरण-प्रान्त पर सिंह वह, नहीं सिन्धु
दशदिक-समस्त हैं हस्त और देखो ऊपर
अम्बर में हुए दिगम्बर अर्चित शशि शेखर,

१- बहा है जीवन यह
आतप में दीर्घ काल
सूखी भूमि, सूखे तरु
सूखे सिक्त आल-बाल
बंद हुआ गुंज, धूलि-
धूसर हो गये कुंज
किन्तु पड़ी व्योम-उर
बन्धु, नील मेघ माल ।

ऐसे विराट्`महाभाव` में मानव के मन का असुरत्व नष्ट हो जाता है । महादेश के देवी रूप की कल्पना में हिन्दु-मुस्लिम-वैमनस्य का असुरत्व (भेदकत्व का मूल)नष्ट होता है । `मातामममिपुत्रो हम्` की उदात्त आस्था अनेकत्व में एकत्व का प्रसार करती है । राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य के नेताओं ने अपनी अपनी दृष्टि से उस`महाभाव` की स्थापना का प्रयत्न किया[१] ।

जिस प्रकार कीट्स के `हाइपीरियन` में अपोलो कीट्स का प्रतिरूप है, उसी प्रकार `शक्तिपूजा` में निराला राम के प्रतिरूप हैं । `धिक् जीवन को पाता ही आया है विरोध` पंक्ति पढ़कर लगता है कि निराला कह रहे हों `दु:ख ही जीवन की कथा रही ।` महासमर में अन्याय के विरुद्ध राम अपने को अकेला पाकर जिस गहन-एकाकी व्यथा को झेलते हैं, उससे लोहा निराला आजन्म लेते रहे । राम के संघर्ष, अन्तर्द्वन्द्व और विजयोत्कर्ष में कवि का रूप ही झलकता है । बार-बार जीवन-संग्राम में परास्त होकर कवि यह निष्कर्ष निकालता है --

`..... यह जीवन का मेला
चमकता सुघर बाहरी वस्तुओं को लेकर
त्यों त्यों आत्मा की निधि पावन बनती पत्थर[२] ।

राम को जैसे महाशक्ति से `उद्बोधन` मिला हो --

गरज गरज घन अंधकार में गा अपने संगीत
बन्धु के बाधा-बन्ध-विहीन
.... छोड़,छोड़ दे शंकाएँ, दे निर्भर गा वीर ।
उठा केवल निर्मल निर्घोष,
देख सामने,बना अचल उपलों को उत्पन्न,धीर ।
प्राप्त कर फिर नीरव सन्तोष ।
भर उद्दाम वेग से बाधाहर तू कर्कश प्राण
दूर कर दे दुर्बल विश्वास[३] ।

१- बंकिमचन्द्र--वन्देमातरम् सुजलां सुफलां मातरम् वन्दे मातरम्(आनन्दमठ)

२- [illegible] T,पृ०६० [illegible]

विवेकानन्द के अद्वैत वेदान्त को निराला के काव्य में केन्द्रीय स्थान मिला है। कलकत्ता में रामकृष्ण मिशन में अनेक वर्ष गुजारने के कारण कवि परमहंस के मातृपूजात्मक -भक्ति-भाव से प्रभावित है। वे 'अंत: वैष्णव बहिर्शाक्त' थे जिन्होंने मातृशक्ति का प्रसार समस्त भारतखंड में देखकर भौगोलिक दायरों में सीमित राष्ट्रीयता को आत्मिक बना दिया है। सर्वप्रथम स्वामी विवेकानन्द ने सहस्राक्षी, सहस्रपादा, सहस्रहस्ता शक्ति की कल्पना के द्वारा जननी जन्मभूमि को नए देवता के रूप में अधिष्ठित किया। 'राम की शक्ति पूजा' में देवी के ऐसे ही समसामयिक और उदात्त स्वरूप की परिकल्पना की गई है।

आध्यात्मिक ऊर्ध्वारोहण के सूक्ष्म चित्र इस काव्य में मिलते हैं। भारतीय प्रज्ञा अल्प में नहीं भूमा में सुख मानती है। राम अधिमानसी और अतिमानसी भूमिकाओं का अतिक्रमण कर उस आत्मिक भूमिका तक जा पहुंचते हैं जहाँ देवत्व ही नहीं ईश्वरत्व की सीमा भी परे छूट जाती है --

..... मन ध्यान युत चढ़ता ऊपर
कर गया अतिक्रम ब्रह्मा-हरि-शंकर का स्तर,
हो गया विजित ब्रह्माण्ड पूर्ण, देवता स्तब्ध,
हो गये दग्ध जीवन के तप के समारब्ध,

रामकृष्ण परमहंस की तंत्र साधना में साधक निर्गुण, निर्वैयक्तिक ब्रह्म से अपने आविर्भाव की कल्पना करता है तो मातृमूर्ति (काली) का जन्म होता है जो उसकी भावना और पूजा का विषय बनती है। रावण ने भी इसी शक्ति की उपासना की थी, इसी कारण जैसे कलंक को शशधर अंक में लेता है, वे महासमर में रावण की रक्षा करती हैं। परन्तु उसकी साधना इन्द्रिय सुख और स्वार्थ की जड़ तामसिकता तक सीमित 'पशुसाधना' ही थी। जामवन्त राम को 'शक्ति की मौलिक कल्पना करो' कह कर उस तंत्र साधना को 'वीर' से ले जाते हुए 'कौल' (अद्वैती) सात्विक साधना तक पहुंचने को प्रेरित करते हैं जहाँ वे ब्रह्मा ... इन्द्रिय स्वार्थ को ईश-प्रेम में स्थापित कर अद्वयता की अनुभूति

अनुभूति में समर्थ हो सकें । इस शाक्ततंत्र साधना में कुण्डलिनी योग का महत्त्वपूर्ण स्थान है । राम मूलाधार में स्थित कुण्डलिनी नाड़ी को जगाकर ऊर्ध्वोन्मुख करते हैं और पांच विभिन्न चक्रों का भेदन कर वह अंतिम सहस्रार चक्र में पहुँचती है जो शिव-शक्ति का योग है । शक्ति ही माया का रूप धारण कर जगज्जाल की सृष्टि करती है जिसके छेदन से 'कौल' (अद्वयी) भाव का जन्म होता है । शक्ति माया से पूजा का अंतिम सुमन हरण कर लेती है । राम अपना नयन अर्पित करने के लिए मह[illegible] धारण करते हैं तो वामपद असुर-स्कन्ध तथा [illegible] हरि पर रखे हुए ज्योतिर्मय रूप दुर्गा समक्ष आती है जिनके दश हाथ विविध अस्त्रों से सज्जित हैं, विश्व-श्री को लज्जित करने वाला मंदास्मित मुख है । उनके दक्षिण और गणेश, बायें [illegible] तथा मस्तक पर शंकर समासीन हैं । इस प्रकार माया का छेदन(कौल) कर महाशक्ति साधक राम में ही एकाकार हो जाती है --

"हो[illegible],होगी जय, हे पुरुषोत्तम नवीन ।
कह महाशक्ति राम के वदन में हुई लीन ।

भक्ति और अध्यात्म के सूत्र वर्तमान को अतीत से सम्बद्ध ही नहीं करते अपितु इन्हीं के माध्यम से कवि ने सम्पूर्ण ऐतिहासिक और सांस्कृतिक विकास के बीच ऊर्ध्वोन्मुख आत्मचेतना की खोज की है । उन्नीसवीं [illegible] के धार्मिक सामाजिक आन्दोलनों के सूत्रधार ही नवभारत की संस्कृति और राष्ट्रीयता के प्रभाव-- धारण हैं । बंगाल के नवजागरण की अपूर्व देन निराला पुश्किन और [illegible] के समान साहित्य द्वारा [illegible] राष्ट्रीय संस्कृति के अग्रदूत हैं । तत्कालीन [illegible] में बौद्धिकता की अपेक्षा सांस्कृतिक भावधारा अधिक [illegible] थी । समृद्ध भविष्य की आशा बँधाने के लिए कवि ने ऊर्ध्वारोहण के सजीव प्रतीक का ब माध्यम चुना है । गांधी जी के महनीय व्यक्तित्व के प्रति श्रद्धावनत होते हुए भी यह क्रांतिचेतस् विद्रोही कवि उनकी राजनैतिक तथा सुधारात्मक प्रवृत्तियों का अनुमोदक नहीं था, क्योंकि निराला का [illegible] [illegible] व्यक्तित्व उस [illegible] में अवरुद्ध हो जाता था । दूसरे प्रबुद्ध मानस के प्रभाव के कारण उनके काव्य में कुंठा और दैन्य के स्थान पर पौरुष अदम्य

आशावादिता ,भविष्यती आस्था ही पायी जाती है। राम का दैन्य और नैराश्य उनकी आस्था को परास्त नहीं कर पाता। यही निराला की प्रगाढ़ राष्ट्रीयता उनकी रचनाओं में सांस्कृतिक भाव-स्तर पर व्यक्त हुई है।१६३८ के गांधी-इर्विन पैक्ट में यद्यपि असफलता मिली, किन्तु निराला ने अपनी रचना में आशा-संदेश ही दिया है।

'राम की शक्ति पूजा' में कवि ने [illegible] छंदों के बीच मिल्टन के नरक-वर्णन जैसी उदात्त कल्पना को स्थान दिया है। तदनुसार की महानाश में उड्डयन की गाथा ऐसी ही है। महाकाश शिव का निवासस्थान माना जाता है।[१] राम के भावित नेत्रों से गिरे दो अश्रुओं को देखकर उनचास पवन श्वसित हो उठे, शिखराकार तरंगें उठीं एकादश रुद्र अट्टहास कर उठे --

शत घूर्णावर्त तरंग-भंग उठते पहाड़
तोड़ता बंध प्रतिसंध धरा, हो स्फीत वक्ष
दिग्विजय-अर्थ प्रतिपल समर्थ बढ़ता समक्ष

समस्त व्योम ग्रसित करने को व्याकुल कपि को शक्ति विद्या का आश्रय ले माता आंजना का रूप धारण कर प्रबोध देती है और कपि यह सोचकर रुक जाता है कि राम के पूज्य शिव के निवासस्थान महाकाश को ग्रसना अनर्थकारी है। हनुमान का चरित्र स्वामिभक्ति का ज्वलन्त दृष्टान्त है। राम के बिना कुछ कहे उनके दो बूंद आँसू मात्र से उनकी व्यथा और वेदना अनुमित कर वे रावण की माया के निवास आकाश को ही ग्रस्त करने चल देते हैं। परन्तु यह सोच कर कि राम के आराध्य 'शिव' के [illegible] को ध्वंस करने से राम को ही कष्ट होगा, रुक जाते हैं। लगता है, 'रावण' महिमा श्यामा-[illegible]' से आक्रान्त हो उग्रदल महासंहार के लिए कृतसंकल्प हो गया हो पर अपने ही [illegible] के [illegible] का ध्यान उसे सौम्य-शान्त बना देता हो।

१- चिदाकाशमाकाशवासं भजेहं -- रामचरितमानस,पृ० ५५८ स० गुच्छ पृ०सं०

विद्रोही कवि निराला ने पा[illegible] कथा को नवीन संस्पर्श देते हुए `राम की शक्ति पूजा` को भारतीय संस्कृति के [illegible] का महत्वपूर्ण अध्याय बना दिया है । एक ही रचना में ऐतिहासिक, पौराणिक और दार्शनिक भाव-स्तरों को एक साथ प्रस्तुत किया गया है । मानव की बाह्य और आन्तरिक स्तरों की लड़ाई ([illegible] संघर्ष)के पश्चात् एक महाभावात्मक अथवा घनात्मक स्थिति में संगति और समन्वय प्राप्त करने की उपलब्धि ब ने ही इसे महान् [illegible]काव्यात्मक रचना बना दिया है । पश्चिमी दृष्टि के समान निराला ने संघर्ष को केवल संघर्ष के लिए नहीं, अपितु जीवन-विकास के लिए माना है । निराला की `शक्ति पूजा` का महत्व इस कारण नहीं है कि उसमें सनातन भारतीय संस्कृति के तत्वों का आकलन है, अपितु इसलिए है कि वह भारतीय संस्कृति के आधुनिक विकास को रूपायित करती है ।

तुलसीदास

-0-

भारतीय संस्कृति के अमर गायक 'तुलसीदास' को केन्द्रबिन्दु बनाकर प्रस्तुत यह रचना इतिहास, समाज, राजनीति, दर्शन तथा मनोविज्ञान की पंचाग्नि में तप कर पुण्योज्ज्वल हो उठी है । इस काव्य में प्रबुद्ध, चिन्तन और गत्यात्मक भाषा को 'निराला' की पौरुष-प्रगल्भ-तेजस्विता का संस्पर्श मिला है । अपनी अपूर्व [illegible] व्यंजना के कारण 'तुलसीदास' एक कोण से यदि मध्यकालीन समाज का इतिवृत्त प्रस्तुत करता है तो दूसरी ओर सम सामयिक जीवन के विघटन को बड़े सूक्ष्म और सटीक रूप में द्योतित करने में सक्षम है । 'तुलसीदास' के विधान में महाकाव्योचित गरिमा है । यह काव्य एक ओर साहित्य की अमूल्य निधि है तो दूसरी ओर भारतीय संस्कृति के स्वरूप को उद्घाटित करने और उसे सम्पन्नतर करने के कारण गौरवास्पद है । आद्यन्त [illegible] भूमिका को लेकर चलने वाले इस काव्य में मुगलराज्य में [illegible] के सांस्कृतिक पतन के जो चित्र खींचे गए हैं, उन्हें बदलकर यदि इस्लाम के स्थान पर अंग्रेजी शासन और संस्कृति रख दें तो कोई फर्क नहीं पड़ता । पृष्ठभूमि बदल कर अंग्रेज-युग के अवतरण से उत्पन्न अराजकता को आरम्भ में देखें तो स्वयं निराला तुलसी के स्थानापन्न बन जायें । उन्हें भी पत्नी से प्रेरणा प्राप्त हुई है प्रकृति में उन्होंने परोक्ष के गम्भीरतम इंगित पाए हैं ।[1] १९३८ में प्रकाशित इस

१- निराला और नवजागरण, पृ० ३०० — डा० रामरतन भटनागर

रचना में पराजित देश की स्थिति का सूक्ष्म विश्लेषण है और कुंठा अवसाद से ऊपर उठकर निराला के तुलसी जिस जागरण गीत को गाते हैं वह भारत की अपराजेय राष्ट्र-चेतना का प्रतीक है। अतीत आख्यान को लेकर चलने वाली इस रचना में सांस्कृतिक नव जागरण की मार्मिक अभिव्यक्ति है।" हिन्दी भाषी जनता के सांस्कृतिक विकास में निराला की ऐतिहासिक भूमिका है और उनके साहित्य का युगान्तरकारी महत्त्व है[१] -- इस कथन की सार्थकता को 'तुलसीदास' के सहारे भली प्रकार हृदयंगम किया जा सकता है।

पत्नी-प्रेम में आसक्त, तुलसी की प्रेम-कथा जनसाधारण में प्रचलित है। उसी जनश्रुत कथा को मुस्लिम शासन जन्य हिन्दु-पराभव को जाग्रत करने की सांस्कृतिक पीठिका बनाकर निराला ने यह काव्य रचा है। तुलसी ने स्वयं जाग कर भोग-विलास में आकंठ निमग्न परास्त भारतीयों को मध्यकाल में जगाया था। भक्त तुलसी का काव्य पराजित हतदर्प जनता के दैन्य का नहीं, अपितु निद्रारत भारतीयों के जागरण का प्रतीक है। भारत के शीतलछाय-सांस्कृतिक-सूर्य के अस्तमित होने पर जनता मुस्लिम सभ्यता के शशधर के भोगविलास की छाया तले स्वयं को भुलाए है।" भारत के सांस्कृतिक ह्रास की विशद पृष्ठभूमि प्रस्तुत कर प्रकृति द्वारा संस्कृति के उत्थान की प्रेरणा का चित्रण कर तुलसी को हिन्दू संस्कृति के जीर्णोद्धारक के रूप में रखा गया है।[२] सौ छन्दों के बन्ध में कवि ने इस विशाल उदात्त कथा को बाँधा है।

इस काव्य में एक ओर व्यक्ति-मानस का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया गया है दूसरी ओर इतिहास की पृष्ठभूमि में संस्कृति का अध्ययन। प्रकृति के सूक्ष्म-व्यापक-सौन्दर्य के में आध्यात्मिक सत्ता के दर्शन करा कर निराला ने उसे सांस्कृतिक अभ्युदय की जननी बना दिया है। तुलसीदास को अति विलासिता के

१- निराला ,पृ० १७० -- डा० [illegible] शर्मा

२- क्रान्तिकारी कवि निराला, पृ० ११३-- डा० बच्चन सिंह

अज्ञानान्धकार को उनकी पत्नी ने ज्योतित किया -- इस बहुश्रुत कथानक को निराला की प्रतिभा ने मनोवैज्ञानिक तथ्यों के बीच प्रस्फुटित किया है । सांस्कृतिक पराभव काल में तुलसी वैयक्तिक क्षुद्र सीमाओं से ऊपर उठने की चेष्टा करते हैं, परन्तु नारी-मोहासक्ति उनके ऊर्ध्वोन्मुख-मानस को पुन: नीचे खींच लाती है । समस्त मानसिक संघर्षों का अन्त में परिहार होता है और नारी द्वारा ही अन्त में उन्हें विजय प्राप्त होती है । तुलसी की विजय उनकी अपनी विजय न रह कर भारतीय संस्कृति की विजय बन जाती है ।

मुसलमानों ने पंजाब, बिहार, बुन्देलखण्ड आदि प्रान्तों को क्रमश: पददलित कर न केवल सम्पूर्ण भारत पर शासन ही किया अपितु अपनी सभ्यता की कलाओं से उसे अभिभूत भी कर लिया --

संचित जीवन की, क्षिप्र धार
इस्लाम-सागराभिमुख पार,
बहतीं नदियाँ, नद, जन-जन हार वशंवद ।

मुगलों का राजत्व-काल भारत का सांस्कृतिक संध्या काल है जो मस्तक पर बल डाले आकाश में बादलों से घिरा है और उसकी छाया से देश के सभी प्रान्त एक के बाद एक पराजित हो गए हैं । अँधियारी सन्ध्या को वर्षा के नद, वज्रपात प्लावन आदि और अधिक भयावह बना देते हैं । मोगलों की सेना बादल है, मत्त पठान बल से भरे नद हैं जो दिग्देश ज्ञान को भी बहाए दे रहे हैं । गहन अंधियारी में दुर्निवार वज्रपात है, नीचे प्लावन की प्रलय-धार 'हर हर (हरण हरण') की ध्वनि कर रही है[1] । मुसलमानों के आक्रमण से भारतीय संस्कृति का जो ह्रास हुआ है उसका वर्णन कर कवि काव्यारम्भ करता है --

भारत के नभ का प्रभापूर्य
शीतलच्छाय सांस्कृतिक सूर्य
अस्तमित आज रे -- तमस्तूर्य दिङ्मंडल,

१- तुलसीदास ३ छंद

उर के आसन पर शिरस्त्राण
शासन करते हैं मुसलमान
है ऊर्मिल जल: निश्चलत्प्राण पर शतदल ।

अपनी इस हीन सांस्कृतिक अवस्था पर दुःख पश्चाताप और क्षोभ तक की शक्ति भारतीयों में शेष न रहा । विदेशी शासन के हाथों स्वाधीनता बेंच कर वे विलासी साम्राज्य के काल्पनिक सुख-वैभव को ही चरम प्राप्तव्य मान बैठे । 'सुख स्वरित जाल' में फँस कर शत्रु को ललकारने वाले उदात्त प्राणों की गति भी मधुर मंद हो गई । मुक्त प्रवाह से दूर जीवन समय और सुन्दरियों के इंगित पर चलने लगा शायद ही कोई ऐसे आनन्द विलास से असम्पृक्त रहकर स्वतन्त्रता की साधना में रत होगा ।[1] भारतीय संस्कृति के प्रचण्ड किन्तु शीतल सूर्य के अस्त होने पर मुस्लिम सभ्यता के चन्द्र का उदय हुआ और तद्जन्य अमृत-चुम्बनों ने सारी पृथिवी को भर दिया । तुलसी का काल मुगल साम्राज्य का वैभव काल था । अकबर और जहाँगीर उनके समसामयिक थे । बहते पानी ने 'छल छल' कहकर सावधान करने की सोचा परन्तु किनारे के जड़ पत्थर के समान हमने केवल 'कलनाद' ही सुनी और देश इस सभ्यता के विलासी प्रभाव में वैसे ही दिशाज्ञान खो बैठा जैसे पानी में बहता फूल अपनी गतिविधि खो बैठता है --

सोचता कहाँ है, किधर कूल
बहता तरंग का प्रमुद फूल
यों इस प्रवाह में देश मूल खो बहता,
'छलछल' करता यद्यपि जल
वह मंत्रमुग्ध सुनता कलकल
निष्क्रिय, शोभाप्रिय कूलोपम ज्यों रहता ।

सांस्कृतिक पराजय और विषम का चित्र उकेर कर कवि उन असंगतियों और तथ्यों की खोज करता है जिनके कारण विघटन ने जन्म लिया । भारतीय

1- तुलसीदास, पृष्ठ ६८

संस्कृति का इतिहास यह घोतित करता है कि जब-जब उसमें रुग्ण ह्रासोन्मुख जड़ता आई तभी तभी उसे विदेशी झटके का प्रकोप सहना पड़ा है ।गर्व,तृष्णा, संघर्ष, स्वार्थ,अनाचार आदि के बीच विशाल भारत विभक्त और खंडित हो गया । वर्णाश्रम धर्म का वह स्वस्थ स्वरूप जो समस्त समाज को एकता के सूत्र में बांधे था, विकृत हो गया । ब्राह्मण,क्षत्रिय और वैश्य सभी उन मुगलिम सभ्यता की छाया विलास से अभिभूत हैं जिसने भारतीय संस्कृति के सत्य-मिहिर को आवृत किया हुआ है बुन्देलखण्ड,रणथंभोर,कालिंजर पर मुसलमानों का आधिपत्य इसी कारण से सम्भव हो सका कि क्षात्रियत्व की वह मर्यादा छिन्न हो चुकी है जहाँ अक्षर निर्जर,दुर्धर्ष, अमर,जगतारण रणबांकुरे देश के क नाम पर समर-प्रांगण में सो जाते थे । देवोपम ऐसे राजपूतों के स्वर्ग-गमन से ही नृपवेशधारी सूत और वन्दीगणों ने मुगल साम्राज्य के विकास में योगदान दिया[1]। विंसेंट स्मिथ ने तथा डा० ताराचन्द ने राजपूत राजाओं के क्षात्रित्व के ह्रास को ही मुगल-प्रसार का प्रमुख तत्व माना है[2]।

ब्राह्मण अपने पद की गौरव-मर्यादा को भूल चाटुकार मात्र रह गया । धर्म का स्वरूप माया से ग्रस्त हो जाने से पूजा तक में प्रतिरोध अनल्प व्याप्त हो गया[3]। पुराने संस्कारों की धरती असुरों से दलित हुई और पुराने जीवित संस्कार छिपे आभूषण से लुप्त हो गए । ऐसे भीषण 'कलिराज्य' में त्याग से अनुप्राणित ऊर्ध्व अर्थात् लोकोत्तर सत्य समाहित,धारावत् मानव मात्र के स्वत्व की महत् कल्याण की भावना से युक्त मुक्ति-गीत गाने वाले मुक्त-प्राण की अपेक्षा थी[4]। भारतीय संस्कृति के अमररक्षक गोस्वामी तुलसीदास ने ऐसा ही जागरण गीत गाया --

---

१- तुलसीदास ७ छंद

२- Akabar The Great Page 239 — V. Smith

३- तुलसीदास २५ छंद

४- तुलसीदास १६ छंद

जागो जागो आया प्रभात
बीती वह, बीती अंध रात
झरता भर ज्योतिर्मय प्रपात पूर्वाचल
बाँधो, बाँधो किरणें चेतन
तेजस्वी, हे तमजिज्जीवन
आती भारत की ज्योतिर्मय महिमा बल ।[१]

ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य -- इन तीन वर्णों पर ही भोग, विलास, मोह और आसक्ति का शीतल छाया था । चौथा शूद्र वर्ण नाना अनाचारों से ग्रस्त दीन-क्षीण था । ब्राह्मण ने समाज को ज्ञान प्रदान करने की महनीय गुरुता को भुला दिया था तो क्षत्रिय समाज के रक्षा-पालन के महद् दायित्व से आँखें चुराए थे । वे उद्धत थे तो तृष्णा से, मिथ्या गर्व से -- सच्चे पराक्रम और धर्म से नहीं । पर्णकुटी में रहने वाले साधारण-जन कुचले जा रहे थे । सेवा करने वाले शूद्रों के कार्य की गुरुता के कारण उन्हें 'हरिजन' का सम्मानीय पद प्रदान किया गया था वह अब विष तुल्य हो गया । उनका जीवन साँस लेने भर का हो गया । वे समाज रूपी पुरुष के चरण मात्र रह गये, मस्तिष्क वाली कोई बात उनमें न रही । जीवन निर्वाह के स्वल्प क्षुद्र सम्बल लिए इन शूद्रों के सामने पेट भरने की आशा और कामना ही जीने का सहारा रह गई । रण के अश्व जिस प्रकार सकल शस्य दलमल जाते हैं वैसे ही समस्त भारत में दल के दल शूद्रों का जीवन दलित हो रहा है --

वे शेष श्वास, पशु, मूक-भाष
पाते प्रहार अब हताश्वास
सोचते कभी, आजन्म ग्रास द्विजगण के
होना ही उनका धर्म परम
वे [illegible], हैं द्विज उत्तम
वे चरण, चरण बस, वर्णाश्रम रक्षण के

१- तुलसी० उदित उदय गिरि मंच पर रघुवर बाल पतंग ।
बिकसे संत सरोज सब हरषे लोचन भृंग ॥

शूद्रों पर हुए इस अत्याचार का कुफल भारतीय संस्कृति की अपराजेय शक्ति को निर्बल बनाने में सफल हुआ है। 'प्रबन्ध प्रतिमा' में 'वर्तमान हिन्दू समाज' नामक निबन्ध में कवि ने इस स्थिति पर आक्रोश प्रकट किया है और मानवतावादी नव्य वेदान्त के प्रवर्तक स्वामी विवेकानन्द का उद्धरण दिया है -- 'भारत के उच्च वर्ण वालों, तुम्हें देखता हूं तो जान पड़ता है, चित्र शाला में तस्वीरें देख रहा हूं। तुम लोग छाया-मूर्तियों की तरह विलीन हो जाओ, अपने उत्तराधिकारी और शूद्रों को अपनी तमाम विभूतियाँ दे दो। नया भारत जाग पड़े।' इस्लामी धर्म को अपनाने में शूद्रों ने अपनी भलाई देखी जिससे विजित भारत की संस्कृति पर छाने में इस्लाम को सुविधा मिली। ऋतु का प्रभाव जैसे वृक्ष में संचित रहता है, निराकार जैसे जीवन में साकार होता है वैसे ही इस्लामी शक्ति भारतीय जीवन में व्याप्त हो गई[1]। निराला के मतानुसार तत्कालीन भारतीय सभ्यता की सर्वक्षेत्र व्यापी इस रुग्णता ने ही मुस्लिम संस्कृति को विजय पाने में सुविधा दी --

> इसने ही जैसे बार बार
> दूसरी शक्ति की की पुकार
> साकार हुआ ज्यों निराकार जीवन में
> यह उसी शक्ति से है वलयित
> चित देश-काल का सम्यक् जित
> ऋतु का प्रभाव जैसे संचित तरु-तन में।

---

1. The muslim conquest had a tremendous effect upon the evolution of Indian culture superficially, it upset everything : the Hindu religion received a terrible blow, the patronage of priests and Pandits ceased, the Hindu monuments were destroyed, literature received no real encouragement and languished; to all the political conquest was synonymous with cultural death". - The Influence of Islam on Indial Culture page 136 - Dr. Tarachand.

रामचरित मानस के उत्तरकाण्ड में कलिकालग्रस्त समाज के चित्रण के पीछे तुलसी की जैसी गम्भीर चेतना है वही ३५ से ३६ बंध तक वर्णित राष्ट्र के जीर्ण चित्रों में निराला में पाई जाती है । तुलसी ने अकबर और जहांगीर का शासनकाल देखा था जिसमें सन १५६६ में अकाल तथा १६१८ में भीषण महामारी का प्रकोप हुआ था[१]। जन साधारण खिन्न से खिन्नतर होता गया और शोषक अत्याचारी सामन्त वर्ग निरन्तर भोगविलास में डूबा रहा । `तुलसीदास` में इस वैषम्य का चित्रण प्रकृति के रूपक के सहारे किया गया है । वर्षा में कीचड़ पानी से भरी नदी शरद में क्षीण हो जाती है और उसकी क्षीणता का कारण `हिम अरि` होता है । उसी प्रकार उदर भरने वाले स्वार्थ सिद्ध करने वाले सामन्तों ने जनता को दुःखी बनाया है --

वर्षा में पंक प्रवाहित सरि,

हो क्षीण-काय-कारण हिम अरि,

केवल दुःख देकर उदर भरि जाते ।

प्रसिद्ध इतिहासज्ञ सर यदुनाथ सरकार ने स्वीकार किया है -` ... मुस्लिम राज्य ने राष्ट्र को एक बनाने, राष्ट्रीय चरित्र का विकास करने या लोगों की आर्थिक उन्नति के निश्चित करने का कभी कोई प्रयत्न नहीं किया[२]।` अपनी सुख-सुविधा के नाम पर मुस्लिम कुशासन को सहारा देने वाले `मनसब` के लोभियों के कारण ही देश कभी संगठित होकर विदेशी बर्बर आक्रान्ताओं से लोहा न ले सका ।

निराला के `तुलसीदास` में वर्णाश्रम धर्म की प्राचीन मर्यादा के प्रति उसी गहरी ~~अन्तिम~~ आसक्ति के दर्शन होते हैं जो `तुलसी` के मानस में पायी जाती है ।` वर्णाश्रम धर्म एक ऐसी सामाजिक स्थिति है, जो चिरंतन है । स्वाधीन भारत की इससे अच्छी वर्णना नहीं हो सकती । कोई समाज इस धर्म

१-- कलि बारहिं बार दुकाल परै । बिनु अन्न दुखी सब लोग मरै ।

२-- मुगल शासन पद्धति,पृ० २१६ --- यदुनाथ सरकार

को मानता भले न हो, पर वह संगठित रूप में होगा । पर यह निश्चित है कि यह अधिकार सार्वभौमिक है, एकदेशीय जातिगत या व्यक्तिगत नहीं।[1] मध्यकाल में एक ओर वर्णाश्रम धर्म की मर्यादा टूटी, दूसरी ओर उसका आधार जातिगत हो जाने से शूद्रों के उत्पीड़न का सहारा बन गया । संस्कारों के आभूषण छूट गए, सकल वर्णों के ठाट टूट गये । क्षत्रिय तृष्णास्पर्द्धा तथा ब्राह्मण चाटुकारिता में स्वयं को खो बैठे[2] । बहुसंख्यक दीनों का करुण पुकार मुस्लिम दासता को तोड़ने में सफल नहीं हो सकता था क्योंकि भौतिक ऐश्वर्य के अंधकार की प्रबलता को दुर्बल नहीं भेद सकते[3] ।इस स्थिति में हत बल देश को अपना दारुण शृंखला में बंधे रहना बहुत सरल हो गया । ऐसे दारुण-काल में अंधकार को भेदने के लिए रवि - कुल-जीवन-मानस धन की अपेक्षा थी । हवा की तरह बहने वाली अदृश्य अवास्तविक छाया से ढके किरणों के संस्पर्श से जीवित सत्यालोक को सबसे पहले क्रान्तिदर्शी तुलसी ने पहचाना --

खींचा कवि ने मानस तरंग
यह भारत संस्कृति पर सभंग
फैली जो, लेती संग संग जन-जन को,
इस अनिल-वाह के पार प्रखर
किरणों का वह ज्योतिर्मय घर
रवि-कुल -जीवन-चुम्बन कर मानसघन जो ।

नीली यमुना के तट पर बसे व्यवसाय-प्रखर राजापुर के ज्योतिश्चुंबी कलशों की मधुछाया में रहे चेतन, शास्त्र, काव्य-आलोचना--समर्थित, आयत कुंज सुखद , पुष्ट देह और अपनी प्रतिभा में निःशंक ब्राह्मण कुल दीपक `तुलसीदास`

१- प्रबन्ध प्रतिमा,पृ० ७७ — [illegible]

२- तु०की० `कलिमल ग्रसे धर्म सब लुप्त भए सद्ग्रन्थ
दम्भिन्ह निज मति कल्पि करि प्रकट किए बहु पंथ
भए लोग, सब मोह बस लोभ ग्रसे शुभ कर्म
...... बरन धर्म नहीं आश्रम चारी । श्रुति विरोध रत सब नरनारी
द्विज श्रुति बेचक भूप प्रजासन । कोउ नहीं मानत निगम अनुसासन ।।
— मानस,पृ० ५५२ स०,गुप्त
डॉ. माताप्रसाद गुप्त

३- तुलसीदास ३२ बंद

रहते थे जिनके गौरभ से आकाश,पृथिवी, दिशाएँ सब प्रसन्न हैं। एक बार सखा गणों के साथ वे चित्रकूट जाते हैं। निराला ने इस प्रसंग की नियोजना कर तुलसी-मानस के क्रमिक घात-प्रतिघात, संकल्प-विकल्प को उपस्थित किया है -- रचनात्मक कल्पना से प्रभावित होकर ही कोई महाकवि और अति विशाल संस्कृति का आख्याता नहीं बन जाता है। " इस ग्रन्थ में... चित्रकूट में प्राकृतिक छटा के बीच किस प्रकार उन्हें आनन्दमयी सत्ता का बोध हुआ है और नव जीवन प्रदान करने वाले दिव्य-गान की प्रेरणा हुई उनकी अन्तर्वृत्ति के आन्दोलन के रूप में वर्णन है।[1] प्रारम्भ में तुलसी का चिन्तन और मध्य में उनका अन्तर्द्वन्द्व अन्त में उसके महा प्रत्यावर्तन की स्वाभाविकता की रक्षा करता है। मुस्लिम शासन काल का राजनैतिक, सामाजिक तथा धार्मिक जीवन में उत्पन्न विश्रृंखलताओं और असंगतियों को लेकर तथा भारतीय संस्कृति के क्रमिक ह्रास से तुलसी-मानस चिन्तित है। निराला ने प्रकृति के सम्पर्क से जन्मे तुलसी के मानस के उतार-चढ़ाव को उकेरा है। चित्रकूट में प्रकृति का साहचर्य पाकर तुलसी का मन नव प्रकाश से भर जाता है। परन्तु प्रकृति की भाषा स्पष्ट न होकर कुछ छिपती सी और अपनी ही आभा से रंजित थी। उनके मन को प्रकृति दर्शन से उत्पन्न भाव कुहरे की कुण्डली जैसा लगा अर्थात् स्पष्ट-अस्पष्ट किन्तु आकर्षक। आधा भाग वह था जो कवि-अनुभूत था और आधा भाग वह है जो प्रकृति-कथित है।

प्रकृति की छवि देखकर उनके पुराने संस्कार जागृत हो गए नेत्रों में किसी भूली बात को याद करती सी चिन्ता झलक आयी -- जैसे बहुत दिनों के बाद अपने प्रियजन को पहचान रही हो। अनिमेष कवि को प्रकृति-व्याप्त आनन्द का भान होता है। कोमल,तृण,लता और तरु युक्त प्रकृति मानों कवि को अपनी बाँहों में सिमेट लेने को आतुर है। कवि प्राणों के भार से उऋण हो जाता है, किसी प्रकार का सांसारिक ऋण-बोध शेष नहीं रह जाता। परन्तु हिमवारि ताप से झुलसी प्रकृति अपने हृतस्वाद के मन की वेदना कह कवि को सत्य की खोज हेतु उत्प्रेरित करती है

१-हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ६६४ — आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

प्रकृति में व्याप्त सूक्ष्म सौन्दर्य में निहित आध्यात्मिकता का दर्शन तुलसी को उसी प्रकार होता है जैसे वैदिक ऋषि व्यापक सत्य स्वरूप धरता, शून्य के विस्तार, सूर्य,चन्द्र और ऋतुओं के आवागमन के बीच `कस्मै देवाय:` को खोजता हो या वर्डस्वर्थ को प्रकृति की एक शिरा में परमात्म्य का बोध हुआ हो[१] --

लो चढ़ा तार लो चढ़ा तार
पाषाण खण्ड ये करो हार
दे स्पर्श अहल्योद्धार- सार उस जग का,
अन्यथा यहां क्या ? अंधकार
बंधुर पथ,पंकिल सरि कगार
झरने, झाड़ी, कंटक , विहार पशु-खग का ।

योगी जैसे मलाधार में सुप्त कुण्डलिनी नाड़ी को प्रबुद्ध कर षड्चक्रों का भेदन कर निम्न धरातलों को निरन्तर छोड़ता हुआ अन्तिम सहस्रार तक ले जाता है जहाँ वह अनहदनाद सुनता है, वैसे ही तुलसी का मन-विहंग रंगों और संस्कारों की तरंगों को सन्ध्या समय आकाश में ऊपर उठती सूर्य की आभा के समान छोड़ रहा है । ऊर्ध्वगामी मन की क्रिया को सटीक बिम्ब विधान के सहारे द्योतित किया गया है । योगी संस्कारों की भूमि का भेदन कर अंतिम चक्र में पहुंचकर अखण्ड आनन्दमय अनहदनाद का श्रवण करता है, किन्तु तुलसी को मानस ऊर्ध्व देश में भी भारत-देश काल को रंगती `छाया` के दर्शन होते हैं । यह छाया मुस्लिम संस्कृति की है जो समस्त भारत-भू पर छा रही है, उसने समृद्ध-वृहत् अतीत से तत्कालीन भारत को विच्छिन्न कर रखा था --

---

१- One impulse from a vernal wood
May teach you more of man
Of moral evil and of good
Than all the sages can
- Wordsworth.

उस मानस ऊर्ध्व देश में भी
ज्यों राहु ग्रस्त आभा रवि की
देखी कवि ने छवि छाया-सी भरती सी --
भारत का सम्यक् देश-काल
खिंचता जैसे तम-शेष-जाल
सोचा, वृहत् से अंतराल करता था ।

तत्कालीन समाज की राजनैतिक सामाजिक और आर्थिक स्थितियों के बीच कवि में उस अंधियारा छाया को सूर्य की आभा से पराभूत करने की महत् भावना जन्म लेती है --

कल्मषोत्सार कवि के दुर्दम
चेतनोर्मियों के प्राण प्रथम
वह रुद्ध द्वार का आया तम तरने को --
करने को ज्ञानोद्धत प्रहार --
तोड़ने को विषम व्रज-भार
उमड़े, भारत का भ्रम अपार हरने को ।

तुलसी को यह आत्मबोध उस युग में होता है जब 'काल' कामिनी-कुमुद कर कलित ताल पर चलता था । जैसे ही तुलसी को सिद्धि प्राप्त होने को होती है तभी मोहरूपा नारी रत्ना भी आकाश की तारिका सी नभोदेश में उदित होती है । राही को राह में जैसे नदी वाम होती है वैसे ही उस 'वामा' की छवि वाम सिद्ध हुई । उसने कवि को अपने भीतर मूँद कर उनके उत्थान-क्रम को तिर्यक् दृगों से 'जाते हो कहा' कह कर अवरुद्ध कर लिया[1] । तुलसी का मानस नारी रूप में बँध कर रह गया और लक्ष्य तक न जा सका । उनका ऊर्ध्वोन्मुख

१- नारी विवस नर सकल गुसाईं । नाचहिं नट मर्कट की नाईं ।।
— मानस, पृ० ५४३ सं० गुप्त

मन की प्रकृति और समाज के दाह और दुःख से क्षुब्ध था नीचे उतर कर वह माया से अभिभूत पहली दशा में आ गया और प्रकृति उन्हें पुन: शोभामयी जान पड़ी । पंचतीर्थ,कोटतीर्थ,हनुमद्धारा, कामदगिरि,जानकी कुंडादि तीर्थों का दर्शन कर जब वे घर की ओर अग्रसर हुए तो समस्त प्रकृति ही रत्नावली का रूप बन जाता है । रत्नावली का परिचय देते हुए निराला ने पहले ही 'प्रियकरावलंब की सत्य यष्टि, प्रतिमा में श्रद्धा की समष्टि' कह कर माया रूपा नारी को ऊँचा उठाया है । 'माया' असत् की ओर ले जाती है किन्तु नारी सत्य व और प्रकाशतक भी ले जाती है । अपने हाथों अपना संसार लुटा कर मोहग्रस्त तुलसी को जगाने वाली रत्नावली अबला न होकर 'बल की महिमा' कही जाएगी|[1] रामकृष्ण परमहंस को अपनी पत्नी में आद्या शक्ति के दर्शन होते थे । ब्राह्मणत्व का संस्कार जागने पर काम-दग्ध होने पर तुलसी को 'कामा' 'अनल प्रतिमा' आभासित होती है । ज्ञान प्रबुद्ध तुलसी अपनी पत्नी में सरस्वती और लक्ष्मी के दर्शन करते हैं --

देखा शारदा नील-वसना
है सम्मुख स्वयं सृष्टि-रशना
जीवन- समीर-शुचि-नि:श्वसना, वरदात्री
वीणा वह स्वयं सुवादित स्वर
फूटीं तर अमृताक्षर - निर्झर
यह विश्व हंस है चरण सुघर जिस पर श्री ।

और उस भारती की दृष्टि से बँधकर कवि उस अम्बर तक पहुँच जाता है जहाँ शून्य धुएँ के समुद्र-सा लगता था जिसमें चन्द्र और सूर्य डूब रहे थे,दिग्काल की

१- धिक् धाये तुम यों अनाहूत
धो दिया श्रेष्ठ कुल धर्म धूत
राम के नहीं काम के सुत कहलाए ।
हो बिके जहाँ तुम बिना दाम
वह नहीं और कुछ हाड़-चाम
कैसी शिक्षा कैसे विराग पर आए ?
--- तुलसीदास(८५)

सीमाएँ नष्ट हो रही थीं[1]। इस ऊर्ध्वगमन के आकर्षक चित्र का ,जिसमें आध्यात्मिक मार्श्चेतना और अन्तर्दृष्टि को बाँधने का प्रयास किया गया है, तुलना दान्ते और इकबाल के चित्रों से हो सकती है । ऊर्ध्वगामिता का ऐसा स्वर्णचित्र अरविन्द की `सावित्री` तथा पंत के `लोकायतन` में मिलता है । निराला के ये भाव चित्र संकल्पात्मक अनुभूति के चित्र हैं और इनमें उसी आत्मबोध का प्रतिफलन है जो परमहंस और विवेकानन्द की पहली भेंट के प्रसंग में प्रसिद्ध हो चुका था । चित्रकूट की वनश्री में ऊर्ध्वगामी मन को नीचे खींच लाने वाली रत्नावली तारिका दृष्टिहीन रह गई । योग की इस चरमावस्था में जीवन के द्वन्द्व और बँध मिट गए । जिस नारी-मोह में कवि बंधनग्रस्त था उसी के द्वारा वह असीमता का बोध पाता है---

जिस कलिका में कवि रहा बंद
वह आज उसी में खुला मंद
भारती रूप में सुरभि-छंद निष्प्रश्रय ।

रामचरित मानस के भावी रचयिता तुलसी छूट-छूट कर छिन्न हुए आसंहित खिन्न भारत को अपनी `अकल कला` से जोड़ने का संकल्प करते हैं । बिन्दु जल संचित कर रवि कर जैसे वर्षण से भव-पादप को लहरा दे वैसे ही कवि की कला ने लोभ मोहादि से ग्रस्त मानवों को ज्ञान की ओर प्रेरित किया[2]। देशकाल की बाधाओं से पीड़ित उस कवि की चेतना जागी है और उसे अपने भारत के असीम सौन्दर्य का बोध हुआ है । अब राग,द्वेष,छल,कपट की वे रागनियाँ जो समाज के निर्जीव चिह्न थीं --- सो जायेंगी । और वस्तुत: तुलसी का साहित्य पढ़कर जागतिक क्षुद्रताएँ बहुत पीछे छूट जाती हैं । राम-रावण का युद्ध दो संस्कृतियों के संघर्ष को दिखाता है । एक ओर राम हैं दूसरी ओर रावण,एक ओर भारतीय हैं,दूसरी ओर मुसलमान, एक ओर प्रभु हैं तो दूसरी ओर माया । कवि निराला

१- न वहाँ सूर्य है न चन्द्र , न मैं हूँ न तुम, वहां केवल आनन्द है । तुम स्वयं आनन्दस्वरूप हो, अपने चिदानन्दमय,शान्तिमय स्वरूप को तुम नहीं समझना चाहते हो इसी से तुम दु:ख भोगते हो । जब तुम अपना बाहर का खेल त्याग दोगे अपने आनन्दमय स्वरूप को भीतर ढूंढोगे तो वह तुम्हें मिल जायगा । वहां तक न मन का पहुंच है और न वाणी की । वह है `अवाङ्मनसगोचरम्`। रामकृष्ण वचनामृत,पृ०५-
२-तुलसी के लिए ताराचन्द ने लिखा है --- "He is like a natural perennial mountain spring which bubbles with the waters of pure sweet joy and slakes the thirst of those who are weary and heavy laden with the [illegible] of the world" -- The Influence of Islam on Indian Culture p.145.

'भरतवाक्य' के रूप में उद्घोषणा करते हैं --

होगा फिर से दुर्धर्ष समर
जड़ से चेतन का निशिवासर
कवि का प्रतिछवि से जीवन हर, जीवन भर
भारती इधर, हैं उधर सकल
जड़ जीवन के संचित कौशल,
जय, इधर ईश हैं उधर सबल माया कर ।

तुलसीदास मन ही मन जगतोद्धार का महत् संकल्प ले, निरन्तर बहने का व्रत धारण कर जब घर छोड़कर चलने को तत्पर होते हैं तो सामने विश्व संगीत की प्रतिमा सी रत्नावली छलछलाए नेत्रों सहित दीखती है जिसे तुलसी अपना महाव्रत सुनाते हैं । और रत्नावली विश्व को आभा देने वाली गौरवमयी प्रतिमा बन जाती है जैसे सरस्वती संकुचित पुष्प-पटल खोल रही हो या कमला छवि जल में तैर रही हो । उसी मूर्ति का प्रकाश जैसे सूर्य की सुन्दर रेखा के समान पूर्व से फूट पड़ा । नारी जाति के विरोधी कहे जाने वाले तुलसीदास जब 'कत विधि सृजीं नारी जग माहीं पराधीन सपनेहुं सुख नाहीं' जैसी करुण मर्मस्पर्शी पंक्तियाँ लिखते हैं तो कौन जानता है कि तुलना -निर्मात्री ही मानस में नहीं जाग उठती !

मध्यकालीन मुस्लिम सभ्यता और संस्कृति के बीच नष्ट भारतीय भारतीय संस्कृति का उद्धार करने वाला तुलसी का मानस आर्य संस्कृति का सन्धि है । आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी और रवीन्द्र के लेखों को पढ़कर गुप्त जी उपेक्षिता उर्मिला का उद्धार करते हैं तो निराला ने 'तुलसीदास' में अपनी असाधारण मौलिक प्रतिभा से रत्नावली के [illegible] को मध्यकालीन सामंतीय पंकिलता से ऊपर उठाकर महिमा मण्डित किया है । इस काव्य में निराला ने अपनी ही प्रतिच्छाया देखा है और पुरातन कवि की मनोभूमि को अपने संघर्ष का रंगमंच बनाया है । रामचरित मानस की जटिल और भाव-सम्पन्न रचना-प्रक्रिया का अत्यन्त सूक्ष्म और गहन विश्लेषण करके कवि ने मानो अपनी सांस्कृतिक प्रक्रिया को समझने का बड़ा महत्वाकांक्षी प्रयत्न किया है, जो उनके कृतित्व को समृद्ध और महत्वपूर्ण बनाता है । विरोधों के कोलाहल से ऊपर उठकर वे 'शक्ति' के लिए विजय प्राप्त करते हैं । द्वितीय महायुद्ध और [illegible] संघर्ष ने राष्ट्रीय गौरव अभिमत निराला को अप्रतिहत

चेतन को ठेस पहुँचाई । इसके पूर्व का उनका साहित्य स्वप्नभंग और अवसाद से परे है । १६३१ के गांधी इरविन पैक्ट की अच्छी प्रतिक्रिया न हुई परन्तु १६३८ में रचित अपने 'तुलसीदास' में उन्होंने भारतीय संस्कृति और शौर्य का विजय का संदेश दिया । 'प्रिय मुद्रित दृग खोलो' और 'जागो फिर एक बार' का प्रभाती गाने वाले निराला 'तुलसीदास' में अपने को नवजागरण के प्रतीक-पुरुष और प्रवर्तक के रूप में परिकल्पित कर अज्ञान अंधकार में डूबी संस्कारों की वीणा पर ज्ञान का प्रकाश डाल कर नव वसन्त के स्वर निकालने वाले काव्य की रचना का व्रत लेते हैं । तुलसी ने भारत के मध्य काल में साहित्यिक चक्र प्रवर्तन का जो महत् कार्य किया था वही कवि का 'तुलसीदास' आधुनिक काल के संदर्भ में करता है । अंग्रेजी काल में सब कुछ ऐश्वर्य गँवा कर मात्र करुणा के स्वामी भारत के पास देने को कुछ भी नहीं है (अर्थात् उसकी संस्कृति का इतना ह्रास हो चुका है कि वह केवल ले सकता है, दे नहीं) -- वह कवि वीणा द्वारा व जागृत कान्त-काल में विश्व के साथ उन्मुक्त आदान-प्रदान के धरातल पर आसीन हो सकेगा, ऐसा कवि का आशा और कामना है[1]।

'कामायनी' की तरह तुलसीदास का कोई सूत्रबद्ध या क्रमबद्ध सांस्कृतिक संदेश नहीं है,[2] परन्तु प्रकृति और जीवन पर छाया छाया के अति विस्तृत प्रभाव क्षेत्र को अपने काव्य में व्यापक-पीठिका पर दिखाकर 'प्राची दिगन्त -उर में पुष्कल रवि-रेखा' में स्थापन करने वाला कवि तुलसी के 'कलियुग के व्यापक वर्णन के बाद 'रामराज्य के स्थापना के वृहत स्वप्न की सम्पूर्णता का अनुगमन करता है ।

१- लख के अनार्य रे तार -वार

जो उन पर पड़ी प्रकाश-धार,

जग वीणा के स्वर के बहार रे, जागो,

इस पर अपने कारुणिक प्राण

कर लो समक्ष देदीप्यमान

दे गीत विश्व को रुको,दान फिर मांगो । --तुलसीदास(६७)

२- सरस्वती,जुलाई ६८,पृ०३६ लेख , आचार्य वा०स० शा०

तुलसीदास को कवि ने सांस्कृतिक नवजागरण के प्रतीक रूप में लिया है -- यही कारण है कि कवि की दृष्टि, बाह्य भौतिक घटनाओं के संघटन की अपेक्षा मानव हृदय का क्रमश: स्थितियों को सूक्ष्मता से पकड़ता हुई संस्कृति का ऐतिहासिक उत्थान पतन प्रस्तुत करता है । तुलसीदास के अन्त:संघर्ष और आध्यात्मिक उत्कर्ष को निराला ने स्वयं अपने जीवन के भीतर से देखने का प्रयास किया है । कवि का लक्ष्य रत्नावली और तुलसी का परम्परा-प्रचलित कथा का अनुगायन नहीं है । इतिहास, पुराण और दर्शन को पचाने वाले पांडित्य ने संस्कृति को निराला की सहज चेतना का सहज अंग बना दिया । ऐसे संस्कृति प्राण कवि ने 'तुलसीदास' के ऐतिहासिक भाग में पराजित देश की चेतना का सशक्त निवरण देते हुए स्वयं को नवजागरण के प्रतीक पुरुष के रूप में कल्पित किया है । पुनर्जागरण की चेतना से अनुप्राणित 'तुलसीदास' सांस्कृतिक गरिमा का एक भव्य आख्यान प्रस्तुत करता है ।

अंधायुग

-0-

भारत को स्वतन्त्रता मिली पर देश विभाजन के कारण हुए साम्प्रदायिक दंगों, लूटपाट, नृशंस हृदयद्रावक, वीभत्स और पाशविक घटनाओं के बीच बीच भारत ने दु:ख, निराशा, विद्वेष, घृणा, अनिश्चय और अवसादपूर्ण वातावरण में स्वतन्त्रता दिवस मनाया । महायुद्धों की विभीषिका से भारतीय चेतना का उसने गहरे स्तर पर तादात्म्य नहीं हो पाया था, क्योंकि तब राष्ट्रीय अभियान ही एकमात्र हमारा ध्येय था जिसमें समस्त कर्मों और [illegible] का विलय हो जाता था । परन्तु स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद गहरी रिक्तता और बिलराव का बोध हुआ कि हमने विवेक को तिलांजलि देकर मूल्यों की अर्थवत्ता पर दृष्टि डालने का प्रयास नहीं किया ।

आधुनिक युग के अनिश्चय, अनास्था, कुंठा तथा अतिवैयक्तिकता के वातावरण ने जीवन मूल्यों को विघटित करने में योग दिया । युद्ध जनित जीवन के प्रति अनिश्चय की भावना ने क्षणवादी दर्शन को जन्म दिया, भोगवादी तृष्णा को बढ़ावा दिया । स्वतन्त्रता के बाद तृतीय महायुद्ध की आशंका, विध्वंसक अणु अस्त्रों के निर्माण-परीक्षण की होड़, विश्व स्तर पर पारस्परिक तनातनीपूर्ण वातावरण में आस्था और मूल्यों के विघटन और बिलराव की समस्या सामने आई, जिसे नयी कविता के आधार-ग्रन्थ "अंधायुग" के माध्यम से धर्मवीर भारती ने प्रस्तुत किया ।

वर्तमान युद्ध-संस्कृति की विकृतियों, असंगतियों क पर ध्यान केन्द्रित करने वाली इस रचना में [illegible] काल की कथा को बड़े उपयुक्त ढंग से चुना गया है । यह अंधेयुग की कथा है या "कथा ज्योति की है अंधों के माध्यम से ।"

बिखराव , टूट और अंधेपन के बीच भी मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा द्वारा जीवन प्रक्रिया के प्रति उद्बा[illegible]दृष्टि रखने के कारण ही 'अंधायुग' ज्योति की कथा है ।

वैज्ञानिक प्रगति के पंखों को लगाकर हमने अन्तहीन आकाश में उड़ान भरी और अपने विनाश के लिए संहारकारी अस्त्रों का निर्माण किया । पारस्परिक 'भय' की भावना ने ऐसी उलझन और जटिलता भरी युद्ध सभ्यता का निर्माण कर दिया है जिसमें अनेक संकट उठ खड़े हुए हैं । 'अंधायुग' में युद्ध के बाद अवतरित होने वाले उस अंधे युग की कथा है, जिसकी मनोवृत्तियाँ,आत्माएं सब विकृत हैं । यदि मर्यादा की डोरी है भी तो वह उलझ कर रह गई है । अंतर की अंध गुफाओं के वासी पथभ्रष्ट,आत्महारा, विगलित अंधों की यह गाथा सम-सामयिक संदर्भ से इतना सम्पृक्त है कि ब्रह्मास्त्रों के युग की गाथा पढ़ते समय हम आणविक संस्कृति के अध्याय पलटने लगते हैं । पौराणिक आख्यान को लेकर अपने युग के व्यापक विलोम को अन्तर्मन्थन द्वारा प्राप्त गहरी दृष्टि से कवि ने उभारा है । परन्तु यह नहीं समझना चाहिए कि 'अंधायुग' समासोक्ति या रूपक है । " यह इतिहास की पुनरावृत्ति का सहानुभूतिपूर्ण अध्ययन है ।[1] 'अंधायुग' में इतिहास ने अपने को दुहराया है, द्वापर में अन्य अंधियारा आज भी ज्योति की सम्भावनाओं को घेरे हुए है । प्रभु या मूल्य मर्यादा की मृत्यु ही इसका कारण है --

> उस दिन जो अंधा युग अवतरित हुआ जग पर
> बीतता नहीं रह रह कर [illegible] है ।
> हर क्षण होती है प्रभु की मृत्यु कहीं न कहीं
> हर क्षण अंधियारा गहरा होता जाता है ।

क्योंकि हम सब के मन में गहरा उतर आया है कि युग अंधियारा है, अश्वत्थामा है, संजय है, [illegible]रियों की दासवृत्ति है, अंधा संशय और पराजय है[2] ।

१- हिन्दी नव लेखन-- डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी , पृ० ८७

२- अंधा युग, पृ० १२०

परन्तु इस सभी के बीच सत्य के दुर्लभ कण छिपे हैं, यह मानते हुए इनमें निडर धंसते हुए भारती ने वेदना से परे एक 'सत्य' पाया है और उसके व्यापक धरातल पर 'निजी' और 'व्यापक' का बाह्य अन्तर मिट गया है । भारती के शब्दों में 'यह तो व्यापक सत्य है, जिसकी निजी उपलब्धि, मैंने की है -- अत: उसकी मर्यादा उसी में है कि वह पुन: व्यापक हो जाए ।'[1]

जीवन दर्शन

पाप-पुण्य, सत्-असत्, न्याय-अन्याय, आशा-निराशा, निवृत्ति प्रवृत्ति आदि विभिन्न द्वन्द्वों के बीच से अपने प्रबुद्ध विवेक के लिए राह निकालने वाला, खुली आंखों और खुले दिमाग से देखने वाला साहित्यकार अपनी रचना को जीवन विवेक द्वारा प्राणवत्ता प्रदान करता है । गांधी जी के राष्ट्रीय आन्दोलन ने प्रत्येक लघुता को गरिमा प्रदान की -- राष्ट्रपिता के इंगित पर हमने राष्ट्रीय अभियान पूर्ण किया परन्तु वैयक्तिक स्वतन्त्र चिन्तन और विश्लेषण की प्रवृत्ति हमसे दूर छूट गई और उसका स्थान नारेबाज़ी ने ले लिया[2] । फलत: दो अत्यधिक सीमाएँ सामने आयीं -- या तो हमने परम्परागत चिन्तन को बिना युग संदर्भ समझे यथावत् ग्रहण कर लिया या फिर नवीन के लोभ में पुरातन का सर्वथा निषेध कर अनास्था और धुरीहीनता के चक्र में खो गए । जीवन का खोखलापन हमारे सामने आया --

--- हमने मर्यादा का अतिक्रमण नहीं किया ।
क्योंकि नहीं थी अपनी कोई भी मर्यादा ।
--- हमको अनास्था ने कभी न झकझोरा ।
क्योंकि नहीं थी अपनी कोई भी गहन आस्था ।।

दर्रों, झरनों और चारों ओर पहाड़ों से ढका यह युग ही अंधा समुद्र है जिसे उमड़ते हुए तूफान मथ रहे हैं । इतिहास की गति सरल न होकर चक्राकार,

---

१- अंधायुग, पृ० २ अनुक्रम

२- 'फिकरे और नारेबाज़ी आज हमारे खतरनाक साथी बन गये हैं क्योंकि वे स्पष्ट चिन्तन और निर्धारित लक्ष्यों और साधनों के [illegible] नहीं हैं । हममें से अधिकांश सोचने का कष्ट ही नहीं उठाते ।'--यूनिटी आफ इंडिया, पृ०६४
-- पं० जवाहरलाल नेहरू

वर्तुल होता है । यदि ऐसा न होता तो पिछले पन्नों का अस्तित्व ही न होता । युग-प्रवाह में अनेक धाराएँ उपधाराएँ अंधे साँपों की तरह किलबिला रही हैं और उनकी सफेद केंचुल गांधारी की आँखों और सैनिकों के जख्मों जख्मों की पट्टियाँ हैं --

ऐसा है यह अंधा समुद्र

जिसे हम आज का भव प्रवाह कह सकते हैं ।

कौरव नगरी में भविष्य झूठा सिद्ध होता है । विजय अर्थहीन साबित होती है । निरन्तर प्रतिघात करने करते करते अर्द्धसत्यों ने शुभ और कोमलता की हत्या कर दी है[1] और शब्दों का मूल्य समाप्त हो गया ।

जाने कितने

झूठे भविष्य

ध्वस्त स्वप्न

बिखरे हैं कौरव नगरी में

गली गली

यह सांस्कृतिक संकट का या मानवीय संकट की स्थिति इसालिए उदित हुई है कि आज का मानव क्रमभग्न, संकल्पहीन और अंतरात्मा-विहीन हो गया है । उसमें इतना साहस नहीं है कि वह स्वतन्त्र चिन्तन कर सके, इतना बल नहीं है कि विकल्प करे, इतना संकल्प नहीं कि विवेक और आचरण को साथ साथ निभा सके । परिणामत: निरर्थक सैलाब और अस्पष्टता की कुहेलिका में सारे संदर्भों से विच्छिन्न वह बहता रहता है ।

इस आन्तरिक और बाह्य क्रमभग्न मनुष्य की समस्या पर विचार करते हुए मैक्स पिकार्ड ने कहा -- 'संदर्भहीन, मूल्यहीन, व्यवस्थाहीन, परिस्थिति में 'हिटलर' जैसा 'साराहीन' व्यक्ति इतना बड़ा अधिनायक बन सकता है'[2] । 'महाभारत

१-अंधा युग, पृ०३४

२- उद्धृत -- [illegible] और साहित्य -- डा० धर्मवीर भारती, पृ० २६

युद्ध ने द्रोणाचार्य की हत्या, अभिमन्यु-वध, भीष्म पराभव आदि अनेक स्थलों पर अंतरात्माविहीन शून्यता को जन्म दिया और उसी ने बर्बर अश्वत्थामा को सुप्त पाण्डवों का वध करने और सुभद्रा पर ब्रह्मास्त्र चलाने पर विवश कर दिया। अश्वत्थामा स्वयं स्वीकारता है --

मेरा था पाप
किया मैंने वध
किन्तु हाथ मेरे नहीं थे वे
हृदय मेरा नहीं था वह
अंधायुग पैठ गया था मेरी नस नस में
अंधी प्रतिहिंसा बन

जिसके पागलपन में जो कुछ किया गया वह अश्वत्थामा को स्मरण नहीं है, केवल एक अज्ञात प्रतिहिंसा उसके बदन पर जख्मों की तरह फूट पड़ी। अश्वत्थामा पशु नहीं था, उसके भीतर भी शुभ और कोमल था पर युधिष्ठिर के अर्धसत्य ने उसकी भ्रूण हत्या कर दी, और उसी दिन से वह अंध-बर्बर पशु मात्र बन गया, पराजय की अंधी गुफा में रहने लगा। नाना वैज्ञानिक अस्त्रों को बनाकर आज का मानव बर्बर प्रतिहिंसा से परिचालित हो रहा है। धर्मराजों के अर्धसत्यों ने मानवीय संकल्पों को बिखेरा है और अनेक अश्वत्थामाओं को जन्म दिया है। 'अंधा युग' की इस मीमांसा में कवि की सहानुभूति पाकर अश्वत्थामा का चरित्र सबसे अधिक जीवन्त प्रतीत होता है।

युधिष्ठिर को विजय मिली, ब्रह्मास्त्रों से झुलसी धरा हरी भरी हो गई किन्तु [illegible] ध्वस्त[1] युधिष्ठिर सिंहासन के पीछे चली आती अंधी परम्परा से आहत हैं --

---

१- यों गर बीतते दिन पाण्डव शासन के
नित और अशांत युधिष्ठिर होते जाते।
वह विजय और खोखली निकलती आती
विश्वास सभी धन-धन में होते ।।
-- अंधायुग, पृ० ११५

ऐसे भयानक महायुद्ध को
अर्द्ध सत्य,रक्तपात,हिंसा से जीत कर
अपने को बिलकुल हारा हुआ अनुभव करना
यह भी यातना ही है ।

वह भीम के अमानुषिक विनोदों,आत्मघातों की परम्परा से बचकर हिमालय के शिखरों में जाने को आतुर हो उठे तो विदुर ने समझाया कि पलायन भी आत्मघात ही है --

शिखरों की ऊंचाई
कर्म की नीचता का
परिहार नहीं करती है ।
यह भी आत्मघात है ।

सन्यास के नाम पर पराजय को विजय नहीं बनाया जा सकता । कर्मठता पलायन से कहीं ऊँची है । वह धरती की मिट्टी पर पल कर भी हिमालय आदर्शों से ऊँची है । निराशा,निष्क्रियता और आत्मघात में बंधकर मानवता की मृत्यु की परिकल्पना करना उचित नहीं । मानव मात्र को नियति से स्वयं को आबद्ध मानकर हम मानवीय गरिमा की प्रतिष्ठा कर सकते हैं । अलौकिक ब को उस जयजयकार का कोई मूल्य नहीं जो विकल्प की स्वतन्त्रता और संकल्प की गरिमा को छीन कर हमें जुए में जुता भारवाही पशु मात्र बना दे । भारती की मानवतावाद में गहरी आस्था है । यह आस्था एक आस्तिक की है धार्मिक की नहीं । वे प्रभु से अधिक उनकी अनासक्त कर्मपद्धति के कायल हैं जिसे लेकर मानव इतिहास और नियति को चुनौती दे सके --

पता नहीं
प्रभु हैं या नहीं
किन्तु उस दिन यह सिद्ध हुआ
जब कोई भी मनुष्य
अनासक्त होकर,चुनौती देता है इतिहास को
उस दिन नक्षत्रों की दिशा बदल जाती है ।
नियति नहीं है पूर्वनिर्धारित
उसे हर क्षण मानव निर्णय बनाता ।मटात

भविष्य की मोहक झूठी आशा हमें परास्त करने में योग देती है । नीत्शे जैसे विचारकों ने `भविष्य के समाज में मानवीय गौरव स्थापित हो सकेगा । आज यदि उसका अभाव है तो होने दो` -- कह आगामी महामानव के अवतरण की कल्पना जगा कर वर्तमान मानव की कर्मठता,उसकी अपराजेय शक्ति और वर्तमान की सम्भावनाओं पर आघात किया । परन्तु भविष्य की अनिवार्यता झूठी होती है, कौरव परास्त होते हैं --

झूठी थी अनिवार्यता भविष्य की
केवल कर्म सत्य है
मानव जो करता है इसी समय
उसी में निहित है भविष्य
युग युग तक का

युद्ध विमुख कायर अर्जुन को कृष्ण ने यही कहा --

अर्जुन
उठाओ शस्त्र
विगतज्वर युद्ध करो
निष्क्रियता नहीं
आचरण में ही
मानव अस्तित्व की सार्थकता है ।

नयी कविता की तटस्थता और मूल्यपरक विश्लेषण को लेकर भारती ने `अंधायुग` में [illegible] की समस्या को उठाया है । सर्वांगीण मानवीय विघटन के बीच `आन्तरिकता` की पुनर्प्रतिष्ठा इस काव्य में की गयी है ।

मूल्यों में विघटन और सामंजस्य का प्रयास

भौतिक संस्कृति का चरम उत्कर्ष सही दिशाओं में न जाने पर [illegible] विकृतियां, [illegible] एक बिखराव को जन्म देती हैं । पिछली दो शताब्दियों में मानव ने विज्ञान के पंख लगाकर कभी न नप पाने वाले आकाश को माप डाला है परन्तु नैतिक निष्ठा,आन्तरिक विवेक को खोकर भय,आशंका,संशय आदि के बीच उसके पंख घायल हो गए हैं । दायित्व बोध से कट कर हम निष्क्रिय दासत्व के हाथों अपनी अन्तरात्मा के प्रज्ज्वलित विवेक को गंवा बैठे हैं । इसी

कारण आज 'बंजरभूमि' और 'खोखला आदमी' काव्य के उपादान बन रहे हैं। वर्तमान युग के प्रमुख चिन्तक कवि टी०एस० इलियट के शब्दों में --' हमारा हृदय हमसे अलग जा पड़ा है और दिमाग प्याज़ के छिलकों का तरह उतर गया है।[1]' भय पर आधारित जीवन मिथ्या को प्रश्रय देकर पारस्परिक हिंसा के लिए उत्प्रेरित करता है[2]। विजयी युधिष्ठिर हर क्षण इस भय से कातर हैं। वह खिड़की के बाहर के गहन अंधियारे में किसी ऐसे भावी अमंगल युग की आहट पा रहे हैं जिसकी कल्पना ही उन्हें थर्रा देती है[3]। इसी भय के कारण उनका सारा ज्ञान ताक पर रखा रह जाता है, उनकी सृजनशीलता अवरुद्ध हो जाती है --

भय है तो

ज्ञान है अधूरा अभी।

युद्ध संस्कृति की सर्वनाशी आत्मघाती मनोवृत्ति के बीच कवि ने आस्था, संशय, पलायन और ह्रास से ऊपर उठकर अपनी गहरी संवेदना और प्रबुद्ध जीवन विवेक के द्वारा नए मूल्यों और प्रतिमानों की प्रतिष्ठा करने का प्रयास किया है। 'हरि के रहस्यमय जीवन की जरा अलग छोटी सी पगडंडी[4]' 'अंधायुग' में साम्प्रदायिक मर्यादा से ऊपर उठकर तटस्थरूप से मूल्यगत विवेचन को ग्रहण किया गया है।

'लीग आफ नैशन्स' और संयुक्त राष्ट्र संघ आदि संस्थाओं का निर्माण शान्ति की स्थापना करने में कितना सफल रहा है यह दो घटित महायुद्धों और

१- मर्डर इन द कैथेड्रल --इलियट

२- वियना का शान्ति सम्मेलन भाषण, सार्त्र

३- अंधायुग, पृ० १०४

४- अंधायुग, पृ० ११६

सम्भावित तीसरे महायुद्ध के गरजते बादलों के बीच भली प्रकार समझा जा सकता है । व्यक्ति स्वातन्त्र्य और आस्था, अन्तर विवेक और सद्भावना, मानवतावाद और शान्ति का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है । व्यक्ति की निजी स्वतन्त्रता का तब तक कोई मूल्य नहीं जब तक समाज उसे स्वीकार न करता हो । वैयक्तिकता स्वतन्त्र होने पर भी मानवीय मूल्य मर्यादा की समग्रता से ही अर्थवत्ता पाती है । टैगोर ने अपनी एक कविता में कहा है कि हिमालय को सिर झुकाते समय हम किसी एक पत्थर के टुकड़े को ध्यान में नहीं ला सकते । महत्व समग्र दृष्टि का होना है । यही समग्र दृष्टि मूल्यवत्ता या प्रभु का रूप कहा जा सकती है । मानवीय मूल्यों की समग्रता ही प्रभु है -- इस दृष्टि से प्रभु की सार्थकता का प्रमाण भी मानव ही है ।[१] व्यापक युगचेतना जो मानवीय मर्यादाओं और मूल्यों का पुंजीगत गत्यात्मक रूप है, आस्था को निरन्तर वहन करती है । यही कारण है कि अठारह दिन के व्यापक संग्राम में कोई नहीं केवल कृष्ण मरे करोड़ों बार । जीवन और मृत्यु, आस्था और अनास्था को समानरूप से आत्मसात् करने वाली व्यापक युगचेतना के रूप में कृष्ण का अंकन हुआ है, न कि नाना पुराणों साम्प्रदायिक धर्मग्रन्थों और साहित्यशास्त्र में उलझे कृष्ण रूप में । इतिहास का निर्माण करने वाली इस व्यापक युग चेतना की अवधारणा में गीता का प्रभाव स्वीकार करना होगा । गीता के सर्वात्मवाद को यहाँ भारती ने युग चेतना का रूप प्रदान किया है --

> अट्ठारह दिनों के इस भीषण संग्राम में
> कोई नहीं केवल मैं ही मरा हूं करोड़ों बार
> जितनी बार जो भी सैनिक धराशायी हुआ
> कोई नहीं था
> वह मैं ही था
> गिरा था घायल होकर जो रणभूमि में ।

१- What ... I you do, God, when I die ?
When I you pitcher, broken lie ?
I am your garb, the trade you play
You lose your meaning, losing me.

कृष्ण आस्था के साथ अनास्था और जीवन के साथ मरण दोनों के सम्पूर्ण रूप हैं --

जीवन हूं मैं
तो मृत्यु भी तो हूं मैं ही हूं ।

और विदुर निवेदन करते हैं --

यह कटु निराशा की
उद्धत अनास्था है ।
क्षमा करो प्रभु !
यह कटु अनास्था भी अपने
चरणों में स्वीकार करो ।
आस्था तुम लेते हो
लेगा अनास्था कौन ?

आस्था, विश्वास व्यक्ति को जितना ऊपर उठाते हैं, अनास्था और अविश्वास उसकी प्रवृत्तियों को उतना ही बिगाड़ते हैं । खुली दृष्टि से जीवन को देखने वाली आस्था आक्रान्त होकर अंधी हो जाती है और तब संशय जन्म लेता है[1] । अंधकार से उत्पन्न होकर ज्योति से भाग्य जोड़ने का उपक्रम करने वाला युयुत्सु सबों से धिक्कृत, तिरस्कृत हो अनास्तिक ~~अनास्तिक~~ हो जाता है । आस्था के प्रति अनास्था का सबसे गहरा स्वर युयुत्सु का है जो आचरण और विवेक के अन्तराल के कारण अपने वर्तमान विमुख का प्रतीक है । वह आस्था के घिसे सिक्के को फेंक देता है । आस्था का यह घिसा हुआ सिक्का आज कोई मूल्य नहीं रखता । उसका अब कोई बाजार मूल्य नहीं है तो वह निरर्थक है, त्याज्य है । एक ओर आस्था अनास्था में बदली है तो और प्रद्युम्न अश्वत्थामा की अनास्था आस्था को पहचानती है । कृष्ण के पांव से बहता अश्वत्थाम का खड़ा एक अश्वत्थामा को एक अभूतपूर्व अनुभूति से परिचित कराता है और वह प्रश्न करता है कि -- ' यह जो अनुभूति मिली है क्या यह आस्था है ?'[2] अनास्था को आस्था की [illegible] के रूप में स्वीकार कर कवि [illegible] के स्वर में कहता है --

१- म[illegible]ना स्वर की है
और युग की सारी क्रियाएं असाधारण हैं
और अब मेरा स्वर संयम मुक्त है । -- अंधा[illegible], पृष्ठ७१

२- अंधायुग, पृ० १२२

इसीलिए साहस से कहता हूँ
नियति है हमारी बंधी प्रभु के मरण से नहीं
मानव भविष्य से
परीक्षित के जीवन से ।

गहन सम-सामयिक उत्तरदायित्व को समझ कर कवि ने उस रूढ़ परम्परा-[illegible] के नाम पर चली आने वाली नैतिक अवधारणाओं को नए अर्थ दिए हैं जो समृद्ध अतीत की बपौती होने के नाते हमारे ऊपर एक खुमारी के रूप में आयी थी और हमारी शिराओं में नवीन ऊष्ण रक्त के संचरण में बाधक थीं । `अंधायुग` के माध्यम से कवि ने नैतिक जीवन का नया सिद्धान्त सामने लाने की चेष्टा की है ।

नैतिक बोध--

परम्परा का ऐतिहासिक मूल्यांकन करते हुए कवि ने उसका सम्पूर्ण बहिष्कार न करके उसे समृद्ध भूमि के रूप में ग्रहण किया है -- विमर्शात्मक नैतिकता का ही कुछ मूल्य होता है । सामयिक परिस्थितिया और समस्याओं के सम्बन्ध में हमारी कतिपय [illegible] स्थायी नैतिक स्थापनाओं का क्या स्थान हो सकता है -- इस दृष्टि से विचार करते हुए कवि ने " पुराने शब्दों पर नये अर्थ की क़लम लगाकर " विनोबा के मतानुसार `विचार क्रांति` की है । वर्तमान युद्ध विघटित संघर्ष संदर्भ में नहीं नैतिकता का प्रश्न उठाना रचयिता के गहरे भाव बोध और संवेदना का परिचायक है ।

रचनात्मक और क्रियात्मक मानववाद से परिचालित इस रचना का धरातल आकाश की कल्पित ऊंचाइयों को न छू कर सहज मानव को लेकर चलता है --

हम सब के मन में गहरा उतर गया है युग
अंधा । है,अश्वत्थामा है, संजय है,
है दासवृत्ति उन दोनों वृद्ध [illegible] की
अंधा संशय है,लज्जाजनक पराजय है ।

[illegible] गांधारी,महात्मा [illegible] कृष्ण,धर्मराज यु[illegible],भीष्म [illegible]--
सभी पात्रों के चरित्र इस सजगता से युक्त हैं ।

धर्मराज युधिष्ठिर का अर्धसत्य सत्य की स्थापना के नाम पर बोले गए असत्य का ऐसा उदाहरण है जिसने अश्वत्थामा को विवश कर दिया कि वह सचमुच

अंध बर्बर पशु मात्र बन जाए । क्या यह अर्द्धसत्य पाण्डव वंश के अभ्युत्थान के लक्ष्य को सामने रखकर बोला गया था ? अन्तरात्मा और इस सन्दर्भ में नैतिक मूल्यों की निरर्थकता सिद्ध करते हुए नीत्शे ने असत्य को जीवन की अनिवार्य पूर्ति माना ।[1] परन्तु युयुत्सु ने माना था --

मैं भी हूं कौरव
यह सत्य जुड़ा है कौरव वंश से ।

और अन्त में माता गांधारी के व्यंग्य और आक्षेप से व्यथित होकर सोचता है, " अच्छा था यदि मैं कर लेता समझौता असत्य से" भले ही असत्य से समझौता कर युयुत्सु अन्दर से जर्जर हो जाते परन्तु कम से कम मां की कटुता और प्रजाओं की घृणा का पात्र तो नहीं बनते । और वे निष्कर्ष निकालते हैं --

अन्तिम परिणति में
दोनों जर्जर करते हैं
पक्ष चाहे सत्य का हो
अथवा असत्य का

सत्य का एक पक्ष अँधे धृतराष्ट्र का था जिनका स्नेह, घृणा, नीति, धर्म सभी कुछ पूर्ण वैयक्तिक था --" उसमें नैतिकता का कोई बाह्य मापदंड था ही नहीं ।" अपने वैयक्तिक संवेदन से जितना कुछ जाना उसे ही वस्तुजगत् स्वीकार करने वाले धृतराष्ट्र को सत्य कहने में कितना कष्ट हो सकता है, इसे संजय ने अनुभव किया--

आकर अंधों से
सत्य कहने की
मर्मान्तक पीड़ा है जो
उससे तो वध ज्यादा सुखमय है ।

जब धृतराष्ट्र के संवेदन के वैयक्तिक सत्य की परिधि को लांघ कर दु:शासन की हत्या का कटु सत्य आकर टकराता है तो बांध टूट जाता है और कोटि कोटि

१- द्रष्टव्य-- 'मानव मूल्य और साहित्य, पृ० २१

यौवन तक दहाड़ता हुआ समुद्र उनके [illegible] सीमित जगत् को लहरों की विषमय जिह्वाओं से निगलता हुआ अन्तर्मन में पैठ जाता है --

आज मुझे भान हुआ
मेरी [illegible] सीमाओं के बाहर भी
सत्य हुआ करता है
आज मुझे भान हुआ
\+ + + सब कुछ बह गया
मेरे अपने वैयक्तिक मूल्य
मेरी निश्चिन्त किन्तु ज्ञानहीन आस्थाएं ।

उनकी सहधर्मिणी यथार्थ से कतराने वाली अंधी जीवन दृष्टि की द्योतक है । वह जन्मांध नहीं थी । बाहर के वस्तुजगत् में फैले धर्म,नीति,मर्यादा के आडम्बर , निर्माण के क्षण में विवेक के ऊपर हावी होते जन के अन्ध गह्वर में छिपे बर्बर पशु का अनाचार -- सभी कुछ उन्होंने देखा था --

नैतिकता,मर्यादा,अनासक्ति,कृष्णार्पण
यह सब हैं अंधी प्रवृत्तियों की पोशाकें
जिनमें कटे कपड़ों की आंखें सिली रहती हैं
मुझको इस झूठे आडम्बर से नफरत थी
इसलिए स्वेच्छा से मैंने इन आंखों पर पट्टी चढ़ा रखी थी ।

दारुण नरहिंसा के क्रमिक आघातों ने मानव का नैतिक बोध छीन लिया है । अन्याय,एकांगिता और सीमा को स्वीकार कर लेना मानवता की मृत्यु का द्योतक है । आवश्यकता है ऐसी दृढ़ विश्वासी चेतना की जो न्याय,व्यापकता और मूल्यवत्ता की स्थापना के लिए प्रयत्नशील हो सके । स्वतन्त्र विवेकपूर्ण संकल्प और आचरण के बीच लम्बी खाई खुद जाने के कारण ही अनेक विभ्रम जन्म लेते हैं ।

तु.की.१- घर में तो हूं नि[illegible]
निरपेक्ष सत्य
मार नहीं पाता हूं
बचा नहीं पाता हूं
~~कर्म से मुक्त लेकिन बाबा हूं~~
खोता जाता हूं क्रमशः
अर्थ अपने अस्तित्व का । --अंधायुग,पृ०१२५

तथा

Between the idea
And the reality
Between the motion
And the act
Falls thy shadow
 - T.S.Eliot. 'The Hollowman'

आवश्यकता है कर्म और आचरण, सत्य और विवेक के ऐक्य की ।

निष्क्रियता, काल के अखण्ड प्रवाह में तृणवत् बहने वाली तटस्थ शक्तिहीनता वर्तमान संस्कृति को शक्तिहीन बनाए है । बौद्धिक खोखलेपन के कारण ही रिक्तता, [illegible],पलायनशीलता का जन्म हुआ । यह दासता और [illegible] ही हमारी चेतना के अंधेपन की घोतक है जिसे दो प्रहरियों के माध्यम से कवि ने व्यक्त किया है । ये दो 'रक्षक' हैं पर रक्षणीय तो कुछ भी नहीं, महायुद्ध को घोतित करने वाली अंधी संस्कृति और रोगी मर्यादा थी --

अर्थ नहीं था
कुछ भी अर्थ नहीं था
जीवन के अर्थ हीन
सूने गलियारे में
पहरा दे देकर
अब थके हुए हैं हम
अब चुके हुए हैं हम ।

इन प्रहरिया ने भीषण महाभारत के बीच कुछ भी नहीं सहा, कुछ भी नहीं फेला । यह तटस्थता शक्ति की नहीं, कायरता की परिचायक है । रुग्ण [illegible] के कारण यथार्थ से कतरा कर हम मनोलोकविहारी बन जाते हैं पर हमें पराजय और पीड़ा के सम्भावित भय से कतराना नहीं है-- आवश्यकता है उस मानव-शक्ति की जो नक्षत्रों की गति बदल देती है, पीड़ा और दुःख से नए अर्थ खोज लाती है --

यह जो पीड़ा ने
पराजय ने
दिया है ज्ञान
दृढ़ता ही देगा वह[१] ।

१- [illegible] करो
 [illegible] पीड़ाओं को गहरे में [illegible] करो -- अंधायुग,पृ० [illegible]

परन्तु आत्मघात और पलायन मानवीय क्षमता के पराभव के सूचक हैं । महायुद्धों के बाद मानवीयसंस्कृति को रुग्ण बनाने वाले तत्वों में आत्मघात प्रमुख है । एक ओर भौतिक उत्कर्ष, विज्ञान लोक के जादुई करिश्मे और दूसरी ओर अनास्था, धुरीहीनता जन्य भय और आशंका त्रस्त बढ़ती आत्महत्याएं । अस्तित्व की नपुंसकता के कारण इस मनोवृत्ति का जन्म हुआ है । व्यक्ति का पराभव और अनुपयोगिता, उसे आत्मघात का फल नरक का भय दिखला कर भी नहीं रोक पाती --

> आत्मघात कर लूं ?
> इस नपुंसक अस्तित्व से
> छुटकारा पाकर
> यदि मुझे पिछली नरकाग्नि में उबलना पड़े
> तो भी शायद
> इतनी यातना न होगी ।

बंधेपन की परिधि का उल्लंघन कर ज्योति वृत्त में रहने का प्रयास करने वाले युयुत्सु की नियति में भी क्या आत्मघात ही बदा था ? अपने बन्धुजनों के विरुद्ध जीवन का दाँव लगाकर भी उसे लांछन और अविश्वास, अपमान ही मिला । कौरव कुलों की कलुषित गाथा में जिसका मस्तक गर्वोन्नत रह सकता है उस युयुत्सु को अभिशिप्त विशेषण, अवहेलना और तिरस्कार क्यों मिले ? विदुर समाधान प्रस्तुत करते हैं --

> अज्ञानी, भय डूबे, साधारण लोगों से
> यह तो मिलता ही है सदा उन्हें
> जो कि एक निश्चित परिपाटी
> से होकर पृथक्
> अपना पथ अपने आप
> निर्धारित करते हैं

वर्तमान संस्कृति की "आत्मघाती नपुंसक ह्रासोन्मुखी" प्रवृत्ति युयुत्सु की आत्महत्या के उपरान्त किया गया कृपाचार्य का शाप है --

यह आत्महत्या होगी प्रतिध्वनित
इस पूरी संस्कृति में
दर्शन में, धर्म में ,कलाओं में
शासन व्यवस्था में
आत्मघात होगा बस अंतिम लक्ष्य मानव का

अवसान के क्षणों में प्रभु ने भी कहा था कि मरण मात्र रूपान्तरण का नाम है । सब का दायित्व वहन करने वाले कृष्ण अपना दायित्व सबों को सौंप जाते हैं । वे स्पष्ट कहते हैं कि अंधे युग में उनका एक अंश निष्क्रिय,आत्मघाती और विगलित रहेगा युयुत्सु और [illegible] की भाँति क्योंकि इनका दायित्व कृष्ण ने लिया है । पर क्या इस निष्क्रिय आत्मघातक अंश को हम प्रभु मानें और मानवता का प्रगति अभियान रुक जाए ? मानवीय मूल्यों की समग्रता रूप प्रभु हर मानव-मन के उस वृत्त में जीवित हैं जिसके सहारे वह सभी परिस्थितियों का अतिक्रमण कर पिछले ध्वंसों पर नूतन निर्माण करेगा --

मर्यादायुक्त आचरण में
नित नूतन सृजन में
निर्भयता के
साहस के
ममता के
रस के
क्षण में
जीवित और सक्रिय हो उठूँगा मैं बार बार ।

राजनीतिक आर्थिक संघटन

जिस युग का कथानक `अंधायुग` में लिया गया है उसके लिए `विष्णु पुराण` में लिखा है --

ततश्चा [illegible]
[illegible]

तब भविष्य में [illegible] होंगे, धरती का धीरे धीरे ह्रास होगा,[illegible] होगी

उनकी जिनकी [illegible] पूंजी होगी[1] जिनके चेहरे नकली होंगे उन्हें महत्व मिलेगा[2] शब्द शक्तियाँ लोलुप होंगी, जनता उनसे पीड़ित होकर गहन, गुफाओं में छिप छिप कर दिन काटेगी।[3] ये गहन गुफाएँ सचमुच थी या अपने कुंठित अंतर की। सत्ताधारियों के हाथों में पूंजी का केन्द्रियकरण, जनसाधारण की विपन्नता, राज्य शक्तियों की लोलुपता जन्य अत्याचार एक ओर युद्ध को जन्म देते हैं तो दूसरी ओर संस्कृति की निर्मायिका सृजनात्मक-शक्ति की गति को अवरुद्ध कर लेते हैं। अंधे राजा की प्रजा कहां तक देखे? अपनी सारी स्वतन्त्रता को बेचकर वह कुंठा की गहन गुफाओं में रहने लगती है। प्रहरियों के कथनों में उस पराभव की झलक है जो सूने गलियारे सा जीवन बिता देते हैं। इसी लज्जा और करुणाजनक स्थिति का मर्मस्पर्शी चित्र आधुनिक कवि कैफी ने 'बर्बरों की प्रतीक्षा' तथा भारती ने 'कौरव नगरी' में खींचा है --

केवल वहन करते थे आज्ञाएँ हम अंधे राजा की
नहीं था हमारा खुद का मन, कोई अपना निर्णय।

और बर्बरों के प्रतीक्षक भी प्रश्न उठाते हैं कि 'सिनेट कोई निर्णय क्यों नहीं लेती?' अपनी निर्णय[illegible] शक्ति और विवेक का इतना कुण्ठित हो जाना कि हमारी विचारणा तक पराश्रित और अपंगु हो जाए -- वर्तमान संकट का द्योतक है। युधिष्ठिर के शासन-काल में ज्ञान और मर्यादा के बीच भी वे असन्तुष्ट हैं -- पहले शासक अंधे थे पर शासन तो करते थे, प्रजा की प्रकृति को जानते थे।

प्रहरी २ -- हमको तो अन्न मिले
प्रहरी १ -- निश्चित आदेश मिले
प्रहरी २ -- एक सुदृढ़ नायक मिले
प्रहरी १ -- अंधे आदेश मिलें
प्रहरी १ -- काम उन्हें चाहे हम युद्ध ही दें या शांति का
प्रहरी १ -- जानते नहीं हैं ये प्रकृति [illegible] की।

१- [illegible] स्वामिकम हेतु
२- [illegible] मलम हेतु
३- एवम् [illegible] राजा
[illegible] प्रजा [illegible]

अंधायुग, पृ० १०

योजन तक दहाड़ता हुआ समुद्र उनके [illegible] अनुमानित सीमित जगत् को लहरों की विषमय जिह्वाओं से निगलता हुआ अन्तर्मन में पैठ जाता है --

आज मुझे भान हुआ
मेरी वैयक्तिक सीमाओं के बाहर भी
सत्य हुआ करता है
आज मुझे भान हुआ
+ + + सब कुछ बह गया
मेरे अपने वैयक्तिक मूल्य
मेरी निश्चिन्त किन्तु ज्ञानहीन आस्थाएं ।

उनकी सहधर्मिणी यथार्थ से कतराने वाली अंधी जीवन दृष्टि की द्योतक है । वह जन्मांध नहीं थी । बाहर के वस्तुजगत् में फैले धर्म,नीति,मर्यादा के आडम्बर , निर्माण के क्षण में विवेक के ऊपर हावी होते जन के अन्ध गह्वर में छिपे बर्बर पशु का अनाचार -- सभी कुछ उन्होंने देखा था --

नैतिकता,मर्यादा,जनसक्ति,[illegible]
यह सब हैं अंधी प्रवृत्तियों की पोशाकें
जिनमें कटे कपड़ों की आंखें सिली रहती हैं
मुझको इस झूठे आडम्बर से नफरत थी
इसलिए स्वेच्छा से मैंने इनआँखों पर पट्टी चढ़ा रखी थी ।

दारुण नरहिंसा के क्रमिक आघातों ने मानव का नैतिक बोध छीन लिया है । अन्याय,एकांगिता और सीमा को स्वीकार कर लेना मानवता की मृत्यु का द्योतक है । आवश्यकता है ऐसी दृढ़ विश्वासी चेतना की जो न्याय,व्यापकता और मूल्यवता की स्थापना के लिए [illegible]शील हो सके । स्वतन्त्र विवेकपूर्ण संकल्प और आचरण के बीच लम्बी खाई खुद जाने के कारण ही अनेक विभ्रम जन्म लेते हैं ।

द्र०टी०१- घर में तो हूं नि[illegible] तथा
निरपेक्ष सत्य
मार नहीं पाता हूं
बचा नहीं पाता हूं
~~[illegible]~~
खोता जाता हूं क्रमश:
[illegible] अस्तित्व का ! --अंधायुग,पृ०१२५

Between the idea
And the reality
Between the motion
And the act
Falls thy shadow
- T.S.Eliot. 'The Hollowman'

आवश्यकता है कर्म और आचरण, सत्य और विवेक के ऐक्य की ।

निष्क्रियता, काल के अखण्ड प्रवाह में तृणवत् बहने वाली तटस्थ शक्तिहीनता वर्तमान संस्कृति को शक्तिहीन बनाए है । बौद्धिक खोखलेपन के कारण ही रिक्तता, विवीर्यता, पलायनशीलता का जन्म हुआ । यह दासता और निष्क्रियता ही हमारी चेतना के अंधेपन की द्योतक है जिसे दो प्रहरियों के के माध्यम से कवि ने व्यक्त किया है । ये दो 'रक्षक' हैं पर रक्षणीय तो कुछ भी नहीं, महायुद्ध को द्योतित करने वाली अंधी संस्कृति और रोगी मर्यादा थी --

अर्थ नहीं था
कुछ भी अर्थ नहीं था
जीवन के अर्थ हीन
सूने गलियारे में
पहरा दे देकर
अब थके हुए हैं हम
अब चुके हुए हैं हम ।

इन प्रहरियों ने भीषण महाभारत के बीच कुछ भी नहीं सहा, कुछ भी नहीं झेला । यह तटस्थता शक्ति की नहीं, कायरता की परिचायक है । रुग्ण व्यक्तित्व के कारण यथार्थ से कतरा कर हम मनोलोकविहारी बन जाते हैं पर हमें पराजय और पीड़ा के सम्भावित भय से कतराना नहीं है-- आवश्यकता है उस मानव-शक्ति की जो नक्षत्रों की गति बदल देती है, पीड़ा और दुःख से नए अर्थ खोज लाती है --

यह जो पीड़ा ने
पराजय ने
दिया है ज्ञान
दृढ़ता ही देगा वह[१] ।

१- वरण करो
बहरी पीड़ाओं को नदी में वहन करो -- अंधायुग, पृ० ७७

परन्तु आत्मघात और पलायन मानवीय क्षमता के पराभव के सूचक हैं। महायुद्धों के बाद मानवीयसंस्कृति को रुग्ण बनाने वाले तत्वों में [illegible] प्रमुख है। एक ओर भौतिक उत्कर्ष, विज्ञान लोक के जादुई करिश्मे और दूसरी ओर अनास्था, धुरीहीनता जन्य भय और आशंका त्रस्त बढ़ती आत्महत्याएं। अस्तित्व की नपुंसकता के कारण इस मनोवृत्ति का जन्म हुआ है। व्यक्ति का पराभव और [illegible]शीलता, उसे आत्मघात का फल नरक का भय दिखला कर भी नहीं रोक पाती --

आत्मघात कर लूं ?
इस नपुंसक अस्तित्व से
छुटकारा पाकर
यदि मुझे पिछली नरकाग्नि में उबलना पड़े
तो भी शायद
इतनी यातना न होगी।

अंधेपन की परिधि का उल्लंघन कर ज्योति वृत्त में रहने का प्रयास करने वाले युयुत्सु की नियति में भी क्या आत्मघात ही बदा था ? अपने बन्धुजनों के विरुद्ध जीवन का दाँव लगाकर भी उसे लांछन और अविश्वास, अपमान ही मिला। कौरव कुलों की कलुषित गाथा में जिसका मस्तक गर्वोन्नत रह सकता है उस युयुत्सु को अभिशिप्त विशेषण, अवहेलना और तिरस्कार क्यों मिले ? विदुर समाधान प्रस्तुत करते हैं --

अज्ञानी, भय डूबे, साधारण लोगों से
यह तो मिलता ही है सदा उन्हें
जो कि एक निश्चित परिपाटी
से होकर पृथक्
अपना पथ अपने आप
निर्धारित करते हैं

वर्तमान संस्कृति की "आत्मघाती नपुंसक ह्रासोन्मुखी" प्रवृत्ति युयुत्सु की आत्महत्या के उपरान्त किया गया कृपाचार्य का प्रश्न है --

यह आत्महत्या होगी प्रतिध्वनित

इस पूरी संस्कृति में

दर्शन में, धर्म में ,कलाओं में

शासन व्यवस्था में

आत्मघात होगा बस अंतिम लक्ष्य मानव का

अवसान के क्षणों में प्रभु ने भी कहा था कि मरण मात्र रूपान्तरण का नाम है । सब का दायित्व वहन करने वाले कृष्ण अपना [illegible] सबों को सौंप जाते हैं । वे स्पष्ट कहते हैं कि अंधे युग में उनका एक अंश निष्क्रिय,आत्मघाती और विगलित रहेगा युयुत्सु और अश्वत्थामा की भाँति क्योंकि इनका दायित्व कृष्ण ने लिया है । पर क्या बस निष्क्रिय [illegible] अंश को हम प्रभु मानें और मानवता का प्रगति अभियान रुक जाए ? मानवीय मूल्यों की समग्रता रूप प्रभु हर मानव-मन के उस वृत्त में जीवित हैं जिसके सहारे वह सभी परिस्थितियों का अतिक्रमण कर पिछले ध्वंसों पर नूतन निर्माण करेगा --

मर्यादायुक्त आचरण में

नित नूतन सृजन में

निर्भयता के

साहस के

ममता के

रस के

क्षण में

जीवित और सक्रिय हो उठूँगा मैं बार बार ।

राजनीतिक आर्थिक संघटन

जिस युग का कथानक `अंधायुग` में लिया गया है उसके लिए `विष्णु पुराण` में लिखा है --

[illegible]

[illegible] भविष्यति

तब भविष्य में धर्म अर्थ ह्रासोन्मुख होंगे, धरती का धीरे धीरे ह्रास होगा, क्षुधा होगी

उनकी निर्बोध पूंजी होगी [1] जिनके चेहरे नकली होंगे उन्हें महत्व मिलेगा [2] शक्तियाँ लोलुप होंगी , जनता उनसे पीड़ित होकर गहन, गुफाओं में छिप छिप कर दिन काटेगी [3] ।` ये गहन गुफाएँ सचमुच ही थी या अपने कुंठित अंतर की ।` सत्ताधारियों के हाथों में पूंजी का केन्द्रीयकरण, [illegible]रण की विपन्नता, राज्य शक्तियों की लोलुपता जन्य अत्याचार एक ओर युद्ध को जन्म देते हैं तो दूसरी ओर संस्कृति की निर्मायिका सृजनात्मक-शक्ति की गति को अवरुद्ध कर लेते हैं ।` अंधे राजा की प्रजा कहां तक देखे ?` अपनी सारी स्वतन्त्रता को बेचकर वह कुंठा की गहन गुफाओं में रहने लगती है । प्रहरियों के कथनों में उस पराभव की फलक है जो सूने गलियारे सा जीवन बिता देते हैं । इसी लज्जा और करुणाजनक स्थिति का मर्मस्पर्शी चित्र आधुनिक कवि कैफी ने `बर्बरों की प्रतीक्षा` तथा भारती ने `कौरव नगरी` में खींचा है --

> केवल वहन करते थे आज्ञाएँ हम अंधे राजा की
> नहीं था हमारा खुद का मन, कोई अपना निर्णय ।

और बर्बरों के प्रतीक्षक भी प्रश्न उठाते हैं कि `सिनेट कोई निर्णय क्यों नहीं लेतलि ?` अपनी निर्णायिका शक्ति और विवेक का इतना कुण्ठित हो जाना कि हमारी विचारणा तक पराश्रित और अपंगु हो जाए -- वर्तमान संकट का द्योतक है । युधिष्ठिर के शासन-काल में ज्ञान और मर्यादा के बीच भी वे असन्तुष्ट हैं -- पहले शासक अंधे थे पर शासन तो करते थे, प्रजा की प्रकृति को जानते थे ।

प्रहरी २ -- हमको तो अन्न मिले
प्रहरी १ -- निश्चित आदेश मिले
प्रहरी २ -- एक सुदृढ़ नायक मिले
प्रहरी १ -- अंधे आदेश मिले
प्रहरी [illegible] -- आज उन्हें चाहे हम युद्ध ही दें या शांति का
प्रहरी १ -- जानते नहीं हैं ये प्रकृति प्रजाओं की ।

१- [illegible] स्वामिक हेतु
२- [illegible] धारणैव महत्व हेतु
३- [illegible] राजा

व अंधायुग, पृ० १०

बर्बर विजेता अब नहीं रहे यह सुनकर चौराहों पर एकत्रित लोगों के चेहरे उतर जाते हैं --

> ओह बिना बर्बर विजेताओं के अब हम क्या करेंगे ।
> वे लोग कम से कम कुछ [illegible] तो प्रस्तुत कर देते थे[१] ।

आदेशों पर जीवन तोल देने वाली राजनीतिक व्यवस्था राजतंत्र में प्रजा के निरन्तर विघटन को दर्शाती है । शासक के भालों का भय स्वतन्त्रता को पराभूत कर उन्हें राज्यादेश पर चलने वाली मशीन मात्र बना देता है । राजसत्ता बदलती है, क्रान्ति होती है , परन्तु उनकी दासवृत्ति में कोई अन्तर नहीं आता[२] । आवश्यकता है स्वतन्त्रता साहस युक्त मर्यादित वातावरण की । उसी में मानवता का भविष्य निहित है । 'भय' की भावना ने आधुनिक मानव के अस्तित्व को खतरे में डाल दिया है, उसकी सृजनातुर शिराओं को [illegible] का विष दे दिया गया है । पर डरने में उतनी यातना नहीं होती जितना वह होने में जिससे सब डर जाते हों[३] ।'

युद्ध राजनैतिक कुचक्रों का सबसे ज्वलन्त प्रमाण है । मनोविश्लेषणवादियों का मत है कि मनुष्य स्वभाव से बर्बर होता है -- संघर्ष और प्रतिहिंसा की मूलवृत्ति युद्ध के माध्यम से तनाव से मुक्ति पाती है । अश्वत्थामा स्वीकार करता है --

> वध मेरे लिए नहीं नीति है
> वह है अब मनोग्रंथि
> इस वध के बाद
> मांसपेशियों का सब तनाव
> जैसे खुल गया ।

१- उद्धृत -- [illegible] और साहित्य,पृ० १२६
२- प्रहरी १ -- हमने नहीं झेला शोक
   प्रहरी २ -- जाना नहीं कोई दर्द
   प्रहरी १ --जैसे हम पहले थे
   प्रहरी २ -- वैसे ही अब भी हैं । --अंधायुग,पृ०१२८
३- अंधायुग,पृ० ९२

युद्ध में सद् असद् विवेकिनी शक्ति का स्थान नहीं रहता । नारों और हथियारों के बीच अपने दुष्कर्म का भी बोध नहीं रहता । अश्वत्थामा ने इसी नशे के बीच नींद में डूबे बंधुबांधवों की हत्या की है । पराजय और विजय के अदृश्य सूत्र में लटके व्यक्तियों के सारे आदर्श व और मूल्यों के पहिए धुरी से उतर जाते हैं । युद्ध में सबसे पहला आघात सत्य पर होता है । मर्यादा की रक्षा के नाम पर लड़े गए इन युद्धों की घोषणाएँ सर्वथा झूठी होती हैं । कौरव और पाण्डव दोनों पक्षों में विवेक की हार हुई और भय, ममता, अंधियार का अंधापन जीता और जो भी सुन्दर, शुभ और कोमल था वह हार गया --

> टुकड़े टुकड़े हो बिखर चुकी मर्यादा
> उसको दोनों ही पक्षों ने तोड़ा है
> पाण्डवों ने कुछ कौरवों ने कुछ ज्यादा

इसी बात को गांधारी कहती है कि उन्होंने दुर्योधन से कहा था कि जिधर धर्म होगा उधर जय होगी --

> 'धर्म किसी ओर नहीं था लेकिन
> सब ही थे अंधी प्रवृत्तियों से परिचालित ।'

इस अंधेपन ने सभी को आवृत किया । बलराम कृष्ण को दुर्योधन की नृशंस हत्या का पक्षधर होने के कारण '[illegible] कूटबुद्धि' कहते हैं और पुत्रशोक से जर्जर गांधारी के मतानुसार 'वंचक प्रभु ने जब चाहा मर्यादा को अपने हित में बदल दिया'[1]। शक्तिवान् मर्यादा और नियम बनाता है, सुविधापूर्ण जीवन व्यतीत करता है और शक्तिहीन साधारण जन उसमें पिस कर टूटते हैं । इस तरह प्रभुता का दुरुपयोग किया जाता है । दुर्योधन के कंकाल को देखकर गांधारी उसके अपराध को भीम जैसे अपराध और दंड के साथ तोलती है । पक्ष धरता युद्ध का अनिवार्य अंग है । मेरा पक्ष मित्र है जिसकी प्रत्येक अच्छाई बुराई मान्य है -- इतर पक्ष शत्रु जिसके सब कृत्य अमार्जनीय पतन हैं । तटस्थता नाम की किसी वस्तु का अस्तित्व उस समय नहीं रह पाता --

---

१- अंधायुग, पृ० ७८

धुन लो यह घोषण
इस अंधे बर्बर पशु की
पदा में नहीं हैं मेरे जो
वह शत्रु है ।

इन युद्धों में अपनाई गई तटस्थता भी आखिर में टूटती है । वैज्ञानिक आणविक शक्ति से सम्पन्न युद्धों की भीषणता मानवता के समक्ष एक बहुत बड़ा संकट है, जिसकी ओर से तटस्थता के नाम पर आँख मूंद रखना आज के मानव के लिए सम्भव नहीं है । इन वैज्ञानिक शस्त्रों का विकास मानवता के नाम पर कलंक है । विकास और समृद्धता के नाम पर परमाणु की जिस शक्ति को खोजा गया उसका उपयोग हिंसात्मक प्रवृत्ति को उकसाने के लिए किया गया । ये आविष्कार दुधारी तलवार हैं । 'आत्मघात' नामक विघटनकारी तत्व का उदय भी इसी कारण सम्भव हुआ । प्रहरियों के शब्दों में 'अस्त्र रखेंगे तो उपयोग में आयेंगे ही अब तक दूसरों के लिए उठते थे, अब अपने विरुद्ध काम आयेंगे । निरर्थक शस्त्रों का कुछ तो उपयोग हुआ ।'[1] ऐसे [illegible] के प्रकाश की क्या सार्थकता जो अंधेरे के पर्दों को भेदने में असमर्थ होने के कारण वनस्पतियों को झुलसा दे । सूरज को बुझाने और धरती को बंजर बनाने की क्षमता से युक्त उद्जन बमों की असभ्यता के सामने युद्ध का परिणाम प्रस्तुत कर शान्ति के लिए वता को उत्प्रेरित किया है । महाभारत के पुनरावलोकन द्वारा वर्तमान शीत और गर्म युद्धों में जीती-मरती मरती नयी पीढ़ी को कवि ने चेताया है । शान्ति की मर्यादा को समझने से पूर्व युद्ध की विकृतियों को पहले समझा जाना आवश्यक है ।' व्यास के शब्दों में --

मैं हूं व्यास
ज्ञात क्या तुम्हें है परिणाम इस ब्रह्मास्त्र का ।
यदि यह लक्ष्य सिद्ध हुआ ओ नर पशु !
तो आगे आने वाली सदियों तक
पृथ्वी पर रसमय वनस्पति नहीं होगी

१- अंधायुग, पृ० ११०
२- अंधायुग, पृ० ६९

शिशु होंगे पैदा विकलांग और कुण्ठाग्रस्त
सारी मनुष्य जाति बौनी हो जाएगी
जो कुछ भी ज्ञान संचित किया है मनुष्य ने
सतयुग में, त्रेता में, द्वापर में
सदा सदा के लिए होगा विलीन वह
गेहूं की बालों में सांप फुफकारेंगे
नदियों में बह-बह कर आएगी पिघली आग ।

युद्धों को मानने वाली वर्तमान राजनीति को कवि ने यह चेतावनी देकर विनाश के कगार पर खड़ी मानव सभ्यता और संस्कृति को विघटन के चक्र से बचाने का उपक्रम किया है ।

__सृजनात्मक क्षमता__

वर्तमान भारत की खोज में अतीत की जड़ों तक जाने की आवश्यकता को भारतीय बौद्धिकों ने महसूस किया है[१]। युद्धों के आघात से जर्जर होती मानवीय संस्कृति को 'भारती' ने महाभारत के आख्यान के द्वारा समझ कर भविष्य के लिए कुछ समाधान खोज निकालने का प्रयास किया है । विशेषता यही है कि वर्तमान से विच्छिन्न न होकर न केवल उसमें जीकर उन्होंने वर्तमान को समझा है और भविष्य को देखा है[२]। वर्तमान में भटक रहे व्यक्ति का संशय और ... का अंधा निश्चय जिसमें सम्भव हो सके, आश्रय पा सके ऐसे अनागत पथ का माध्यम बनने की अर्पित भारती की आकुल प्रतिमा और अर्पित रसना ने [१]'अंधा युग' का सृजन किया ।

१- "The root of that present lay in the past and so I made voyages of discovery in the past, ever seeking a clue in it, if any such existed, to the understanding of the present - - past history merged into contemporary history : it become a living reality tied up with sensations of pain and pleasure - Discovery of India page 11 - Pt. Nehru.
2. Not to break with the past, and yet not live in it; realize the present and look to the future - Page 586 - Pt. Nehru.

१- ... -- धर्मवीर भारती

इस कृति ने सुप्त सौन्दर्यबोध को जागृत कर मूल्यों की प्रतिष्ठा के महत् दायित्व को निभाया। वर्तमान वैषम्य, असंतुलन और असंगतियों को पौराणिक आख्यान द्वारा प्रस्तुत कर "साहित्यकार ने अपने स्तर पर अपने ढंग से संस्कृति की विराट प्रक्रिया में [illegible] दिया है।"[1]

'अंधायुग' के अधिकांश पात्र निश्चित ऐतिहासिक चरित्र होते हुए भी विशिष्ट मानसिक प्रकृतियों, दृष्टिकोणों एवं अन्तर्ग्रन्थियों के प्रतीक हैं। इस दृष्टि से अंधायुग मानव मन के अन्तर्जगत् का महाकाव्य कहा जा सकता है।[2] धृतराष्ट्र वैयक्तिक स्वप्नलोक में रहे अंधे का प्रतीक है जो 'जीवन भर अंधेपन के अंधियारे में भटकता रहा। गांधारी यथार्थ से कतराकर भागने वाली वह कायर दृष्टि है जो बौद्धिक तर्कों से घबराती है और स्वेच्छा से आँखों पर पट्टी चढ़ा लेती है। संजय निरपेक्ष सत्य का प्रतीक है जो कर्म लोक से बहिष्कृत है। कौरव और पाण्डव दो पहरों में लगी निरर्थक शोभाचक्र के रूप में न तो रथ को आगे बढ़ा सके और न धरती को ही छू सके, उनके दुर्भाग्य ने उन्हें धुरी से भी नहीं उतरने दिया।[3] विदुर में इतनी आस्था थी जो प्रभु से कह सके कि "मुझे बाहें मत दो फिर भी तुम्हें घेरे रहूंगा, मुझे नयन मत दो फिर भी तुम्हें देखता रहूंगा, मुझे पग मत दो फिर भी तुम तक पहुँच कर रहूंगा।" परन्तु यह एकान्त चिन्तन और बौद्धिक तटस्थता टूटती है। दुर्योधन के मरण और वन के अग्निकाण्ड में उनके घुटने घुटने झुलस जाते हैं। यह निरपेक्ष आस्था निष्प्रयोजनीय है --

> पर मैं तो हूं निष्क्रिय
> निरपेक्ष सत्य
> मार नहीं पाता हूँ
> बचा नहीं पाता हूँ
> कर्म से पृथक
> खोता जाता हूँ क्रमश:
> अर्थ अपने अस्तित्व का

१- मानव मूल्य और साहित्य, पृ०१५३

२- [illegible] "[illegible]" [illegible], पृ०१५२

३- अंधा युग, पृ०[illegible]

अन्तर्मुख अनुभव नामक (करुण) शक्ति' ने विदुर को बनाया है जिसकी साधारण नीति युग की असाधारण परिस्थितियों से मेल नहीं खाती -- युयुत्सु को देखकर संशय जब जन्म लेता है परन्तु वह उसे दबा लेता है --" संशय पाप है और मैं पाप नहीं करना चाहता ।"

महाकाव्योचित गरिमा युक्त इस काव्य में 'नाटकीय संवेदना' को संपृक्त कर भारती ने नयी कविता की तीक्ष्ण धारा में एक द्वीप निर्मित किया है[1]। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद वैयक्तिक मूल्यपरक खोज के नाम पर अंधानुकरण की वृति सामने आयी। बौद्धिक जिज्ञासा का स्थान अन्धानुकरण द्वारा ग्रहण कर लिए जाने के कारण ही आस्था, सत्य , सौन्दर्य, स्वतन्त्रता जैसे शाश्वत कहे जाने वाले मूल्य कभी बासी और निरर्थक हो गए[2] तथा भारतीय संस्कृति की धारा जड़ हो गई[3]। पुराने को खोकर नवीन को न पा सकने की त्रिशंकुकालीन स्थिति में मूल्यवत्ता की प्रतिष्ठा का प्रयास गौरवास्पद है। मूल्यों की समग्रता रूप 'प्रभु' को साम्प्रदायिक अर्थों से अलग कर मानववाद के संदर्भ में देखा गया है। व्यक्ति स्वातन्त्र्य, जिसमें दायित्व का भाव स्वतः अन्तर्नियोजित है, ही अंधायुग में ब्रह्मास्त्रों से मारे जाने वाले शिशु भविष्य, तक्षक से डंसते परीक्षित या आत्मघात करते युयुत्सु को बचाने का साहस कर सकती है। युद्ध और शान्ति के कथानक को लेकर भारतीय संस्कृति का मूल्यगत विवेचन करने वाली इस रचना का संदेश है कि प्रभु के मरण से नहीं परीक्षित के भविष्य से नियति आबद्ध है। मरण मात्र रूपान्तरण होता है।

एक तत्व है बीज रूप स्थित मन में
साहस में स्वतन्त्रता में, नूतन सृजन में
वह है निरपेक्ष उतरता है पर जीवन में
दायित्व युक्त, मर्यादित, मुक्त आचरण में
उतना जो अंश हमारे मन का है
वह अर्द्ध सत्य से , [illegible] आस्था के भय से
मानव भविष्य को हरदम रहे बचाता
अंधे संशय, दासता, पराजय से ।।

१- हिन्दी नवलेखन, पृ०१४ - डॉ॰ रामस्वरूप चतुर्वेदी

२- Indian civilization achieved much that it was aiming at but, [in] that very achievement, life began to fade away, for it was too dynamic [to] exist for long in a rigid, unchanging environment. Even those basic [pr]inciples, which are said to be unchanging lose their freshness and [re]ality when they are taken for granted and the search for them ceased [Id]eas of truth, beauty and freedom decay and we became prisoners following deadening routine - [illegible] of India, Page 616.

और उर्वशी के लोकविश्रुत कथानक के माध्यम से कवि ने उठाया है । `रसवंती` और `कुरुक्षेत्र` के बीच का कलात्मक तनाव जैसे इस रचना में व्यक्त हुआ हो ।

उर्वशी के प्रस्तुतीकरण का उद्देश्य न तो वैदिक आख्यान की पुनरावृत्ति अथवा वैदिक प्रसंग का प्रत्यावर्तन है और न ही `दुर्दम ऐश्वर्यपूर्ण काम विश्वास की व्याकुल इच्छा और उसकी तृप्ति के औचित्य के लिए कृत्रिम मनोविज्ञान पर आधारित दार्शनिक आडम्बर है ।`[1] डा० सावित्री सिन्हा के मतानुसार दिनकर की प्रारम्भिक काव्य कृतियों की समष्टिपरक उग्र चेतना `कुरुक्षेत्र` में आकर दर्शन और मनोविज्ञान से संपुष्ट और संतुलित हुई । उर्वशी का सृजन प्रेरणा और प्रक्रिया कुरुक्षेत्र के समान ही है ।[2] पुरुरवा को आदिम पुरुष और उर्वशी को आदिम नारी का रूप प्रदान करते हुए काम के उन्नयन और परिष्कार की बात उठाई गई है । वैसे तो प्रसाद कामायनी में कहते हैं काम मंगल से मंडित श्रेय किन्तु कामायनी मूलतः `तर्क,मस्तिष्क-विज्ञान और साधन की सोद्देश्य साधना का आख्यान है, वह पुरुषार्थ के अर्थ पक्ष को महत्व देता है । किन्तु पुरुरवा उर्वशी का आख्यान भावना,हृदय,कला और निरुद्देश्य आनन्द की महिमा का आख्यान है, वह पुरुषार्थ के काम पक्ष का माहात्म्य बताता है ।`[3] इन्द्रियों के माध्यम से अतीन्द्रिय की प्राप्ति , सर्वभोग के बावजूद निरासक्ति की स्थिति , काम की आध्यात्मिक महिमा है । आत्मिक धरातल पर जन्मे `धर्म` की सार्थकता लौकिक आचरणों की `धारणा` में निहित है तो जैव धरातल पर जन्म लेने वाले `काम` की सार्थकता शरीर से ऊपर उठकर मन-प्राणों से ऊपर उठकर मन-प्राणों के गुप्त रहस्य लोक तक जाने में है ।

१- विवेक के रंग`उर्वशी दर्शन और व काव्य` पृ०१४४-४८`मुक्तिबोध`
२- मेरे विचार से तो `कुरुक्षेत्र` और `उर्वशी` एक ही प्रतिपाद्य के अलग-अलग रंगिलव से लिए गए दो चित्र हैं । दोनों ही चित्रों का आधार फलक विश्व-जनीन है और दोनों की अभिव्यक्ति के माध्यम पौराणिक-ऐतिहासिक भारतीय हैं ठीक वैसे ही जैसे प्रेम और घृणा सार्वजनीन और सार्वभौमिक है व्यक्ति और परिवेश की भिन्नता से उनकी अभिव्यक्ति में भिन्नता आ जाती है । युगचारण दिनकर ,पृ०१६२ -- डा० सावित्री सिन्हा
३- उर्वशी भूमिका,पृ० च

उर्वशी के कवि ने भौतिक जगत् के आकर्षणों का रंगच्छाया या ऐन्द्रिय विरए मिलन छायाचित्रों की संयोजना के लिए उर्वशी की रचना नहीं की है । अध्यात्म प्रधान भारतीय संस्कृति में जीवन के 'काम' पक्ष को उपेक्षित नहीं किया वरन् वह जीवन के पुरुषार्थों में ग्रहीत हुआ है । उपनिषद्,पुराण से लेकर कबीर सूर आदि भक्त कवियों के काव्य में अनिर्वचनीय अलौकिक के प्रति दुर्निवार आकर्षण को दाम्पत्य प्रेम के प्रगाढ़ रूपक द्वारा अभिव्यंजना दी गया है । योगी तपश्चर्या के द्वारा जिस मधुमति भूमिका तक पहुँचते हैं उसे उस भोग द्वारा भी पाया जा सकता है जो शरीर के जड़ बन्धनों से परे आत्मा के धरातल का स्पर्श करता है[1] । रूप में डूब कर अरूप का संधान करने वाली, लौकिक को लोकोत्तर सामित को असीम बनाने की क्षमता सम्पन्न काम भी जीवन को वही अवदान प्राप्त करता है जो धर्म करता है --'धर्मादर्थो अर्थत: काम: कामाद् धर्म-फलोद: ।'

दिनकर ने उर्वशी को चक्षु,रसना,घ्राण,त्वक् तथा श्रोत की कामनाओं का प्रतीक तथा पुरुरवा को रूप,रस,गंध,स्पर्श और शब्द से मिलने वाले सुखों से उद्वेलित द्वन्द्व-व लीन मानते हुए नारी के भीतर छिपी उस सनातन नारी तथा पुरुष के भीतर छिपे हुए उस सनातन पुरुष की खोज की है जो शारीरिक मिलन का अतिक्रमण कर किरणोज्ज्वल लोक में पहुँच जाते हैं । चित्तवृत्तियों के निरोधन से ही दिक्काल निरपेक्ष नहीं हुआ जाता । सहज जीवन में नर-नारी के पारस्परिक आकर्षण के बीच से होकर रागों से पलायन नहीं अपितु उनसे मैत्री के द्वारा भी यह साधना सम्भव है --ऐसा विचार सहज यानी शाक्तों से लेकर अभिनवमनोवेत्ताओं के मानस में दृढ़ रहा है । दिनकर ने काम की पाशविकता को जीवन धर्म के रूप में लिया है । 'काम' लज्जास्पद नहीं है । पंत की 'मानव' तथा 'कृतज्ञता' कविताओं[2]

१- तस्यामस्य[illegible]ौख्य परमनुभवति सच्चिदानन्दरूप
तत्रासीत् वाणभिन्ना [illegible] रतिपत: यौगनिद्रां गतेन ।।--उर्वशी भूमिका,पृ०

२- मैं उपकृत इन्द्रियाँ, रूप,रस,गंध,स्पर्श स्वर,
लीला द्वार खुले अनन्त के बाहर भीतर,
[illegible] से दीपित सुरधनुओं से अम्बर
निज असीम [illegible] मैं तम पर न्यौछावर ।
--[illegible](भूमिका) -- सुमित्रानन्दनपन्त

में ऐसी उदात्त जीवनदृष्टि मिलती है जिसके कारण शरीर के अंग-प्रत्यंग भागवता शक्ति द्वारा चित्रित रहस्यपूर्ण कलाकृतियाँ दीखते हैं। भक्ति की तन्मयता के में दाम्पत्य प्रतीकों का व्यवहार भी यही सिद्ध करता है कि भक्ति और प्रेम का अन्तर आलम्बनगत न होकर गहराई की स्थिति को लेकर है। गहरी तन्मयता के ऐन्द्रिय क्षण परम भोगी की लोकोत्तर अनुभूति के समीप होते हैं।

'उर्वशी' में दिनकर ने अनेक कोणों से सौन्दर्य और प्रेम की भूमिका मापने का प्रयास किया है। क्या भोग से मोक्ष पाया जा सकता है? लौकिक प्रेम क्या अलौकिक तक ले जा सकता है? प्रकृतिरूपा नारी क्या त्याज्य है? सहज ज्ञान साधन है या बुद्धि? नारीत्व या मातृत्व? देवोचित अनंग काम या मानवोचित काम? स्वच्छन्द प्रेम या विवाहबंधन? -- इन नानाविध द्वन्द्वों के बीच प्रेम और सौन्दर्य मार्मिक कथा कही गई है।

देव संस्कृति का अधिष्ठाता शापवश अनंग हो गया है पर उसकी चिन्गारियाँ अभी बाकी हैं[1]। सब कुछ पा कर भी कुछ न पा सकने वाली रिक्तता देवताओं के मानस में छाई है। यह मानव का सहज स्वभाव है कि जिस भी स्वर को वंशी में बांध लेता है, उसमें खोजने पर भी सौन्दर्य नहीं मिलता, यही कारण है कि यदि देवता देह धर्मी होने को उत्सुक हैं तो मनुष्य बंधनों से मुक्त होने को व्याकुल है[2] यह व्याकुलता ही कला सौन्दर्य की अनेक मूर्त कृतियों का मूल है। मानवीय

१- तु०की० सिद्ध हुए पर सतत वारिणी तरी मीनकेतन की
अब भी मंद मंद चलती है अमित रक्तधारा में। --उर्वशी, पृ०१२३
एवं वे अमर रहे न विनोद रहा, चेतना रही, अनंग हुआ,
हूँ भटक रहा अस्तित्व लिये, संचित का सरल प्रसंग हुआ।।
--कामायनी, पृ०६६

२- पृथिवी पर है चाह प्रेम को स्पर्श मुक्त करने की
गगन रूप को बाहों में भरने को अकुलाता है। --उर्वशी, पृ०७
एवं
~~[illegible]~~
~~[illegible] है।~~
~~--उर्वशी, पृ०५~~

छन्दरता का मायालोक क्षणभंगुर होने के कारण अपूर्ण है तो ~~मानव-फूलों-की~~ देवता अमर होकर भी गंध का ही पान कर सकते हैं जब कि मानव फूलों को अपना लेने में समर्थ है । देवत्व और पशुत्व के संस्कार एक साथ मानव-हृदय ~~के~~ में निवास करते हैं । अपनी प्रवृत्तियों से बँधा आदर्शवादी मानव तपस्या और निरोध के बल पर कितना ही यह घोषित करे कि 'काम' से उपरत हो गया है किन्तु कहीं न कहीं 'कामयुक्त' अवश्य होता है । उस मानसिक अभिसार की अपेक्षा राग में जीकर विरागी बन जाने वाली साधना अधिक मूल्यवती है । 'काम' को दोषी ठहराना गलत है क्योंकि 'काम' अपने में मूल निरपेक्ष है । व्यक्ति विशेष अपनी भावना विशेष का अध्यारोपण कर उसे उज्ज्वल या पंकिल बनाता है । वही काम जो समाधियोग तक ले जाता है वही पाशविक भी है, दूषित भी है ।

कामकृत्य वे सभी दुष्ट हैं, जिनके सम्पादन में
मन आत्माएं, नहीं मात्र दो वपुस मिला करते हैं ।
+ + +
[illegible] दूषित कर देती ज्यों समस्त कर्मों को
उसी भांति वह काम कृत्य भी दूषित और मलिन है
स्वत: स्फूर्त जो नहीं ध्येय जिसका मानसिक क्षुधा है
सप्रयास है शमन, जहाँ पर सुख खोजा जाता है
तन की प्रकृति नहीं, मन की माया से प्रेरित होकर[1] ।

तु०की०

१- शरीर तो अपने आप में पवित्र है
गंदा तो यह दिमाग का नाला है
जो आदमी के भीतर बहता है
मन के कारण शरीर पाप सहता है
सेक्स को पाप मत कहो ।
यह नर नारी के बीच पहले- बहने वाला
भावों का बड़ा ही कोमल प्रवाह है ।
पापी वह जो इस प्रवाह को खोट [illegible] जाता है
इसी सरल कला [illegible] [illegible] से दूर करता है
पापी वह है
जो शरीर को [illegible] मजबूर करता है ।
—आत्मा की आँखें, पृ०१०१, अनुवादक—'दिनकर'

एवं, "तन का काम अमृत
लेकिन यह मन का काम गरल है ।"
— उर्वशी पृ० ८५

पर उर्वशी में वर्णित संभोग श्रृंगार पाशविक मिलन या मांसाचार मात्र नहीं है वह है विराट प्रकृति व पुरुष के मिलन का प्रतीक। परिष्कृत मानवता का प्रतिनिधित्व करने वाला मानवतावादी दृष्टिकोण है जिसके मतानुसार मानव-प्रेम उज्ज्वल और गौरवपूर्ण है, केवल पाशविक भोग का साधन नहीं पर जो शारीरिक भोग को हठपूर्वक उपेक्षा भी नहीं करता। 'उर्वशी' में व्यक्त यह दृष्टि पुनर्जागरण के साथ विकसित होने वाली प्रवृत्तिमूलक धारणाओं का परिणाम है। वह मानवीय प्रेम के माध्यम से ईश्वर के साक्षात्कार में विश्वास करती है[1]। दिनकर इसी विचारणा से प्रभावित हैं उनके उर्वशी और पुरुरवा उस धरातल का साक्षात्कार करते हैं जहां --

> वह निरभ्र आकाश, जहाँ की निर्विकल्प सुषमा में,
> न तो पुरुष मैं पुरुष, न तुम केवल नारी हो,
> दोनों हैं प्रतिमान किसी एक मूलसत्ता के
> देह बुद्धि से परे, नहीं जो नर अथवा नारी हैं।

डी०एच० लारेंस के अनुसार काम (सेक्स) एक सृजनात्मक शक्ति है, जिसका सदुपयोग कर मानव आकाश का स्पर्श कर सकता है तो उसका उपयोग उसे पशु बना देता है[2]। दिनकर ने भी स्पष्ट घोषणा की है --

> काम धर्म काम ही पाप है, काम किसी मानव को
> उच्च लोक से गिरा हीन पशु जन्तु बना देता है
> और किसी मंदिर में असीम सुषमा को तृषा जगाकर
> पहुंचा देता उसे किरण सेवित अति उच्च शिखर पर

काम की निराकार [illegible] नर-नारी के [illegible] को स्वर्गीय पुलक बना देती है। उर्वशी में अंग संग से प्रस्तुत इसी आवेग प्रेम का अध्यात्म

१- आधुनिक हिन्दी कविता में प्रेम और सौन्दर्य, पृ०१०--डा० खण्डेलवाल

२- A P[illegible] to Lady Chatterleys's lover and other Essays - Page 61 - by D.H.Lawrence.

शिखर पर आरोहण है । देह धर्म से आत्मा तक के अधिरोहण की बात प्राचीन भारतीय तांत्रिकों की कुमारी-साधना में भी उठाई गई है । 'संस्कृति के चार अध्याय' में शाक्त दृष्टि की विवेचना में जो कवि की स्थापनाएँ, वे उर्वशी में छिटपुट रूप से पायी जाती हैं । मगर इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि 'उर्वशी' का ध्येय काम का वामाचारी रूप प्रस्तुत करना है । उर्वशी काम का दक्षिणाचार है[1] । वैदिककाल में 'काम' का उन्मुक्त-स्वच्छन्द रूप था जो बाद में गुह्य साधना के बीच अपने मूल स्वरूप से भिन्न और विकृत हो जाता है । इसका दमनोत्सुक रूप कबीर, तुलसी आदि मध्यकालीन कवियों में मिलता है । मध्यकाल की निवृत्ति और सन्यास को प्रमुखता देने वाली दृष्टि के कारण 'काम' कुंठित हो गया । दयानन्द गांधी आदि पुनर्जागरण के साधकों ने 'काम' को जीवन के महत्वपूर्ण पुरुषार्थ के रूप में लेते हुए उसका जीवन में स्थान निर्धारित किया । 'प्रसाद', 'निराला' जैसे सांस्कृतिक कवियों ने काम को आनन्दवादी स्वरूप प्रदान किया । इसी प्रक्रिया का एक महत्वपूर्ण अंग दिनकर की 'उर्वशी' है । कामाध्यात्म के प्रस्तुतीकरण के लिए कविने जैसे पुरुरवा उर्वशी के पौराणिक पात्रों को चुना है बहुत कुछ वैसे ही सहजयानियों के मत को लिया है । जैसे युद्ध और शान्ति की समस्या को भीष्म और युधिष्ठिर के माध्यम से उठाना मार्मिकता और जन- स्वीकृति का तकाजा था, वही बात उर्वशी के साथ घटित हुई ।

"वामाचार ने इस विषय पर जोर दिया कि संसार में मुक्ति का उपाय उससे भागना नहीं प्रत्युत सर्वतोभावेन उसे स्वीकार करना है । वामाचारियों का विश्वास है कि जो बोध मनुष्य को नीचे गिराती है वही उसे ऊपर ले जाती है[2] ।" कुम्भक और चिन्तन एक ही सत्य सागर में रोत जाने वाला दो

1- युग कवि दिनकर, पृ०६ — मुरलीधर श्रीवास्तव
2- संस्कृति के चार अध्याय, पृ०२२४ दिनकर

काम धर्म, काम ही पाप है, काम किसी मानव को
उच्च लोक से गिरा हीन पशु जन्तु बना देता है ।
और किसी मन में असीम सुषमा की तृषा जगाकर
पहुँचा देता उसे किरण-सेवित अति उच्च शिखर पर

नदियां हैं। पिंड भी सत्य है क्योंकि वही ब्रह्माण्ड है। त्वचा और रुधिर की उष्णता भोगते हुए भी उसे पाया जा सकता है --

देवता एक है शमित कहां इस मंदिर शान्ति को छाया में
आरोहण के सोपान लगे हैं, त्वचा, रुधिर में, काया में।
परिरम्भ पाश में बंधे हुए उस अम्बर तक उठ जाओ रे।
देवता प्रेम का सोया है, चुम्बन से उसे जगाओ रे।

इसके लिए पशु-माया में आबद्ध 'वीर' को 'दिव्य' का कोटि तक पहुंचना होगा। पुरूरवा 'पशु' से ऊपर उठता हुआ प्राणी है जो 'वीर' से 'दिव्य' का कोटि में पहुंचना चाहता है -- यही उसकी आध्यात्मिक पीड़ा है --

ये किरणें ये फूल किन्तु अन्तिम सोपान नहीं हैं
उठना होगा बहुत दूर ऊपर इन तारों के
स्यात्, ऊर्ध्व उस अम्बर तक जिसकी ऊंचाई पर से
यह मृतिका-विहार दिव्य किरणों का हीन लगेगा।

पुरुषार्थ के काम पक्ष का यही महात्म्य है कि वह इन्द्रियों के मार्ग से अतीन्द्रिय का दर्शन करता है। प्रत्येक पुरुष को और प्रत्येक नारी को शक्तिरूप मानते हुए कैलास प्रदेश में अखण्ड आनन्दोपभोग करने के लिए जैसे ही देहधर्मी मानव प्रस्तुत होता है और भी मधुबन का आकर्षण उसे नीचे खींच लेता है। 'बाधक है यह प्रेम आप ही अपनी ऊर्ध्व गति का।'[1] केवल देह धर्म से परे अंतरात्मा तक के उड्डयन में मिट्टी का आकर्षण रुकाता है।

आज के मनोवैज्ञानिकों ने भी रागों से मैत्री की बात उठाई है रागों से पलायन की नहीं। राग से होकर उस 'विरागी' को पाने की सहज साधना

1- उर्वशी, पृ०४६

के प्रयास की अनेक मर्मान्तक छवियां उर्वशी में पायी जाती हैं । 'नील कुसुम' की स्वप्न और 'सत्य कविता में (लहू में रेंगते हजारों सांप सोने के) पहला बार सांप को फ्रायडियन दृष्टि से कामक्षुधा का प्रतीक माना गया था जो व उर्वशी में अनेक बार प्रयुक्त हुआ है --

रेंगने लगते सहस्रों सांप सोने के रुधिर में
चेतना रस की लहर में डूब जाती है ।

काम की ऐकायनिक समाधि में भूमा के रस-पथिक दिक्काल का अतिक्रमण करते हैं । पर काम का तिरस्कार करने वालों ने नारी को कामिना मानकर यथेष्ट प्रताड़ित किया । दिनकर ने प्रवृत्तिमूलक नारी को कहीं तिरस्कृत नहीं किया है । इन लोक को लोकोत्तर जाती से बाँधने वाली दृश्य-तन्तु नारी ही है । महर्षि च्यवन महर्षि कर्दम का उदाहरण सामने रखकर सुकन्या को सिद्धिरूप में ग्रहण करते हैं । परमसत्य के महाउपहार 'रूप' को निधान नारी में विश्वविजयिनी शक्ति है । उर्वशी दीर्घ तपों के पुण्यस्वरूप प्राप्त असीम रूप सौन्दर्य की अधिष्ठाता है जो 'कला चेतना का मधुमय प्रच्छन्न स्रोत है'। यह सनातन नारी है जो पुरुष को इच्छा भरे नेत्रों से देखकर उसे क्रांत कवि बना देती है ।

कवीन्द्र रवीन्द्र ने अपनी प्रसिद्ध कविता 'दुइनारी' में सागरमंथन से प्राप्त नेत्रों में मोहिनी आसव युक्त प्राणों की ज्वाला जगाने वाली 'उर्वशी' तथा नेत्रों के आंसुओं से आनन्द के ताप को मांगलिक रूपदेने वाली ऐश्वर्यमयी 'लक्ष्मी' -- इन दो नारी रूपों की कल्पना की है । दिनकर की उर्वशी राग का उद्दाम शिखा है जिसका प्रेम भोगमूलक है । दूसरी ओर गृह-लक्ष्मी औशीनरी है जो सब सन्यासी पुरुरवा और शापभ्रष्ट उर्वशी के व पुत्र 'आयु' को अपनी अश्रुसिक्त ममता की छाया में लेकर खंडहर को भी मंगल और ऐश्वर्य के स्वप्न देती है । रागमयी उर्वशी की रचना विश्वफलक पर हुई है । परन्तु औशीनरी की कथा भारत-भूमि पर ही कही गई है ।

काल के ~ ।चक्र प्रवाह में अनेक परम्परा के कगार टूट गए हैं अनेक मूल्य आप्लाप्राय: हैं । परिवार और विवाह की रीढ़ चरमरी उठी है । और

उनके विघटित परिवार और विवाह की जीवित देखें हैं औशीनरी ।

'जीत गई अप्सरा सखि । मैं ज्ञानी बन कर हारा । वह नारी जीवन का ऐसा करुण रूप प्रस्तुत करती है जहां प्रेरणारूपा नारी प्रत्यक्ष क्रिया का अभाव होने के कारण हार जाती है । हलचल को चित्रित करने वाला इतिहास यही कारण है कि उस शांति नारी को उपेक्षित छोड़ देता है जो सृष्टि के महामूल निस्तल में समुद्र को छिपाये पर धारण किए बैठा है ।' सीधे संघर्ष न कर पाने में असमर्थ होने के कारण नारी प्रेरणा रूप में सृजन में सहयोग देती है । वह स्वयं संघर्ष नहीं करना चाहती, उसमें स्वतंत्र दृष्टि विकसित होने की आकांक्षा भी नहीं होती, वह तो प्रियजनों की विजय में ही अपनी विजय का अनुभव करती है ।[1]

इतिहासों की सकल सृष्टि केन्द्रित बस एक क्रिया पर
किन्तु नारियाँ क्रिया नहीं, प्रेरणा प्रीति करुणा हैं
उद्गमस्थली अदृश्य,जहां से सभी कर्म उठते हैं ।

रसवंती की आधुनिकता की समस्त विशेषताओं को लेकर दिनकर ने 'उर्वशी' में 'नारी और मातृत्व' की अत्याधुनिक समस्या को उठाया है । एक ओर अप्सरा-प्रेम है जो निर्बाध बहता है, बंधना नहीं जानता । दूसरी ओर है मानवीय प्रेम जो किसी एक वृक्ष की छांह तले जीवन व्यतीत कर नवागत सृष्टि का निर्माण करता है । रंभा स्वयं कहती है कि वह सागर-आत्मजा अप्सरा है जो सिन्धु सी असीम उच्छल होने के कारण किसी एक नर की बाँहों में नहीं बंध सकती ।[2] अपने सौन्दर्य को अक्षुण्ण बनाने के कारण ही मातृत्व का

१- संस्कृति का दार्शनिक विवेचन,पृ०३५५ -- डा० देवराज

२- तु०की०

जनाकीर्ण संसार बीच कितनों का मन बांधोगी ?
निरुद्ध बांधोगी कहो राह कृष्ण किस किस का ?
--रसवंती,पृ० ५७ -- दिनकर

गौरव गरिमा को हेय दृष्टि से देखा जाता है । इस पीढ़ी से पहले की पीढ़ियों को नारियों ने गांधीवादी निष्ठा की यह परिणति दी तो आज की नारी मुक्त विलास, निर्बन्ध संवरण द्वारा व्यक्तित्व विकास के नाम पर दाम्पत्य बंधन से मुक्ति चाहती है । पन्त ने इस आधुनिका को 'तुम सब कुछ विहग फूल तितली विहगी मार्जारी, आधुनिके ! तुम नहीं अगर कुछ , नहीं सिर्फ तुम नारी'[1] कह कर हेय दृष्टि से देखा । यह भी सत्य है कि इतिहास में ऐसे भी युग आए हैं जब अंधार्ग को सर्वांग बनाने की शक्ति सम्पन्न विवाह ने क्षुधा पूर्ति पर ही अपना दृष्टि केन्द्रित करके नारी का शोषण किया । महादेवी वर्मा ने आततायी समाज की भर्त्सना की जो विवाह के समय फूल की सुकुमारी को दो ही वर्षों में हड्डियों का ढांचा बना देता है[2]। संभवत: इस अमानवीय शोषण की प्रतिक्रिया में वर्तमान युग में विवाह के प्रति निषेधात्मक दृष्टिकोण जन्मा है ।

परन्तु विवाह न करने के संकल्प का यह तात्पर्य नहीं है कि वर्तमान पीढ़ी कामजयी हो गई है या नारी-मन की मातृत्व की ललक शांत हो गयी है । छद्म अनुभूति में जीवन गुजारने व और आवरण के लिए जीवित रहने वाले इस युग के बारे में लारेंस ने कहा था कि कुछ समय बाद सभी सम्बन्ध टूटते हैं, व्यक्तित्व पूर्ण होता है। हम एक लम्बे समय तक अपना अनुभूतियों के संबंध में स्वयं को धोखा न दे सकते हैं लेकिन यह सब दिन नहीं चल पाता । अन्त में हमारा शरीर हमें मारता है --' बड़ी बेरहमी से, बिना पश्चाताप व के । सैक्स छद्म अंग पर ही आक्रमण करता है[3]।' बस्क देव संस्कृति आज के मानव में

१- ग्राम्या,पृ०८२-- सुमित्रानन्दन पन्त

२- श्रृंखला की कड़ियां -- महादेवी वर्मा

३- **Marriage and Moral. Page 64 - Allen And Unwin.**

निर्बाध भोग के रूप में फिर से जीवित हो उठा है। निर्बाध भोग से शापवश वहां जो काम अनंग हो गया था वही आज मानसिक नाम (Sex in Head) बनकर व्यक्त हो रहा है। रागों से मैत्री द्वारा ही जीवन अकुंठित बना रह सकता है। अन्ततः अतः सुकन्या अप्सरा चित्रलेखा को समझाती है कि जब तक हरा भरा जीवन है किसी से तार बांध लेना चाहिए अन्यथा --

बाहर होगा विजय निकेतन, भीतर प्राण तजोगे
अन्तर के देवता तृषित भीषण हाहाकारों में।

मातृत्व स्वयं को खो देने का नाम नहीं स्वयं को पा लेना है। 'मातृ देवो भव' तथा शक्ति की मातृरूप कल्पना के पीछे मातृत्व की गरिमा छिपी है। सीमित नारी माता बनकर असीम हो जाती है। हिमशिला सी देहगठन को खोकर पयस्विनी महान और लोकोत्तर हो जाती है।

गलती है हिमशिला सत्य ही गठन देह की खोकर।
पर हो जाती वह असीम कितनी पयस्विनी होकर।।

x x x x

नारी ही वह महासेतु जिस पर अदृश्य से चलकर
नए मनुज नव प्राण दृश्य जग में आते रहते हैं।

औशीनरी के रूप खण्डित नारीत्व और तृषाकुल मातृत्व को लेकर कवि ने [illegible]रिक विश्रृंखलता का खाका खींचा है। औशीनरी पूर्णतः भारतीय नारी है जो पति की दुर्बल प्रवृत्तियों की गाथा सुनकर भी उसकी पूजा करती है, संयमित रहती है। गम्भीर प्रेम, निष्ठा और कर्तव्य परायण पत्नी हार कर भी हार नहीं मानती। नारी की संरचना करते समय विधाता ने पुरुष होने के नाते पुरुषों का पक्ष लिया है -- यह दुहाई गुप्त जी 'द्वापर' की उस विधृता द्वारा दिला चुके थे जो याज्ञिक पति द्वारा निरर्थक लांछित की जाती है। 'उर्वशी' में औशीनरी का विद्रोह, उत्ताप, आक्रोश, आवेश, आंसुओं में बहा है। जीवन की ट्रैजेडी यह नहीं है कि प्राप्य नहीं मिला, इससे बड़ी ट्रैजेडी यह है कि पाने के उपाय तथा साधन ज्ञात होने पर भी सामने ही सब कुछ समाप्त हो गया। औशीनरी स्पष्टतः जानती है कि पुरुष अपनी प्रवृत्तिगत विवशता के कारण नवीनता-उत्सुक है। [illegible] इसी कारण आदर्श नारी को

सहचरी, मंत्रिणी के साथ-साथ विलास निपुणा माना जाता है जो नित-नवीनता से पुरुष को उलझाए रखे। 'अतिपरिचयाद् अवज्ञा' के सूत्र को ध्यान में रखते हुए नारी को विवाह के बाद भी अप्सरावत गोपनीयता (Sphinx like Secreacy) बरतनी चाहिए[1]। आशीनरी भी इस तथ्य से परिचित है --

प्रियतम को रख सके निमज्जित जो अतृप्ति के रस में
पुरुष बड़े सुख से रहता है उस प्रमदा के वश में

परन्तु वह आजीवन खुली धूप में आने से कतराती ही रही। सागर बंधन में नहीं बंध सका। उद्वेलन और आवेश में धधकता पुरुष-हृदय नारी को अर्ध निशा में जगाकर शान्त हो जाता है और वह प्रणयिनी पथ जोहती, आँसुओं की माला गूंथती रह जाती है। पुरुष का आवेश जिस शीघ्रता से जन्मता है, उसी त्वरा से शान्त हो जाता है। जीवन की सूनी चट्टानों पर भ्रमण करते करते थक जाने वाला पुरुष नारी-साहचर्य में अपनी श्रान्ति और ऊब को दूर करता है। पुन: उसे वही चट्टानें बुलाती हैं और नारी सूनेपन को आंसुओं से धोती रह जाती है[2]।

संघर्षों से श्रमित श्रांत हो पुरुष खोजता विह्वल
सिर पर धर कर सोने को, क्षण भर नारी का वक्षस्थल।
आँखों में जब अश्रु उमड़ते, पुरुष चाहता चुम्बन।
और विपद में रमणी के अंगों का गाढालिंगन।

+ + +

जितना ही जो जलधि रत्नपूरित विक्रांत अगम है,
उसकी बाड़वाग्नि उतनी ही अविश्रान्त दुर्गम है।
बन्धन को मानते वही, जो नद, नाले, सोते हैं,
किन्तु महानद तो, स्वभाव से ही प्रचण्ड होते हैं।

१- A Propos to the Lady Chatterly's love ~~xx~~ and other ___, Page 95, 96.

२- पुरूरवा० उर्वशी पृ० ३४ एवं भोर का तारा, पृ० १३१—जगदीशचन्द्र माथुर

इस भारतीय नारी के प्राणों में भी उत्ताप है, दीप्ति है परन्तु वह प्रणयिनी और पत्नी होने के नाते अवनम्र है , शांत है । अप्सरा प्रेमी पति के निर्देशानुसार वह पुत्र-यज्ञ की तैयारी में लग जाती है । उसकी एकान्तनिष्ठा ने ही उसे पति की हर निर्बलता से समझौता कर पाने की अकुंठित शक्ति दी ।

अलभ्य और दूर को पाने की यह अकुलाहट , प्राप्य को ठुकरा कर अप्राप्य के लिए भटकने की प्रवृत्ति मानव-मन का प्रकृतिगत सत्य है । सभ्य मनुष्य एक नारी से सन्तुष्ट नहीं रह पाते, प्रेम में लम्बे समय तक डूब कर एक दिन महसूस होता है कि यौन परिचय वासना को शिथिल बना रहा है, पुरानी ताज़गी प्राप्त करने नयी हरियाली की ओर आँख उठाते हैं । नैतिक निरोध (Inhibition) वाले दबा लेते हैं पर यह प्रवृत्ति हर पुरुष में उत्कट अस्तित्व रखती है[1]। पुरुष के महत् कार्यों की प्रेरणा रही है , पर वह नारी नहीं जिसे उसने पा लिया, अपितु वह जिसे पा न सका —[2]

> इस पर भी नर में प्रवृत्ति है क्षण क्षण अकुलाने की
> नयी नयी प्रतिमाओं का नित नया प्यार पाने की ।
> वश में आयी हुई वस्तु से इसको तोष नहीं है,
> जीत लिया जिसको उसके आगे संतोष नहीं है ।

वर्तमानयुग में टूटती परिवार और दाम्पत्य व्यवस्था का एक प्रमुख कारण है 'यौन [illegible]' जिसकी ओर लारेंस ने इंगित किया था । उसके अनुसार दाम्पत्य जीवन का उपयोग सहज, प्रवृत्तियों के अकुंठित विकास के लिए होना चाहिए । परन्तु 'सेक्स' 'सेक्स' तो दाम्पत्य के बिना भी चल सकता है । सार्त्र ने 'इंटीमेसी' की नायिका लूलू के माध्यम से बताया है कि दाम्पत्य का आधार है आत्मीयता । एक-दूसरे को खुले दिल से [illegible] की अनुभूति । पुरुरवा और उर्वशी के विफल दाम्पत्य का मूल इस पारस्परिक सहानुभूति का अभाव ही था । सुकन्या यही कहती है कि रानी ने कभी यह देखने का प्रयास नहीं किया कि उसे

1- Marriage & Morals, Page 112.

2- संस्कृति का दार्शनिक विवेचन, पृ० ३२७ दीर्घनाई का कथन उद्धृत

क्या व्यथा है, उसके प्राण में कहां कांटे चुभे हैं । आशीनरी भी यह स्वीकार करती है कि डाली के पुजा-प्रसूनों को चढ़ाकर भी वह सुरभि वह नहीं दे पाई जिसकी प्रियतम को सर्वाधिक तृषा थी --

> हाय ! सती ! मैं ही कदर्य, दोषी, अनुदार, कृपण हूँ
> केवल शुभकामना, मंगलेच्छा से क्या होता है ?
> मैं हो दे पायी न भावमय वह आहार पुरुष को
> जिसकी उन्हें अपार क्षुधा उतनी आवश्यकता थी ।

सफल दाम्पत्य के दोनों उपकरण सेक्स और आत्मीयता, आशीनरी के गार्हस्थ्य में नहीं थे । टूटती हुई पारिवारिक इकाइयों की यह जीवित समस्या है । पारस्परिक ईमानदार प्रतिबद्धता और समरस अनुकूलता निरन्तर भंग हो रही है । इब्सन की विद्रोहिनी नोरा के गृह-परित्याग से ही यह समस्या सुलझ नहीं जाती । औशीनरी घर में रहते हुए भी सम्पूर्ण गृहिणीत्व से वंचित रही क्योंकि एक ओर उसने अन्तर में छिपे प्राण को व्यंजित नहीं होने दिया, दूसरी ओर उसके क्रीड़ा-विकल-दृगों में खुलो धूप का किरण-कोलाहल गड़ता था ।[1] औशीनरी वस्तुतः हमारे पारिवारिक जीवन की ट्रेजेडी का मार्मिक आख्यान है ।

ऐसी महिमामयी नारी को मायारूपा घोषित कर घर से सन्यास लेने वालों की संख्या आज भी भारत में कम नहीं है । समाज में जब भी इन साधु सन्यासियों का और बढ़ता है नारी का सम्मान, गार्हस्थ्य का गौरव उतनी ही मात्रा में कम हो जाता है ।[2] ~~कम-और-प्रवृत्ति-के~~ युधिष्ठिर और भीष्म के बीच निवृत्ति और प्रवृत्ति के जिस द्वन्द्व की अवतारणा कुरुक्षेत्र में हुई वही द्वन्द्व पुरुरवा और उर्वशी के वार्तालाप में मिलता है । काम और प्रवृत्ति के तिरस्कारक ही नारी को तिरस्कृत करते हैं । सन्यास में प्रकृतिरूपा नारी का तिरस्कार करने वाली-

निवृत्तिक

1- उर्वशी, पृ० १५८ | दिनकर
2- कुरुक्षेत्र, पृ०६ |

व[illegible] दृष्टि को 'अन्तर्मन्थन के इस काव्य उर्वशी' में दिनकर ने नया दृष्टिबोध देने का प्रयास किया है, जो 'कुरुक्षेत्र' के छठे सर्ग का बीज बिन्दु रहा है। बुद्धि की अपेक्षा राग, निवृत्ति की अपेक्षा प्रवृत्ति को महत्ता देते हुए 'काम की [illegible] कुकृतियों को उदात्तीकरण के सोपान' रूप में प्रस्तुत किया है। द्वितीय महायुद्ध की विभीषिका ने 'कुरुक्षेत्र' रचाया तो वर्तमान बुद्धि-व्यवसाय संकुल युग की [illegible]मूलक समस्याओं ने उर्वशी का प्रणयन करने को प्रेरित किया। यह उर्वशी रवीन्द्र की उर्वशी के समान विश्व प्रिया है[1] वह जब नृत्य करती है तो पुरुष-वक्ष में रक्त धारा बह निकलती है[2]। साथ ही वह पंत की विशुद्ध सौन्दर्याभिव्यक्ति भी है। इस आदिम नारी ने भोग के एकान्त क्षणों में खो जाने वाले पुरुरवा की उस निरासक्ति के सामने जो प्रकृति को अपनी [illegible] द्वारा असत्य और भ्रम सिद्ध करती है, अनेक प्रश्नचिह्न लगाए हैं। यह बौद्धिक भ्रांति की ही घोषणा है कि 'जो नारी को पा चुका वह परमेश्वर को नहीं पा सकता।' फूलों कणों और मानव-मात्र को असत्य सिद्ध करना इस अपावन सृष्टि में निहित अदृश्य को तिरस्कृत करना है ——

> द्वन्द्व रंच मात्र भी नहीं कहीं भी प्रकृति और ईश्वर में
> द्वन्द्वों का आभास द्वैतमय मानस की रचना है।

मानवतावादी दर्शन के अनुकूल दिनकर मानते हैं कि वह गंधोद्दीप्त जगत् मिथ्या और बंधन रूप में त्याज्य नहीं हो सकता। नारी प्रसून और [illegible]न

१- युग युगान्तर हवे तुमि शुधु विश्वेर प्रेयसी
हे अपूर्व शोभना उर्वशी

२ .... अकस्मात् [illegible] [illegible] चित आत्महारा
नाचे रक्त धारा

३- एकोत्तरशती, पृ० ११८

को बन्धन कहने वालों के मन नियम संयम, निग्रह से जड़ीभूत रहते हैं । वह ज्ञान जिसे पाकर मन हंसी में हंस न सकें, दु:ख में रो न सके, वह ज्ञान जो मानवता को पीस दे ज्ञान नहीं कोल्हू है[1] । देह की हठयोगी साधना से चित्तवृत्तियों का शोधन और निरोध नहीं होता । ऐसे विधि-निषेध और अर्जन-वर्जन के नियन्ताओं के मानस भी फलासक्तिशून्य नहीं होते । आदर्श यह है जो उसी प्रकार फलासक्ति शून्य हो निरासक्त भाव से सब कुछ भोग रहा है जैसे निरुद्देश्य फूल खिलते हैं, पवन बहता है । `तैनत्यक्तेन भुंजीथा: ।`(त्याग द्वारा भोग करो, आसक्ति द्वारा नहीं) का आदर्श भोग और योग का सामंजस्य प्रस्तुत करता है । प्रकृति और ईश्वर के बीच वैरभाव की स्थापना कर नारी प्रेम और जगत् का तिरस्कार नहीं हो सकता --

मूढ़ मनुज ! यह भी न जानता, तू ही स्वयं प्रकृति है ।
फिर अपने से आप भाग कर कहां त्राण पाएगा ?

रागशून्य अतिरिक्त बुद्धि ही इस प्रकार की निरर्थक विचारणाओं को जन्म देती है[2] । `कुरुक्षेत्र` के समान कवि यहां कहता है --

रक्त, बुद्धि से, अधिक बली है और अधिक ज्ञानी भी
क्योंकि बुद्धि सोचती और शोणित अनुभव करता है ।

+ + +

क्या विश्वास करे कोई कल्पनामयी इस धी का ?
अमित बार दे‌ती यह छलना भेज तीर्थ-पथिकों को
उस मंदिर की ओर जिसका अस्तित्व नहीं है ।

१- गोदान, पृ० ३०० -- प्रेमचन्द

तु०की० समर प्रकृति से रोष, इन्द्रियों पर तलवार उठाये
जूझ रहा है किस सुख का वह मोह देह मंडन से ? (उर्वशी, पृ०८१)

२- ~~कुरुक्षेत्र~~ छला नहीं मानापमान की बुद्धि उचित शुभ लेती
करती मनुज विचार अग्नि की शिखा बुझा देती है ।
-- कुरुक्षेत्र पृ० ५३

चेतना को अजुष्ट संकोचन सिखाने वाले विराग के साथ-साथ उस राग को भी कवि निसर्ग री कहता है जो प्रिय अभीष्ट सुख की दिशा खोज में ही एकतान हो जाए। दोनों ही विषम हैं, जीवन की निश्चिन्त चेतना को अप्र नियम, संयम, लोभ और भीति से अभंग बहने देना चाहिए[1]। राग और विराग क्रम से बहिर्मुख फलासक्ति से शून्य अकाम आनन्द का मुक्त अनुभावन योग की ऐकायन स्थिति में ले जाता है। योग और भोग, आत्मा और शरीर के नाना द्वन्द्वों के समाहार के लिए 'कामाध्यात्म' की स्थापना करते हुए वर्तमान युग के बुद्धि-शीतल बन्ध्या दर्शन और उष्ण तथा प्रेरक दर्शन के संघर्षण के बीच कवि ने रक्त की भाषा को विश्वास की भाषा कहा है[2]। रक्त की इस प्रवहशील धारा में अबाध निश्छल बहने में ही सिद्धि है, जीवन है। सार्त्र ने 'इंटीमैसी' कहानी में कहा है कि 'रक्त हमें बहा कर ले जाता है, यही तो जीवन है। हम न निर्णय करते हैं, न समझ सकते हैं, बस अपने को केवल बहने के लिए छोड़ देते हैं।' दिनकर भी यह कहते हैं --

> मुक्त वही जो सहज मस्त्य-से भावना से इसमें बहते हैं
> विधि-निषेध से परे, छूटकर सभी कामनाओं से
> .... कौन सिद्धि है जो मिलती संवरण क्रम साधक को,
> और नहीं मिलती अकाम जल में बहने वाले को ?

बुद्धि का वरदान प्राप्त कर मानव ने जहां अपने को पशुओं से भिन्न किया है वहां उसकी अतिबौद्धिकता ने जीवन के आनन्दोत्सव को फीका बना दिया है। भावनाओं की [illegible] और अनुभूति की चरम गहराई निरन्तर

१- उर्वशी, पृ० ७६

२- पढ़ो रक्त की भाषा, विश्वास करो इस लिपि का
वह भाषा, वह लिपि मानव को कभी न भरमायेगी
छली बुद्धि की भाँति, जिसे सुख दुख से भरे भुवन में
पाप दीखता वहीं जहाँ सुन्दरता फूल रही है
और पुण्य-पथ वहीं जहाँ कंकाल, कुलिश, कांटे हैं।
— उर्वशी, पृ० ४१

कम होती जा रही है । आज के मानव की भावना तीव्र नहीं रह गई है । न तो उसकी घृणा प्रखर होती है न विरह उत्कट और न राग एकान्त । वह बूढ़ा हो गया है ज्ञानी जीव । धर्मवीर भारती की 'नयारस' कविता में आधुनिक मानव की इसी व्यथा का कथन है --

"प्रभु !
इस रस को
इस रस को क्या कहते हैं
जिसमें श्रृंगार की आसक्ति नहीं
जिसमें निर्वेद की विरक्ति नहीं
जिसमें बाहों के
फूलों जैसे बन्धन के
आकुल परिरम्भण की गाढ़ी तन्मयता के क्षण में भी
ध्यान कहीं और चला जाता है
तन पिछले फूलों की आग पिया करता है
पर मन में कई प्रश्नचिह्न उभर आते हैं
चुम्बन आलिंगन का जादू --
जैसे मन को ऊपर ही ऊपर छू रह जाता है ।"-- पुरूरवा

का निर्माण इसी बिन्दु पर हुआ है । उर्वशी से अगाध प्रेम करने पर भी वह उसके लिए इन्द्र से युद्ध करने नहीं गया, जिसका उर्वशी को संताप है --' हाय किया क्यों नहीं, माँग लाने में यदि अपयश था ?'[1] उर्वशी के साथ मधुयामिनी बिताने व गंधमादन जाता है तो पत्नी को हंस से संवाद भेजता है कि 'वहां रहूं, मैं भी रत रहूं ईश्वर के आराधन में'[2]। वह उर्वशी के प्रणय-राग में भी [illegible] नहीं हो पाता --

---

१- उर्वशी, पृ० [illegible]
२- उर्वशी, पृ० [illegible]

तन से मुझको करते हुए दृढ़ [illegible] में
मन से, किन्तु, [illegible] दूर कहाँ चले जाते हो ?
बरसा कर पीयूष प्रेम का, आँखों से आँखों में
मुझे देखते हुए कहाँ तुम जाकर खो जाते हो ?

प्रेम के बिना सेक्स बेमानी होता है। सेक्स की सारी सार्थकता प्रेम से है। शरीर और शरीर का मिलन प्रेम नहीं होता। प्रेम में शरीर मन और आत्मा, तीनों के धरातल पर नर और नारी एकाकार होते हैं। शरीर के धरातल पर स्थित नारी-पुरुष एक दूसरे की भौतिक सत्ता का अतिक्रमण कर लोकातिक्रांत हो जाते हैं। ऐसे स्थल पर काम का धर्म से कोई विरोध नहीं रह जाता।[१] 'उर्वशी' में काम के तीन परस्पर विरोधी रूपों की परिकल्पना है। एक ओर है त्यागमयी निष्ठा[illegible] औशीनरी का गम्भीर दायित्व मूलक उन्नयित श्रृंगार तो दूसरी ओर है [illegible] महर्षि च्यवन और सुकन्या जहाँ भोग और योग का सामंजस्य है। तीसरी ओर है उर्वशी और पुरुरवा का भोग और प्रवृत्तिमूलक काम। कोई भी किसी का पूरक और अविरोधी नहीं। प्रश्न उठता है कि दिनकर किसके साथ हैं ? इस समस्यामूलक विचारात्मक कृति में प्रवृत्ति और आदर्श की मूल समस्या से सम्बद्ध समकालीन [illegible] विचार पद्धति की विविध अवान्तर समस्याओं को विविध कोणों से उसी प्रकार देखा गया है जैसे इससे पूर्व 'कुरुक्षेत्र' में 'युद्ध और शान्ति के साथ हिंसा-अहिंसा, राग-विराग प्रवृत्ति-निवृत्ति को लिया गया है। कवि उपदेशक से भिन्न होने के नाते अपने संदेश और कृति की सार्थकता को व्यंजित करता है, कथित नहीं। डा०सावित्री सिन्हा ने माना है कि समस्या प्रधान कृति में मूल प्रभाव कई होते हैं और उनकी

१- बलं बलवतां चाहं [illegible]।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥
— गीता ७।११

व्यंजना मात्र नायक और नायिका ही नहीं गौण पात्र भी करते हैं । उर्वशी में काम की समस्या का समाधान उन्नयन और सामंजस्य के रूप में प्रस्तुत किया गया है पर इसका प्रतिनिधित्व करने वाली घटनाएं और पात्र गौण हैं ।[1] विविध अनुभव क्षेत्रों का घात-प्रतिघात और संश्लिष्ट रूप 'महाकाव्य' की परिकल्पना का केन्द्रबिन्दु है । प्रवृत्ति और निवृत्ति के जटिल संश्लेष की द्वन्द्व-प्रक्रिया उर्वशी को महाकाव्य जैसी जटिलता और संश्लिष्टता देती है । वर्तमान युग में काम को मूल प्रेरणा की जीवनेच्छा मानने वाली विचारधारा से 'कामाध्यात्म' की परम्परित धारणा को स्वरूप कर उर्वशी और पुरुरवा की भोगमूलक दृष्टि चल है जो इन्द्रियों के धरातल से अतीन्द्रिय का संस्पर्श करना चाहती है ।

अपने 'अहं' को किसी के व्यक्तित्व में लीन कर दया, करुणा, ममता, त्याग से विभूषित श्रद्धामयी आशीनरी के मौनवर्चस्व को न समझ पाने के कारण पुरुरवा ऐसे सुन्दर फूल उर्वशी का सम्पोष्य खोजते हैं जो दर्शन और बुद्धियुक्त हैं ।[2] च्यवन वह तेजवंत पुरुष है जिनके व्यग्र-उदग्र प्रणय में न तो तपश्चरण बाधक है न तपश्चरण में प्रणय बाधक । वे प्रणयपाश में आबद्ध उसी शिखर पर पहुंचते हैं जहाँ योग योगी को कविता कवि को ले जाती है । ऐकात्म और सामंजस्यमूलक योगी के प्रेम में धूप और छाया दोनों होती हैं ।[3] कालिदास ने भी 'कुमार सम्भव' में माना है कि 'त्याग के साथ ऐश्वर्य का तपस्या के साथ प्रेम का मिलन होने पर ही उस शौर्य का जन्म हो सकता है, जिसके द्वारा मनुष्य का सर्व प्रकार की पराजय से उद्धार हो'[4] । त्याग और भोग के सामंजस्य में ही पूर्ण शक्ति है जो महर्षि च्यवन और सुकन्या की जीवन प्रक्रिया में निहित है ।

१- कुमचारण [illegible] दिनकर, पृ० २११

२- उर्वशी, पृ०८७

३- सदा छाँह में पलो प्रेम यह भोग निरत प्रेमी का,
   पर योगी का प्रेम धूप से छाया में आता है ।
   — उर्वशी, पृ० १०८

४- कालिदास की लालित्य योजना, पृ०२२— हजारी प्रसाद द्विवेदी

काम को त्याज्य कहकर तिरस्कृत करने वालों और कामजन्य व्याप्तियों को शारीरिक पाशविक मांसाचार तक परिसीमित रखने वालों के सामने कालिदास की भोगमूलक दृष्टि को आधुनिक मनोवैज्ञानिक चिन्तन से जोड़ते हुए दिनकर ने प्रस्तुत किया है । जहां मुक्त प्रणय स्वच्छन्द विहार की बात है वहां कवि उन्नेयित श्रृंगार की बात कहता है, जहाँ कोरी मुक्ति और निवृत्ति-परायणता है जो जगत् की छाया से दूर जाना चाहती है, वहां वह उस सामंजस्य को सामने लाता है जहां योग और भोग में परस्पर मैत्री है । यह सत्य है कि कवि ने कोई निश्चित समाधान नहीं दिया है क्योंकि उसके अनुसार प्रश्नों के उलट, रोगों के समाधान -- मनुष्यों के नेता दिया करते हैं । कविता की भूमि केवलठ दर्द को जानती है, केवल बेचैनी को जानती है, केवल वासना की लहर और रुधिर के उत्ताप को पहचानती है[1] ।"

वस्तुत: 'उर्वशी' में कवि दिनकर ने उस दर्द की भूमि को पहचाना है जहां औशीनरी के खंडित पत्नीत्व और उर्वशी के अपूर्ण मातृत्व के आंसू बहे हैं, उस बेचैनी को पहचानता है ....." जो भोग से त्याग और त्याग से भोग अथवा रूप से अरूप की ओर भटकती हुई मिलन तथा विरह में समान रूप से व्याप्त रहती है[2] ।" इस 'मणि कुट्टिम काव्य' में सौन्दर्य की वायवी छवियों का अनावरण है, कला की चातुरी है, शिल्प का कौशल है, काव्य रूप की नवीनता और छन्दों की भावानुरूपता है । रुधिर के उत्ताप और वासना की लहर को पहचानने वाली 'उर्वशी' कामदर्शन का ऐसा मार्मिक आख्यान है जो भारतीय संस्कृति के सौन्दर्य और प्रेम पक्ष को वर्तमान युग के बदलते हुए परिवेश में नया अर्थ देता है । यह केवल कालिदास की दृष्टि का हिंदीकरण नहीं है -- टैगोर

१- उर्वशी भूमिका 'ड' दिनकर

२- दिनकर -- [illegible] काव्य उर्वशी, पृ०२४१ सृष्टि और दृष्टि

३-.... प्रसुरतु कामोपरत हवि - [illegible] ।ना[illegible] नामधेयानि भवति ।

-- [illegible] १।१० कालिदास

ने प्रसिद्ध कविता `सेकाल` (पुरातन काल) में ठीक ही कहा था कि मैं कालिदास से सम्पन्न हूँ, क्योंकि कालिदास मेरे युग के बारे में कुछ नहीं जानते थे और मैं कालिदास के युग को जानते हुए अपने युग को जान रहा हूं । दिनकर के पास ऐसी ही सम्पन्न दृष्टि है जिसने कालिदास और टैगोर दोनों से अपने को समृद्ध किया है । उर्वशी में कालिदास के मांसल प्रणय को चित्रित किया है, यह दिखाते हुए कि शारीरिक प्रणय-व्यापार में ब्रह्म की मधुर इच्छा संचालित है[१] । दूसरी ओर टैगोर की अनिवार्यता को रागों की मैत्री और अनिर्वचनीय आनन्दोपभोग के रूप में लिया है । भारतीय संस्कृति के सौन्दर्य और प्रेमतत्व की आधुनिक संन्दर्भों के बीच परम्परायुक्त पर नये युगबोध के अनुकूल व व्याख्या दिनकर की `उर्वशी` की प्रमुख उपलब्धि है ।

१-.... असुरु कामोवश इति सर्वाण्येवैतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवति ।

— कुमार सम्भव ४।४० — का। ..।ब

चतुर्थ अध्याय

—o—

पौराणिक प्रतीक और आधुनिक हिन्दी काव्य

-0-

"किसी भी देश के जीवन के गहनतम रहस्य तक पहुंचने के लिए उसका पुराण साहित्य ही सबसे अच्छी कुंजी है कि उसमें [illegible] आदर्शों और जातिगत आकांक्षाओं के वे स्वप्न मिल सकते हैं, जिनका कि विभिन्न व्यक्ति अपनी अपनी रुचि दीक्षा, योग्यताओं और संस्कारों के आधार पर परिष्कार करते हैं। पुराण ही वह पहली सांस्कृतिक इकाई है जिसमें से जीवन की बहुरूपता प्रस्फुटित हुई है।[1] जातीय चेतना के आकलन के लिए महाकाव्य इन पुराणों से संदर्भ, पात्र, कथा और प्रतीकों का चयन करते हैं। पौराणिक प्रतीक काव्य शिल्प कला का योग मात्र नहीं है। वे देश के सांस्कृतिक मानस को समझने की दिशा में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। ये पौराणिक प्रतीक पुराणजन्य होकर भी पुराण से भिन्न हैं। पुराकथा किसी घटना की स्थूल वर्णनात्मकता को लेकर चलती है और पौराणिक प्रतीक उसका "माथिक" और "वाङ्मय" स्वरूप है।[2] महाकाव्यों में गृहीत पौराणिक

१- त्रिशंकु, पृ० ९५ — अज्ञेय

२- At least it is possible to maintain that myths are narratives however, brief, they are [illegible] of some kind of happening. And if we wish to link myth intimately with [illegible] we must distinguish between two kinds of 'symbols' and 'Mythic' symbol, perhaps by saying that the myth is narrative, the [illegible] is a verbal or visual figure drawn from [illegible]. Myth and [illegible], Page [illegible], Ed., Altizer Beardsle Young.

प्रतीकों के क्रमिक विकास में सांस्कृतिक विचार का परोक्ष महत्त्व है, क्योंकि प्रतीक व्यवस्था किसी देश के मानस का अविभाज्य अंग है ।

सन् १८१५ में कलकत्ता कालेज की स्थापना के साथ-साथ अंग्रेजी भाषा और साहित्य में दीक्षित भारतीय पीढ़ी का निर्माण आरम्भ होता है, जिसे क्रमश: अपनी परम्परा, सभ्यता और संस्कृति से घृणा हो चला था, जो योरोपीय-करण के द्वारा भारत के नवजागरण का विश्वासी था । उन्होंने अपने पौराणिक साहित्य को अश्लील और पिछड़ा हुआ कह कर त्यागा और ग्रीक, रोमन कथाओं के प्रति गहरी आसक्ति दिखाया । स्पष्टत: यह सांस्कृतिक दृष्टि से आत्मचेतना की हार था ।" परम्परा का विरोध इस संस्कृति की मूल चेतना थी और यह विरोध देवतावाद, समस्त धार्मिक मान्यताओं तथा सामाजिक आचार-विचार के क्षेत्र में अराजकता बनकर आता है[1] ।"

परम्परा के प्रति एक भिन्न और अधिक स्वस्थ दृष्टि भी इस युग में विकसित हुई । सन् १८६१ में प्रकाशित माइकेल के 'मेघनादवध' के साथ साहित्य में मानववाद की परम्परा स्थापित होती है, क्योंकि नियति के प्रति मानव विद्रोह इस कृति की मूल चेतना है । इस रचना के बाद भारतवर्ष के कवियों को लगा कि पौराणिक सन्दर्भों और गाथाओं को नवयुग में प्रतिष्ठित करना अनिवार्य हो चला है । माइकेल ने राम रावण की 'पाप पुण्य की लड़ाई' को समान प्रतिद्वन्द्वियों के युद्ध के रूप में प्रस्तुत किया । मध्ययुग से मानवतावादी नवयुग की यात्रा में इस कृति का महत्वपूर्ण योगदान है । डा० रामरतन भटनागर ने बंगाल के नवयुग का प्रारम्भ १८६१ में प्रकाशित मेघनाद वध, तथा हिन्दी में साहित्य सर्जना के नवयुग का प्रकाशन 'हरिऔध' के महाकाव्य 'प्रियप्रवास' १९१४ से माना है[2] ।

राजा राम मोहनराय का ब्रह्म समाज जिस सुधारवादी चेतना को लेकर चला है वह मध्यदेश में आर्य समाज में पाई जाती है । प्रियप्रवास का कवि

१- निराला और नवजागरण, पृ० १०८—डा० रामरतन भटनागर

२- [illegible] और नवजागरण, पृ०६७ -- डा० रामरतन भटनागर

आर्य समाज से यथेष्ट प्रभावित रहा है । उन्होंने `कृष्ण` राधा नामक दो पौराणिक पात्रों को युग संदर्भ के अनुकूल बनाने का प्रयास `प्रियप्रवास` में किया । इस काव्य में कृष्ण-राधा प्रतीक के रूप में नहीं आते हैं क्योंकि प्रियप्रवास उस युग की आरम्भिक कृति है जब भारतीय मानस मनोविज्ञान के सूक्ष्म अधिनियमों से सामान्य परिचित हो हो पाया था । राष्ट्रीय चेतना के प्रभाव में जातीयता, मानवतावाद, विश्वप्रेम, लोक सेवा आदि आदर्शों को `महात्मा कृष्ण` और `लोकाराधिका राधा` के व्यक्तित्व से `जोड़ा` गया है । ये अंश अध्यारोपण से प्रतीत होते हैं । संवेदनात्मक स्तर पर रचना का अंग नहीं बन पाते । एक ओर `गोवर्द्धन धारण`, पूतनावध आदि अतिप्राकृत घटनाओं को कवि अभिधेयार्थ से पृथक् कर प्रतीकार्थ रूप में मानवीय बनाने का प्रयास करता है तो दूसरी ओर `कालिय नाग` और `गोवर्द्धन धारण` की कथा इसलिए लौकिक प्रतीत नहीं होती क्योंकि प्रियप्रवास के कृष्ण की आयु उस समय मात्र बारह वर्ष की थी । पुराणों के देवता कृष्ण को `महात्मा` महापुरुष` बनाने में कवि कृष्ण के मथुरा से ब्रज वापिस न आने की कोई सबल युक्ति दे पाने में असमर्थ रहा है । राधा का आजन्म कौमार्य व्रत धारण समाज सेवा और विश्व प्रेम भी हरिऔध के सुधारवादी दृष्टिकोण के [illegible] हैं । सामान्य पाठक की संवेदना राधा के नारी रूप से होती है उसके दिव्य रूप से नहीं । इसका यह तात्पर्य नहीं है कि कवि पौराणि[illegible] को युग संदर्भ में उठाने में असफल रहा है , तात्पर्य यह है कि कवि ने सुधारवादी युग में राष्ट्रीय चेतना के संवाहक रूप में जातिवीर, कर्मवीर, विश्वप्रेमी `कृष्ण` और समाजसेवी कर्मठ `राधा` का जो रूप विकसित किया है वह कवि की निर्माण, क्षमता का सुन्दर परिचय है । युग की सीमा के बीच उन्होंने कृष्ण और राधा के साथ अनिवार्यतः आबद्ध अतिमानवीय संदर्भों को बौद्धिकता के द्वारा पृथक् करने का यथा-सम्भव प्रयास किया । कृष्ण कथा में परिवर्तन हुआ, कृष्ण राधा नामक पात्रों

विवेच्य-काल के दूसरे छोर पर धर्मवीर भारती का `अंधायुग` इस दृष्टि से क्रान्तिकारी प्रयास है। इस रचना के अधिकांश पात्र ऐतिहासिक चरित्र होते हुए भी विशिष्ट मानसिक प्रवृत्तियों, दृ[illegible] एवं मानसिक [illegible]क्रियाओं के प्रतीक हैं। मूल्यों की समग्रता रूप `प्रभु` को साम्प्रदायिक अर्थों से अलग कर मा[illegible]वाद के सन्दर्भ में देखा गया है। युगचेतना के रूप में कृष्ण का अंकन हुआ है न कि नाना पुराणों [illegible] और [illegible] में उल्लेख कृष्ण का। गीता के [illegible]वाद को युगचेतना का रूप देते हुए धर्मवीर भारती ने `कृष्ण` का निर्माण किया है जो आस्था के साथ अनास्था, जीवन के साथ मरण दोनों के सम्पृक्त रूप हैं। विघटनशील युग की वैयक्तिक विकृतियों, कुंठाओं, विसंगतियों को [illegible], विदुर, गांधारी आदि पौराणिक प्रतीकों के माध्यम से प्रभावशाली ढंग पर व्यक्त किया है। 'ईश्वर,' 'धर्म,' 'आस्तिकता' आदि प्राचीन सिक्कों के झूठे या अमर्यादित पड़ जाने की स्थिति में मानवीय आस्था के ज्वलंत प्रश्न को नयी कविता की महत्वपूर्ण रचना `अंधायुग` में उठाया गया है। अनास्था, घुटन, कुत्सा, [illegible] की समस्या को लेकर चलने वाली इस कृति में व्यंग्य की अन्तर्वर्तिनी धारा के द्वारा आगत मूल्यों का आभास दिया गया है। त्रेता के महायुद्ध को वर्तमान सन्दर्भ में ग्रहण करते हुए, कृष्ण के महाभारतपरक रूप को मानवीय विवेक और सृजनात्मकता से युक्त युगचेतना का रूप देते हुए " संक्रान्ति की कठोर तथा निर्मम परिस्थिति में भी मानव-विवेक के उदय तथा मानव भविष्य की रक्षा का सन्देश दिया गया है।"[1]

भारतीय संस्कृति के दूसरे महत्वशाली प्रतीकपुरुष `राम` को `साकेत` में [illegible] गुप्त ने वर्तमान युग में नवजागरण का वाहक बनाने का प्रयास किया है। परम्परागत [illegible] के उपेक्षित पात्र उर्मिला और कैकेयी को नयी संवेदना प्रदान की गयी है। मर्यादावादी कवि मैथिलीशरण गुप्त ने मधु की मधुशाला का हिन्दी

1- साहित्य का नया प[illegible] पृ० १०० — डा० रघुवंश

अनुवाद किया किन्तु उनकी भाव पद्धति और विचारणा में वैसा क्रान्तिकारी उन्मेष नहीं है। राम कथा को तुलसी शायद इतने अधिकार रूप से सीमित कर चुके थे कि तुलसी के 'राम' को प्राय: यथावत् रूप में ही गुप्त जी ने ग्रहण किया है। बापू को लिखित अपने पत्र में गुप्त जी ने स्पष्टत: यह स्वीकार किया है ~~कि~~ कि राम के महान् गरिमाशाली व्यक्तित्व में परिवर्तन-परिवर्द्धन करना उनकी सामर्थ्य से बाहर है। 'एन्थ्रोमार्फिज्म' (देवत्व का मानव रूप में ग्रहण) प्रवृत्ति के कारण उन्होंने 'इस भूतल को स्वर्ग बनाना' राम का जीवन संदेश मात्र है। यदि दाशरथि राम मानव मात्र में व्याप्त नहीं हैं तो गुप्त जी को अनीश्वरवादी कहलाने में संकोच नहीं है[1]। प्रियप्रवास में ईश्वर की मानवता है तो साकेत में मानव की ईश्वरता। राम के चरित्र में आवर्तन-प्रत्यावर्तन करने में गुप्त जी रत्नाकर आड़े आई है तो कृष्ण चरित्र नव निर्माण में हरिऔध की सुधारप्रिय अतिबौद्धिकता। गुप्त जी के राम पारम्परिक राम ही हैं, अन्तर यही है कि परिवार के कवि के हाथों कुछ अधिक मानवीय हो गए हैं या राष्ट्रीय आन्दोलन के युग में 'साकेत' के लिखे जाने के कारण गांधीवादी विचारधारा को अभिव्यक्त करते हैं। गुप्त जी का भक्त 'हे लिया अखिलेश ने अवतार है' आदि रूपों में यथावसर ईश्वरत्व की घोषणा करने से नहीं चूकता। 'साकेत' के द्वारा राम-कथा के कुछ पात्रों में परिवर्तन अवश्य हुआ परन्तु प्रतीकों की समृद्ध संवेदना शक्ति का निखार नहीं हो सका।

इसी राम कथा के एक पर केन्द्रीय पक्ष को लेकर 'निराला' ने 'राम की शक्ति पूजा' की रचना की है जिसमें उन्होंने प्राचीन प्रतीकों, मिथकों, सांस्कृतिक सम्बन्धों का विशद उपयोग करते हुए [illegible] [illegible] और [illegible] से गृहीत पौराणिक राम को ऐतिहासिक-पौराणिक और दार्शनिक मूल्यों के साथ-

---

१- राम तुम मानव हो? ईश्वर नहीं हो क्या ?
विश्व में रमे हुए नहीं सभी कहीं हो क्या
तब मैं निरीश्वर हूँ, ईश्वर क्षमा करे
तुम न रमो तो मन तुममें रमा करे।
— साकेत

साथ सहज मानवीयता का धरातल प्रदान किया है । उनके राम में मानवोचित उत्कर्ष और [illegible]ओं का सहज समन्वय है । प्राचीन पौराणिक कथानक को इतिहासबद्ध ढंग से दुहराना निराला का उद्देश्य नहीं है । यही कारण है कि पुनरुत्थान की प्रवृत्ति और कवि की संघर्ष कामी चेतना के स्वर एक ओर रचना को औदात्य प्रदान करते हैं तो दूसरी ओर आधुनिक युगबोध[1] के [illegible] का उन्मेष करते हैं । पारस्परिक पात्रों की प्रतीकात्मक नियोजना में निराला को असाधारण [illegible] मिली है ।" इस रचना में महा शक्ति के जागरण के रूप में कवि ने राम की 'नवीन [illegible]' के रूप में जो अनन्य कल्पना की है वह काव्यात्मक ही नहीं, सांस्कृतिक भूमिका पर भी अद्वितीय है[2] । पौराणिक वृ[illegible] की समसामयिकता के सन्दर्भ में संगति स्थापित करने की दृष्टि से 'राम की शक्ति-पूजा' का विशिष्ट महत्व है ।

प्रसाद ने देव संस्कृति के ध्वंसावशेष मनु और श्रद्धा के आख्यान को '[illegible]नवता की [illegible]' के रूप में प्रस्तुत किया है । प्रसाद काव्य में 'परम्परागत प्रतीकों का और विशेष रूप से पौराणिक प्रतीकों का, बड़ा रमणीय और उदात्त प्रयोग मिलता है[3] ।" [illegible] की कथा प्राय: प्रत्येक देश के पुराण-साहित्य में पाई जाती है । प्रसाद ने आदि मनु को चरम व्यक्तिवाद के प्रतीक रूप में दिखलाया है । श्रद्धा [illegible]त्मिका वृत्ति है तो इड़ा [illegible]यात्मिका बुद्धि । इस प्रकार प्रसाद ने मनु, श्रद्धा, इड़ा को पौराणिक व्यक्तिवादी संज्ञा से भिन्न अर्थ में ग्रहण किया है । सन्दर्भ से गृहीत इन प्रतीकों को प्रसाद ने गहरी निष्ठा से

१- "शक्ति की करो मौलिक कल्पना, करो पूजन ।
छोड़ दो समर, जब तक न सिद्धि हो, रघुनंदन ।"
— राम की शक्तिपूजा, निराला

२- निराला और नव जागरण, पृ० २०[illegible]— रामरतन भटनागर

३- कल्पना और [illegible]वाद, पृ० १०[illegible] — केदारनाथ सिंह

आन्तरिक संवेदना से युक्त किया है । रूढ़ परम्पराओं से युक्त मनु श्रद्धा की कथा ने कामायनी को बीसवीं [illegible] की विशिष्ट कृति बना दिया है । पुराण कथाओं के रूपकार्थ को लेकर प्रसाद ने पौराणिक प्रतीकों का निर्माण किया है । प्रलय की लम्बी चौड़ी गाथा को प्रसाद 'करुण व्यस्त थे' के रूप में अद्भुत सामर्थ्य से व्यक्त कर सके हैं । पुराण को वर्तमान जीवन का अंग बनाते हुए प्रसाद ने कामगोत्रजा श्रद्धा से 'काम मंगल से मंडित श्रेय' तथा 'तप नहीं केवल जीवन सत्य' का प्रवृत्तिमूलक संदेश दिला कर तत्कालीन निराश जनता को अतीत के सांस्कृतिक गौरव और वर्तमान जीवन [illegible] का स्मरण कराया है । इड़ा हेतु विद्या है जिसकी गति विज्ञानमय कोश तक ही है, जो विश्वरूप की अनुपम व्याख्याता हो सकती है परन्तु उसकी अनुभूति नहीं करा सकती । पश्चिमी पूंजीवादी सभ्यता का अतुल वैभव उसके पास है, उस सभ्यता को मंडित करने वाली संस्कृति नहीं है । प्रसाद ने शैवदर्शन के आनन्दात्मक [illegible] द्वारा अविक को [illegible] के साथ आध्या[illegible] का भावन कराया है । "उन्होंने अपने पूर्वयुग की कृत्रिम [illegible]नकता के स्थान पर वास्तविक आनन्दात्मक काव्य-प्रतीकों को चुना और उन्हें ऊंची रहस्यभूमि पर ले जाकर आध्यात्मिक काव्य धारा में मिला दिया ।"[1] प्रसाद के पुराण गृहीत ये प्रतीक भारतीय संस्कृति को विवृत करते हैं, विकसित करते हैं ।

जैसे पुराण कथा से मनु-श्रद्धा को लेकर 'प्रसाद' ने या राम कथा से 'राम की शक्ति पूजा' के आख्यान को लेकर 'निराला' ने साहित्य की पुनर्वाणि की भूमिका निभाई, उसी दिशा में निश्चित सीमा के भीतर रामकुमार वर्मा के 'एकलव्य' ने अपनी दृष्टि से ~~सीमा के भीतर~~ योगदान दिया है । अछूतोद्धार की समस्या को एकलव्य के माध्यम से उठाया गया है । एकलव्य के चरित्र को विभिन्न कोणों से निखार कर गुरु [illegible], [illegible], श्रद्धापरायण शिष्य के रूप में प्रस्तुत किया गया है । [illegible] राजकीय सेवक की विवशता में बंधे [illegible] की [illegible] नहीं है चाहे वह और पक्ष में बैठे होने के कारण एकलव्य

का अंगूठा कटवाने को विवश हो जाते हैं । कवि ने इस प्रकार का समाधान प्रस्तुत कर द्रोणाचार्य के आचार्यत्व पर लगे कलंक को धोना चाहा है । वर्णव्यवस्था, जाति प्रथा के रूढ़िगत स्वरूप पर प्रहार किया गया है । एकलव्य सच्चे साधक का प्रतीक बन पात्र है, जिसके निर्वाह में कवि को पूर्ण सफलता मिली है ।

महाभारत की समृद्ध राशि से प्रभाव ग्रहण करने वाली महत्वपूर्ण कृति 'कुरुक्षेत्र' में युद्ध और शान्ति की समस्या को भीष्म और युधिष्ठिर से पौराणिक पात्रों के माध्यम से अत्यन्त प्रखर रूप से उठाया है । गुप्त जी की आस्तिकता ने 'जयभारत' में पात्रों की स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं किया है । सम्भवत: जयभारत के विस्तृत फलक में कथानक के सूत्रों को सम्भालते हुए शायद कवि के पास इतना अवकाश ही नहीं था कि वह चरित्रों की [illegible]कात्मकता तक पहुंच सके और नहीं उसकी वैसी रुचि है । दो [illegible]युद्ध की विभीषिका ने गुप्त जी के मानस को [illegible] तो किया है, इस कृति में उन्होंने युद्ध और शान्ति की समस्या को छुआ भी है पर उसका समाधान मानववाद और 'प्रभु के प्रति अनन्य समर्पण' को बनाया है । 'जयभारत' में युद्ध मात्र एक विवरण है जिसे महत्वपूर्ण युगमंथनकारी समस्या के रूप में 'दिनकर' ने लिया है । युधिष्ठिर का अन्तर्द्वन्द्व और पश्चाताप दो विश्वयुद्धों से आक्रान्त आज के मानव का पश्चाताप है । हृदय-मस्तिष्क, प्रकृति-विज्ञान, युद्ध और शान्ति के नानाविध द्वन्द्वों में आक्रान्त यु[illegible]ष्ठिर का विराट चरित्र वर्तमान सन्दर्भ में बहुत सटीक उतरा है । भीष्म की वीरता, पौरुष, [illegible], आस्था आदि चारित्रिक विशेषताएं गीता के कर्मयोग और [illegible] के [illegible] से ही बनी हैं । पात्रों के प्राचीन अर्थों को सुरक्षित रखते हुए दिनकर ने उनके भीतर नए अर्थ की स्थापना द्वारा असाधारण कौशल का परिचय दिया है । [illegible]पौराणिक पात्रों के चरित्र को अविकृत रखते हुए मनुष्य की मूलभूत समस्या की विचारणा को [illegible] केन्द्र बनाया है — यही इस रचना की सफलता है ।

[illegible] की आर्य [illegible] है [illegible] कवि का [illegible] [illegible] होने के कारण अनेक [illegible] उनके सम्बन्ध में प्रचलित हैं । [illegible] के साथ अनेक [illegible] अनेक कथाएँ जोड़ दिया है । [illegible]

और कल्पना का मिश्रित योग उन्हें कालान्तर में पौराणिक-संदर्भ बना देता है क्योंकि पुराण इतिहास और कल्पना के बीच की वस्तु हैं । महाकवि निराला ने रामचरित मानस के रचयिता ~~और कल्पना के~~ 'तुलसीदास' को अपनी रचना 'तुलसीदास' में राष्ट्रीय जागरण के प्रतीक-रूप में चित्रित किया है । इस रचना में गहरी सांस्कृतिक दृष्टि निर्मित है । निराला का ध्येय तुलसी-रत्नावली के प्रेम की गाथा कहना नहीं है, उन्होंने [illegible] नाओं को [illegible] न देकर तुलसी के गम्भीर अंतराल में प्रवेश किया है । एक तिहाई से अधिक वर्षों में पतनोन्मुख संस्कृति का जीवन्त चित्र उकेरते हुए निराला ने ऐतिहासिक - सांस्कृतिक भूमिका पर तुलसी के नवजागरण को दिखाया है । निराला की इस कृति में "अर्थ की निश्चितता पर बल न देकर उसकी उन्मुक्तता पर बल दिया गया है ।" जिसके कारण यह रचना मुस्लिम शासन कालीन सांस्कृतिक विघटन के साथ वर्तमान सांस्कृतिक संघर्ष का भी अंकन करती है जहां "निराला" "तुलसी" के एकात्मापन्न रूप कर [illegible] पूर्ण सांस्कृतिक समन्वय के माध्यम से राष्ट्र की पराजित चेतना को [illegible] के नए स्वर देते हैं । 'तुलसीदास' को सांस्कृतिक नवोत्थान का प्रतीक बनाकर निराला ने अपने सुदृढ़ सांस्कृतिक चिन्तन को सटीक प्रस्तुत किया है ।

[illegible] परम्परागत अर्थों से संश्लिष्ट शब्दों को लेकर नए आयाम में नयी भंगिमा से [illegible] करना वस्तुतः कठिन कार्य है । भारत जैसे [illegible] देश में जहां काफी समय तक पुराण चिन्तना, "धर्म के महत्वपूर्ण अध्याय" के रूप में पूज्य की जाती रही है, यह दायित्व और भी कठिन हो जाता है । 'उर्वशी', 'मेनका' आदि अप्सरा-पात्रों के साथ अनेक 'मिथ' जुड़े हुए हैं । [illegible] के बीच से ही नई "अप्सरा उर्वशी" को चिरनारी का प्रतीक बनाने का दुरूह कार्य 'उर्वशी' में दिनकर ने सम्पन्न किया है । यहां 'उर्वशी' चिरनारी का प्रतीक बनकर आयी है । यह केवल पुरूरवा-प्रिया ही नहीं है अपितु उसके मानव [illegible] के [illegible] हैं । युद्ध और शान्ति की समस्या को " [illegible] " में

[illegible] स्तर पर उठाकर दिनकर ने महत्वपूर्ण प्रयास किया था । `उर्वशी` में कवि ने काम और संन्यास, प्रवृत्ति-निवृत्ति, राग और विराग हृदय और मस्तिष्क के द्वन्द्व को `कामाध्यात्म` के सहारे शमित करना चाहा है । इस `कामाध्यात्म` को प्रस्तुत करते हुए दिनकर उपनिषद् के आनन्दवाद , बौद्धों के सत्कार्यवाद --को गीता के उसी अनासक्त कर्मयोग की भूमिका पर प्रतिष्ठित करते हैं, जिस पर `कुरुक्षेत्र` टिका है । काम की अमूर्त संकृतियाँ आध्यात्मीकरण और उदात्तीकरण के रूप में कहाँ तक समर्थ हैं या हो सकती हैं-- यह इस रचना का [illegible] विचार-केन्द्र है । महत्व स्थूल कथा का न होकर कथासूत्र को संचालित करने वाले वैचारिक सूत्रों तथा तद्जन्य प्रतीकों की सांस्कृतिक उपलब्धि का है ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रियप्रवास से उर्वशी तक काव्यों एवं पौराणिक कथाओं और प्रतीकों की समृद्ध भावराशि का उपयोग उत्तरोत्तर सूक्ष्म स्तरों पर हुआ है पर महाकाव्यों में इन प्रतीकों के ग्रहण और निर्वाह के लिए पर्याप्त अवकाश होता है । जातीय चेतना और युगचेतना को प्रतिफलित करने के उद्देश्य से [illegible] में परम्परागत कथाओं और पौराणिक प्रतीकों को ग्रहण किया गया है । इन पौराणिक सन्दर्भों (मिथकों) में संस्कृति का अक्षय कोश सुरक्षित रहता है । पुनर्जागरण काल में `कृष्णचरित्र` के लेखक --[illegible] ने महाभारत से कथा और पात्रों को लेकर [illegible] जीवन का अंग बनाने का प्रयास किया । `राम` और `कृष्ण` -- [illegible] के ही नहीं वरन् समूची [illegible] विकास के महत्वपूर्ण योगदाता रहे हैं । जिन पौराणिक नायकों का अस्तित्व बौद्धिक युग में संकट में पड़ गया था, महाकवियों ने उन्हीं नायकों को जातीय अथवा [illegible] चेतना के [illegible] के रूप में प्रस्तुत किया । [illegible] नायकों के इर्द-गिर्द बने [illegible] सन्दर्भों को इन कवियों की सर्जनात्मक प्रतिभा ने उभारकर अधिक [illegible] और मार्मिक रूप में व्यक्त किया । इन कवियों ने

'राम', 'कृष्ण', 'मनु', 'सीता', 'राधा', 'श्रद्धा', 'एकलव्य', 'चक्रव्यूह', '[illegible]', 'विदुर' आदि शब्दों के [illegible] में परिवर्तन द्वारा उन्हें बासी अर्थ संहिताओं से मुक्त कर युगोचित नए संदर्भ में जोड़ा है। अनुभूत यथार्थ के प्रत्यक्षीकरण में सहायक इन सांस्कृतिक प्रत्ययों को [illegible] ने अपनी अपनी दृष्टि से नूतन कविता के लिए उठाया। कहीं - कहीं व्यंग्य विपर्यय का सहारा लेकर भी मूल्यों के स्तर पर अपनी तिक्त अनुभूतियों और जीवन सत्यों की पारस्परिक विसंगतियों को उभारा गया है। 'अंधायुग' के युयुत्सु के शब्दों में जो 'वर्तमान मूल्य विभ्रम' का प्रतीक है —

व्यास ने कहा
मुझसे
कृष्ण जिधर होंगे
जय भी उधर होगी
जय है यह कृष्ण की
जिसमें मैं वधिक हूँ
[illegible] हूँ
सब की घृणा का पात्र हूँ।

'प्रियप्रवास', 'जयभारत', 'एकलव्य', 'कुरुक्षेत्र', 'अंधायुग' में महाभारतीय प्रतीकों को लिया गया है। 'साकेत' और 'राम की शक्ति पूजा' में रामायण के प्रतीकों को लिया गया है। कृष्ण के चरित्र में वह नमनीयता और स्वच्छन्दता पायी जाती है जिसके कारण उन्हें युगोचित परिवेश में ईप्सित अपेक्षाओं से युक्त तथा [illegible] से विमुक्त किया जा सकता है। जब कि मर्यादावादी राम के चरित्र को, जिसके [illegible] में तुलसी के मानस का महत्वपूर्ण [illegible] है, बँधी हुई सरणियों से खोलना अत्यन्त साहस का काम है। लोकरक्षक 'राम' जिष्णु के अधिष्ठाता हैं तो लोकरंजक कृष्ण सौन्दर्य के। यही कारण है कि सन् १९१४ के प्रियप्रवास में (या उससे भी पहले नवीनचन्द्र सेन द्वारा रचित रैवतक (१८८६), [illegible] (१८९२) प्रभास (१८९६) [illegible] काव्यों तथा १८८६ में रचित बंकिम के कृष्ण चरित्र में) कृष्ण-कथा के पौराणिक सन्दर्भों को युगानुरूप

परीक्षित-प्रतिष्ठित किया गया । राम की कथा को 'साकेत' के रूप में रखते हुए वैष्णव गुप्त जी उन्हें 'देवों के देव' रूप से बचा नहीं पाते । 'संशय की एक रात' के रचयिता ने राम-कथा से सम्पृक्त इस गहरी समस्या को अनुभव किया है -" राम के साथ एक गरिमा का बोध होता है , उसे आधुनिक बोध के साथ संयोजित करना कठिन काम है । कारण है कि एक युग की गरिमा दूसरे युग की भी गरिमा हो, इसकी कोई स्वीकृति नहीं । ऐसी स्थिति में विभिन्न युगीन गरिमाओं को योजित करना खतरे से खाली नहीं । इसके अतिरिक्त विभिन्न मूल्यों बोधों वाले समाज से कोई चरित्र लेकर व एकदम विपरीत मूल्यों,बोधों,मान्यताओं में विभिन्न उद्देश्य के लिए प्रस्तुत करना काफी संकटपूर्ण होता है । लेकिन ऐसा संकट एक रचनाकार का ही हो सकता है । और बिना संकट उठाए किसी के लिए भी केवल रचना ही नहीं, उसकी उपलब्धि भी सम्भव नहीं ।"[1] 'राम की शक्ति पूजा' के रचनाकाल में सर्वप्रथम निराला ने इस संकटपूर्ण चुनौती को स्वीकार किया कि मर्यादा वादी पुरुषोत्तम राम को व कैसे सहज मानवीय बनाया जाए । 'संशय की एक रात' इस दृष्टि से 'राम की शक्ति पूजा' की पूरक है । दोनों रचना में राम की निराशा और अन्ततः युद्ध में प्रवृत्त होने का निश्चय दर्शित है । 'निराला' के राम 'रावण के साथ शक्ति होने के कारण युद्ध उपरत हैं तो 'नरेश मेहता' के राम युद्ध के परिणाम के कारण द्वन्द्व ग्रस्त हैं[2] । नवयुग की मनोवृत्ति और परिस्थिति के अनुरूप राम के पौराणिक प्रतीक को नई भंगिमा दी गई है ।

आधुनिक युगीन महाकाव्यों में वृत्ति वैयक्तिक प्रतीकों के आधारित रूप कथानक रूढ़ि में बिखरे हुए नहीं मिलते । आन्तरिक निष्ठा से कवियों ने पुराण को वर्तमान अनुभव का अंग बनाने के लिए उसके द्वारा वर्तमान को संप्रेषित करने के लिए इन प्रतीकों को लिया है, मात्र कथात्मक या कथा-वर्णन के लिए

1- संशय की एक रात — भूमिका — नरेश मेहता

2- " मैं केवल युद्ध को बचाना चाह रहा हूँ बंधु मानव में श्रेष्ठ जो निराशा है
उसकी भी
हाँ उसकी भी [illegible] चाह रहा हूँ बंधु !

नहीं । इसीलिए इन प्रतीकों के विकास को रचनात्मक वि कास के रूपमें देखा जा सकता है । कामायनी में अप्सरा मनोवृत्तियों की प्रतीक बनकर आयी[1] जिसका पूर्ण प्रतीकार्थ दिनकर ने `उर्वशी` में प्रस्तुत किया है । (प्रियप्रवास) के कृष्ण से (अंधायुग) के कृष्णाख तक आने में हम आधुनिक भारतीय मानस के द्वन्द्वों और संघर्षों का अच्छा परिचय पा लेते हैं । इसी से `हिन्दुस्तान की खोज में नेहरू जी ने पुराण को कपोलकल्पना कह कर त्याज्य घोषित नहीं किया, दूसरी ओर वास्तविक घटना के रूप में भी उन्हें स्वीकार न करते हुए पुराण को प्रतीक कथा के रूप में ही महत्ता दी है ।` हिन्दुस्तान की पुराण-कथाएं कहीं ज्यादा भरी पुरी हैं और बड़ी ही सुन्दर कथाएं भरी हैं[2] ।` इन पुराण कथाओं की अर्थवत्ता को पहचान कर आधुनिक कवियों ने पौराणिक प्रतीकों को आधुनिक बोध और युगीन आवश्यकता से सम्पृक्त किया । वे वाली । स्वप्नमयी पुराण कथाएं नए सन्दर्भ में नवजागरण की उत्स बन गई । नवजागृत भारतीय मेधा ने अपनी अभिव्यक्ति के लिए सशक्त प्रतीकात्मकता का आश्रय लिया क्योंकि प्रतीक हमारी जातीय सांस्कृतिक अभिव्यक्ति के अविभाज्य अंग हैं[3] ।

प्रेरणात्मक मनोविज्ञान (Dynamic Psychology) के विकास के साथ यह मत प्रकाशित हुआ कि पौराणिक गाथाएं निरर्थक नहीं हैं ।

१- वे अशरीरी रूप सुमन से
केवल वर्ण गंध में फूले
इन अप्सरियों की तानों के
मचल रहे हैं सुन्दर झूले । — कामायनी, पृ० २२५ `प्रसाद`

२- हिन्दुस्तान की कहानी , पृ० ८४—जवाहरलाल नेहरू

३- " [illegible] it, seems has to find a symbol in order to express itself. Indeed, 'expression is symbolism".
— Heritage of symbolism. Page 73 by C.M.Bowra.

इन [illegible] आख्यानों में सामूहिक अज्ञात मन की अनेक भाव-तिमाएँ दृष्टिगत होती है । युंग के मतानुसार ये [illegible]एँ गहरे घाट वाली शुष्क नदियों के समान हैं जिनका प्रवाह भले ही दूसरी ओर हो गया हो, परन्तु कभी न कभी प्रवाह का पुनरागमन जरूरी है । इस कथन की सार्थकता को इन महाकाव्यों के संदर्भ में बड़ी सरलता से समझा जा सकता है । नाना अर्थों के द्योतक स्वच्छन्द प्रतीकोंको आन्तरिक सत्य के विभिन्न स्तरों के उद्घाटन का वाहक बनाकर कवियों ने उन्हें नये अर्थ प्रवाह का साधन बनाया है[१]। [illegible] प्रतीकों के प्रयोग में भावों की प्रेषणीयता खंडित होने का भय रहता है जब कि ऐतिहासिक - पौराणिक प्रतीकों के साथ वह खतरा नहीं है । आधुनिक महाकाव्यों में पौराणिक ऐतिहासिक पात्रों के मूल स्वरूप को विकृत न करते हुए उन्हें क्रमश: प्रतीक के रूप में विकसित कर नूतन अर्थ-छायाएँ प्रदान की गयी है । यही कारण है कि 'मेघनाद वध' के 'राम' के समान पात्रों को नूतनता के नाम पर सांस्कृतिक विकृति का सामना नहीं करना पड़ा है । ये पौराणिक पात्र भी निरन्तर विकास की प्रक्रिया में प्रतीक बनते जा रहे हैं [illegible] से आज तक की 'धर्म' से अध्यात्म तक आने वाली सांस्कृतिक-चिन्तना को विकसित करते हैं ।

१- The symbol is both tied and free. It is tied by the artist's power to integrate all elements of meaning in a closely articulated structure —— It is free because it the meaning has not given once for all —— "

Metaphor and Symbol. P. 142, ed. Knights and Cottle

पंचम अध्याय

--0--

की गयी है और स्वकर्तव्य पालनकर्ता को गीता के आलोक में 'गरिमा' दी गई है । महाभारत के अट्ठारहवें दिन की संध्या से प्रभासतीर्थ में यथार्थवादी कृष्ण की मृत्यु के बीच 'वैयक्तिक संवेदन की सीमाओं में बंदी धृतराष्ट्र ,' नयी राह खोजने के प्रयास में टूटते युयुत्सु एवं अर्द्धसत्य के कारण पशु बने अश्वत्थामा आदि चरित्रों की नियोजना कर भारती ने मूल्यों की समस्या को उठाकर 'अन्धा युग' को सार्थकता प्रदान की है ।

इन तीनों महाकाव्यों का कथासूत्र 'युद्ध और शान्ति की समस्या' के चारों ओर केन्द्रित है । जयभारत के ५२ वें सर्ग 'युद्ध' में इस समस्या को उठाया गया है तो कुरुक्षेत्र का प्रारम्भ ही महाभारत के साथ होता है और भीष्म उसको शान्त करने के लिए यथा सामर्थ्य समाधान देते हैं । अंधायुग में युद्धोपरान्त जन्मे युग की मनोवृत्तियों,मनःस्थितियों और बिखराव में उलझे मानवीय मूल्यों को लेकर जयभारत से अलग धारा को विकसित किया गया है । इस दृष्टि से 'युद्ध और शान्ति' से सम्बद्ध चिन्तन को लेकर चलने वाले ये काव्य भारतीय संस्कृति के विकास और गति को घोषित करते हैं । महाभारत से कथावस्तु लेने का कारण यही है कि भारतीय संस्कृति के गौरवशाली अतीत को छोड़कर हम वर्तमान को पूरी तरह नहीं जान सकते क्योंकि पुरातन इतिहास या परम्परा वर्तमान में मिलकर उसकी सुख-दुःखात्मक संवेदना की जीवित वास्तविकता बन जाती है । इसी दृष्टि को लेकर पंडित नेहरू जैसे बौद्धिक व्यक्ति ने भारत की खोज अतीत से प्रारम्भ की, क्योंकि उसकी जड़ें वर्तमान में गड़ी हैं ।[१]

युद्धोपरान्त आज के जीवन-वैषम्य को महाभारत के पात्रों के अन्तर्द्वन्द्व आत्मग्लानि के बीच से देखते हुए 'युद्ध और शान्ति' के सनातन प्रश्न को आधुनिक रचनाकार ने अपनी विचारणा का केन्द्रिय तत्व बनाया है । राज्य को निस्सार समझ कर 'रामायण' के भाई परस्पर एक दूसरे को दे देने को लालायित हैं तो महाभारत में पांच गांव मांगने वाले पाण्डवों को,एक सुई की नोक के बराबर भूमि न देने वाले कुरु वंश में परस्पर 'कुलघातक' छिड़ गया । रामायण की आदर्शवादिता

१ Discovery of India. Page 11. Pt. Nehru.

महाभारत में यथार्थ के संस्पर्श में आकर इतनी तीखी हो गयी है । महाभारत का युद्ध एक ऐसी पारिवारिक लड़ाई थी जिसने सारे भारत को महानाश में चपेट लिया[1]। 'पुरस्कार' नामक कविता में टैगोर ने कहा है कि एक ही पेड़ की दो टहनियों के पारस्परिक घर्षण के कारण समस्त वन दावाग्नि में भस्म हो गया ।

आदिम युद्धों से आज का सभ्य मानव पीछा नहीं छुड़ा पाया है । पशु-मनोवृत्ति के तीनों रूप,सहयोग अनुकरण और युद्धप्रियता आज भी मानव में जीवित है । युद्ध और घृणा से आकुल -अशांत धरा पर प्रभु करुणा और प्रेम के कितने मसीहे भेजता रहा है, परन्तु समस्या आज तक सत्य,अर्द्ध सत्य और असत्य के बीच उलझी हुई है । कवि प्रश्न करता है कि प्रकाश को बुझाने वाले वायु को विषाक्त करने वालों को क्या प्रभु क्षमा कर प्यार करता है[2]? प्रभु यदि उन्हें क्षमा प्रदान करते हैं तो उनका प्रतिकार कर युद्ध की [illegible] का प्रश्न ही नहीं उठता । गीता में दुष्टों के दहन और साधुजनों के रक्षण को कृष्ण अपने अवतरण का मूल घोषित करते हैं । उस दृष्टि से संसार में जब तक 'सद-असद', न्याय-अन्याय',साधुता-दुष्टता का द्वन्द्व है तब तक युद्ध और शान्ति की समस्या सनातन बनी रहेगी । विश्व के अनेक विचारकों ने इस समस्या को सुलझाने का प्रयास किया ,राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय समुदायों, संस्थाओं का जन्म हुआ किन्तु दो महायुद्धों से शान्ति तक जाने वाली मानवता के सामने युद्ध की समस्या और भी प्रखर हो उठी है ।

'जयभारत' में युद्ध मात्र एक विवरण के रूप में कहा गया है ।(ईलियट के अनुसार सत्य को सम्प्रेषित किया जा सकता है, कहा नहीं)'कुरुक्षेत्र' में यह एक समस्या है तो 'अंधायुग' में समस्याजन्य उलझाव का विस्तार और किसी [illegible]

1- केवल इसे कुरु वंश का ही नाश कहना भूल है ।
केशव, हुआ इस युद्ध में यह देश नष्ट समूल है ।। --जयभारत,पृ० ४१८

2- याहारा तोमार विषाइछे वायु निभाइछे तव आलो ।
तुमि कि तादेर क्षमा करियाछ तुमि कि बेसेछ भालो ।
--रवीन्द्र, सञ्चयिता,पृ०२३६

तक पहुंचने की खोज पायी जाती है । यह `कहने` की अपेक्षा,`कौरव पाण्डवों के बीच महासंहारक युद्ध हुआ जिसने कुरु-धरा पर रक्त धारा बहा दी`— युद्ध के मूल में क्या कारण थे, उनको किन परिस्थितियों के बीच ज्वलनशीलता मिली तथा इस भीषण नरसंहार से बचने का क्या उपाय हो सकता है, अधिक महत्वपूर्ण है । `अंधायुग` में ये नयी कविता की मूल्यपरक विवेचना और तटस्थ निरपेक्षता को लेकर युद्धोपरान्त जन्मे `अपेक्षा` की मनोवृत्तियों,ग्रंथियों और समस्याओं पर तीव्र और गहरी दृष्टि से विचार किया गया है । इस दृष्टि से ये काव्य विचारात्मक-काव्यों की शृंखला का निर्माण करते हैं ।

युद्ध मानवीय सभ्यता और संस्कृति के सामने एक बड़ा प्रश्नचिह्न रहा है । युद्ध इसलिए नहीं हटाया जा सकता क्योंकि मनुष्य की जैवकीय प्रवृत्ति के मूल में असहनशीलता,संघर्ष, प्रतिकार और वैमनस्य निहित है[1] । मनुष्य युद्धों के इतिहास को समाप्त करने में असफल रहा है, क्योंकि सचेतन रूप में वह भले ही प्रेम,दया और सहनशीलता का उपदेश देता हो परन्तु अचेतनावस्था में ईर्ष्या,हत्या आदि वृत्तियों से परिचालित होता है । मूल संस्कृत महाभारत में जब द्रौपदी को पासे पर लगाया जाता है तो धृतराष्ट्र मन ही मन दुर्योधन की जय की कामना करते हैं । गांधारी स्वयं स्वीकार करती है कि उसकी ईर्ष्या ही दुर्योधन में फली[2] और धृतराष्ट्र के अंधमोह ने `कुरुक्षेत्र` को जन्म दिया। युद्ध समाज के विकास का प्रमुख तत्व तथा आवश्यक [illegible] पोषक भी माना जाता है[3] । युधिष्ठिर को भीष्म प्रभंजन का उदाहरण देकर समझाते हैं कि रुग्ण [illegible] को गिराने वाले प्रभंजन के बीच दृढ़ता और शक्ति सम्पन्न महीरुह खड़ा रहता है, उसे फेंककर अपनी स्थिति को और सुदृढ़ बनाता है । जब [illegible] कीट का रूप धारण कर उसके अन्दर घर कर

१- [illegible] कोई न [illegible]
[illegible] निज सौना ।
किंतु अपर [illegible] है सम्मुख
[illegible] है मम सौना ।। —कुरुक्षेत्र,पृ०३३

२- अन्धायुग

३- [illegible] A Social Psychology of War and Peace by Mark.A.May.

लेता है तब वह तूफान के नाम से ही आतंकित हो उठता है[1]। अन्याय से शोषण कर शान्ति के उपदेशकों द्वारा उत्पन्न सामाजिक विशृंखलता को दूर करने के लिए भी युद्ध अनिवार्य होता है।

अंधायुग में महाविनाशकारी युद्ध को पारस्परिक स्वार्थों से परिचालित कहा गया है। कुरुक्षेत्र में युद्ध की विभीषिका का विस्तृत वर्णन कर मानव को शान्ति की स्थापना के लिए प्रयत्नशील होने के लिए प्रवृत्त किया गया है। अंधायुग में जीर्ण आधारशिलाओं, हिलते हुए मूल्यों की यथार्थ भूमि पर युद्ध के उपरान्त जन्मी कुंठाओं, ग्रंथियों और समस्याओं पर सूक्ष्म विचार किया गया है। आज विज्ञान के सहारे विश्व ने बहुत कुछ प्राप्त किया है और मानव-प्रेम की [illegible] की है किन्तु इस सब के मूल में घृणा और ईर्ष्या है न कि वे गुण जो मानवता की विधायिनी शक्ति है। युद्ध, मानवता का विघातक तत्व है। विनाश और मृत्यु ही नहीं संदेह, घृणा, कुंठा अस्तित्वहीनता, [illegible], कायरता, आत्महीनता आदि को मानव-स्वभाव का अंग हमी बना देता है। युद्ध के अर्धसत्यों ने ही अश्वत्थामा के प्रेम और कोमल का विनाश कर उसे बर्बर पशु मात्र बना दिया। भारती ने गहरी सहानुभूति से उसके चरित्र को उभार कर युद्ध के भीषण प्रभाव के मानसिक इतिहास को दिखाया है। भयंकर प्रतिहिंसा, घृणा से परिचालित अश्वत्थामा, युद्ध संस्कृति की विभीषिका को अन्यत्र गहरे रंगों से उभारता है[2]--

१- जब कि अन्दर [illegible] कीट सा
है सतत घर कर रहा आराम से
क्यों न जीवन का कुटुम्ब [illegible] अश्वत्थ यह
उखड़े तूफान ही के नाम से। — तार सप्तक, पृ०१४

"War is the negation of truth and humanity. War may be unavoidable sometimes but its progeny are terrible to contemplate. Not mere killing for man must die, but the deliberate and persistent propaganda of hatred and falsehood, which gradually become the normal habits of the people. It is [illegible] and harmful to be guided in our life's course for hatreds and aversions, for they are wasteful of energy and limit and twist the mind and prevent it from perceiving the truth. - Discovery of India, Page. [illegible], by Pt. J.L.Nehru.

मैं क्या करूंगा
हाय मैं क्या करूंगा ?
वर्तमान में जिसके
मैं हूं और मेरी प्रतिहिंसा है ।
एक अर्द्धसत्य ने युधिष्ठिर के
मेरे भविष्य की हत्या कर डाली है ।

युद्धजन्य हिंसा,प्रतिरोध, घृणा ने मानवता के विकास को रोका है ,जिसका स्पष्ट अनुविवेचन अंधायुग में मिलता है ।

वैज्ञानिक आविष्कारों का मूल ध्येय मानवीय सुविधा और सुरक्षा था किन्तु जिस लाठी को सहारा बनना था, वह सिर फोड़ने का माध्यम बन गई । विज्ञान एक दुधारी तलवार है जो स्वामी के अंगों को भी काट सकती है । आज के स्वार्थबद्ध मानव के हाथ से विज्ञान के फूल भी शूल होकर छूट रहे हैं[१]। जिस अग्नि को अंधेरा दूर करता था,वह वनस्पतियों को जलाकर क्षार कर रही है । व्यास अणु और परमाणु वाली सभ्यता को ब्रह्मास्त्रों का प्रयोग न करने को कहते हैं , नहीं तो पृथिवी पर सदियों तक रसमय वनस्पति नहीं होगी,विकलांग कुष्टग्रस्त शिशु पैदा होंगे, सारी मनुष्य जाति बौनी हो जाएगी --

जो कुछ भी ज्ञान संचित किया है मनुष्य ने
सतयुग में,त्रेता में ,द्वापर में
सदा सदा के लिए होगा विलीन वह
गेहूं कि बालों में सर्प [illegible] ।
नदियों में बहकर आएगी पिघली आग
.... सूरज बुझ जाएगा
धरा बंजर हो जाएगी ।[२]

१- [illegible],पृ० ६२-६३
२- अंधायुग,पृ० ६६

युद्ध में सर्वप्रथम सत्य पर ही आघात होता है, जिसमें दोनों पक्ष योगदान देते हैं और अन्त में एक कंकाल मात्र उनके हिस्से में आता है । कला, विज्ञान, और धर्म के मूर्तिमान आधार जनों को रण की भेंट चढ़ाकर धरा श्रीहीन हो जाती है । विभव, तेज, सौन्दर्य सब दुर्योधन के साथ समाप्त हो गए, युधिष्ठिर को मृतों के स्मृतिदंशन का शाप, जीवितों के मन का अभिशाप, एक कंकाल रूप में मिला है[1] । जिसे देखकर गांधारी कृष्ण को शाप देती है कि उनका कुल आपस में लड़कर समाप्त हो जाए[2] । युद्धजन्य पाप का ही परिणाम यह शाप है --

> अघ की ऐसी ही रीति, वह अपनों को मारता ।
> क्या नहीं निम्नगा-नीर निज तट-तरु-मूल विदारता ।[3]

इन तीनों रचनाओं की मानवतावाद में गहरी संसक्ति है । 'जयभारत' में 'जयतिभारत' की घोषणा है तो 'कुरुक्षेत्र' में तिमिर प्रदेश से रश्मिलोक में जाने में समर्थ 'पापी' की महत्ता है । 'अंधायुग' में सूने गलियारे सा जीवन बिताने वाले प्रहरियों, अपनी निरपेक्षता के कारण टूटते संजय तथा गांधारी आदि अन्तर्मुखी पात्रों तथा अंधकार से उत्पन्न हो ज्योतिवृत्त में रहने के प्रयास में आत्मघात करने वाले युयुत्सु और प्रतिहिंसा से निशा-समर रचाने वाले [illegible] को [illegible] प्रवृत्तियों के सापेक्ष में सार्थकता प्रदान की गयी है । कुरुक्षेत्र में भीष्म पितामह के ब्रह्मचर्य के कारण जन्मे स्नेह और धर्म के द्वन्द्व को कुरुक्षेत्र का मूल बिन्दु बनाकर प्रवृत्ति और सामाजिकता पर बल दिया गया है[4] । गुप्त जी के काव्य का मूल बिन्दु 'गेह गौरव' है । अतः उन्होंने पारिवारिक संग्राम में स्वार्थों की टकराहट के बीच

१- कुरुक्षेत्र, पृ० [illegible]

२- अंधायुग, पृ० ६६

३- जयभारत, पृ० ३२१

४- द्रष्टव्य गीतारहस्य, पृ० ३३-३४ — तिलक

ही महायुद्ध के मूल सूत्र खोजे हैं । दिनकर ने वैयक्तिता को समाज से जोड़ा है, तो भारती ने विश्व मानव को लेकर ब्रह्मास्त्रों के पुराने वेदों की कथा को ज्योति-वृत्त तक ले जाने की आकुल तत्परता मूल्यान्वेषण के स्तर पर दिखलायी है । विकास [illegible] का दृष्टि से प्रत्येक रचना अपने-अपने स्थान पर मौलिक चिन्तन की स्पृहा से युक्त होने के कारण गौरव की अधिकारी है ।

पुनर्जागरण-काल में मध्यकालीन रुग्ण दृष्टि से ध्वस्त-जीर्ण शाश्वत आदर्शों की, युगानुकूलता को पहचान कर, पुनर्स्थापन की गयी है । तिलक ने अपने गीताभाष्य में क्षमा, दया, अहिंसा आदि जीवन-मूल्यों की सीमा निर्धारित की ताकि कोरा आदर्शवाद जीवन के यथार्थवादी स्वरूप की पराजय का कारण न बन जाए । प्रेम की शक्ति ही तलवार से अधिक मानने वाले भारत में प्रत्येक समस्या को यथासम्भव शांतिप्रियता से सुलझाने का प्रयत्न किया जाता रहा है । शांतिसंदेश देने वाले कृष्ण भी जब अपने प्रयत्नों में असफल हो जाते हैं और अपर पक्ष उनको विनय को दुर्बलता मान लेता है उस स्थिति में शस्त्र को उठाना अनिवार्य हो गया । 'जयभारत' में शस्त्राहत का शस्त्र से उपचार' की नीति से अनभिज्ञ युधिष्ठिर की ग्लानि को लेकर खोकर शस्त्र-प्रयोग की सार्थकता और औचित्य सिद्ध किया गया है । खोई हुई जातीयता को आधार बनाकर गुप्त जी ने राष्ट्र को 'समस्याएं विचारने' के लिए [illegible] के लिए प्रेरित किया । उनकी जातीयता संकीर्ण न होकर राष्ट्रीयता की उद्बोधक है दिनकर ओज और आवेग के कवि हैं जिन्होंने विचारात्मक भूमि पर 'कुरुक्षेत्र' का निर्माण किया है । उनकी राष्ट्रीयता, मानवता तथा विश्वबंधुत्व की प्रथम सीढ़ी है । राष्ट्रीय होकर ही अन्तर्राष्ट्रीय हुआ जा सकता है[1] ।
'रश्मिरथी' पराधीन भारत के क्रोध की कविता है जिसमें प्रतिशोध का विस्फोट और गहन रा[illegible] स्तर पर फैले द्वन्द्वों का आख्यान है । 'भारती'

ने वर्तमान युद्ध संस्कृति को अपना रचना का केन्द्रय बिन्दु बनाकर राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तरों को एकाकार कर दिया है ।

यथार्थवादी महाभारत में मानव-प्रकृति के नाना रूपों को दिखाया गया है । एक ओर मानवीय गौरव और पूर्णता का चरमोत्कर्ष है तो उसके साथ ही ईर्ष्या, द्वेष, प्रतिहिंसा आदि मूल मनोवृत्तियों की पाशविकता भी है । वर्तमान युग की दो प्रमुख विशेषताएं हैं -- मानवतावाद और वैज्ञानिक दृष्टि । `जयभारत` के कवि पर इस आधुनिकता का प्रभाव पड़ा । वैज्ञानिक बौद्धिक दृष्टि से अनेक घटनाओं की असंगतियों को दूर किया जैसे युधिष्ठिर का अर्धसत्य, कर्ण का द्रौपदी के प्रति अनाचार, पंचपत्नीत्व और चीरहरण । उन्होंने दु:शासन जैसे अधम कहे जाने वाले पात्र में मातृभक्ति की उज्ज्वल आभा लाने का प्रयत्न किया है । `कुरुक्षेत्र` में दिनकर ने भीष्म और युधिष्ठिर केवल दो पात्रों को छुआ है और उन्हें सम्पूर्ण दुर्बलता और महत्ता के बीच उपस्थित किया है । किसी पक्ष विशेष की ओर कवि का आग्रह नहीं है । पितामह भीष्म के जीवन दर्शन की सीमाएं उन्हीं के शब्दों में कही गयी हैं । कायर युधिष्ठिर की कातरता की भी भर्त्सना की गयी है । `अंधायुग` में महाभारत के सूत्राधार कृष्ण के चरित्र को [illegible] भूमिका पर रख कर देखा है । एक ओर वे मूल्यों की समग्रता का रूप `प्रभु` हैं और युगचेतना के प्रतिनिधि हैं, तो दूसरी ओर युद्ध नियमों का उल्लंघन कर भीम को दुर्योधन के वध के लिए प्रोत्साहित करते हैं । नेपथ्य से बलराम कृष्ण को कहते हैं --

जानता हूँ तुमको शैशव से

रहे हो सदा से मर्यादाहीन कूटबुद्धि

गांधारी भी आक्रोश में कहती है कि यदि कृष्ण चाहते तो युद्ध रुक सकता था पर चूंकि उन्होंने अपनी `प्रभुता` का [illegible] प्रयोग किया अत: वह उन्हें शाप देती है । अश्वत्थामा की पशुता के प्रति करुणा हमारे मन का क्रुद्ध अमर्ष धुल जाता है । वर्तमान राजनैतिक सामाजिक संघर्ष के बीच भिन्न-भिन्न मूल्यों को एकत्र करने के लिए `महाभारत` को माध्यम बनाकर इन तीनों [illegible] काव्यों में मानव स्वभाव और उसकी

प्रकृति को उसकी सरलता और निर्बलता के बीच पहचाना गया है[1]।

जयभारत में 'अंधायुग' केवल पापी सभा का द्योतक शब्द माना था[2] परन्तु 'अंधा युग' में आकर यह एक भावचित्र बन गया है। उसके साथ न केवल धृतराष्ट्र द्वारा शासित द्वापर का चित्र आता है अपितु इस शब्द के उच्चारण के साथ ही वैज्ञानिक आविष्कारों और उपलब्धियों के महाप्रकाश में स्वार्थ, भय, अनास्था, खोखलेपन और निरपेक्ष जड़ता की सीमाओं में घिरे अंधकार के सागर में भटकती सभ्य मानवता का चित्र सामने आता है जो किसी अमंगल अंधियारे पद चाप से आक्रांत है। इतिवृत्तात्मक काव्य 'जयभारत' में कृष्ण एक पौराणिक ऐतिहासिक चरित्र मात्र है, जो सर्वात्मवाद का प्रतिपादन करते हैं, तो अंधायुग में कृष्ण मूल्यों की विराट समग्रता है, व्यापक युगचेतना है जो आस्था, अनास्था, पाप-पुण्य सभी को ग्रहण करती है। 'जयभारत' के 'युद्ध' से कुरुक्षेत्र में कौरव पाण्डवों के बीच हुए महासमर का भाव व्यक्त होता है तो 'कुरुक्षेत्र' में दूसरे विश्वयुद्ध से त्रस्त-ध्वस्त मानवता के सामने न्याय और समता के हेतु महासंघर्ष की भावना निहित है। धर्मवीर भारती ने 'युद्ध' शब्द में महाभारतीय मानसिक विकल्प (द्वापर के संशय अनास्था के बीच कृष्ण द्वारा जीवन्त प्रेरणा और युयुत्सुता को प्रोत्साहन) को एक साथ प्रतिफलित किया है। शब्दों के बीच अर्थों के संदर्भों के नवीन सन्निवेश से अर्थों के विकल्प और विस्तार की जययात्रा का परिचय, इन महाकाव्यों के क्रमिक अन्वेषण से प्राप्त होता है।

---

१. In the Mahabharata we encounter man with his multi-faceted nature in his basic raw emotions of arrogance, greed and lust as well as in his full glory and perfection of self discipline, knowledge and compassion. Ages have passed, many empires, dynasties and peoples have risen and fallen and in India but across the centuries the great epic has been a perennial source of practical wisdom and popular ideals for the Indian peoples, imparting in to very social crisis or individual misfortune new meaning, new values and inspirations. - The Culture and art of India. Page 72. Radhakamal Mukerjee.

एक ही कथावस्तु को लेकर चलने वाले इन महाकाव्यों में पुनर्जागरण से लेकर आज तक की भारतीय संस्कृति के बीच विकसित भावभूमि का निदर्शन है। बदलते हुए जीवनदर्शन के बीच मानवतावाद की स्थापना, विघटित [illegible] के बीच सामंजस्य का प्रयास तथा मध्ययुगीन रुग्णता से ध्वस्त पारिभाषिक शब्दों में अर्थविस्तार का प्रयास, इन सभी का मूलबिन्दु है। 'जयभारत' में प्रजातंत्र की भर्त्सना की गयी है मताधिकारों और मतसंग्रह को व्यर्थ ठहराया गया है[1] तो कुरुक्षेत्र में राजतंत्र की कटु आलोचना कर साम्यवादी समाज की स्थापना का स्वप्न देखा गया है जहां राजतंत्रीय शोषण अनाचार से छुटकारा पाया जा सके[2]। अंधायुग में राजतंत्र के केवल बाह्य अत्याचारों को ही नहीं लिया गया है अपितु उसके जकड़ाव में रुद्ध मानवीय व्यक्तित्व की असंगतियों को दिखलाया गया है[3]। युद्ध की समस्या को सुलझाने की ओर रुझान तीनों में है। 'जयभारत' में 'कुरुक्षेत्र' के महासमर के कारण संजय, अश्वत्थामा और [illegible] की दासवृत्ति, कायरता को लेकर 'अंधायुग' उतरा है जो सृजनात्मक क्षमता के उत्तरोत्तर विकास और विवेक बुद्धि को चरम उद्देश्य के लिए प्रस्तुत करता है।

१- जयभारत, पृ० ३१७

२- श्रेय होगा मनुज का समता विधायक ज्ञान
स्नेह-सिंचित न्याय पर नव विश्व का निर्माण
— कुरुक्षेत्र, पृ० ६५

३- अंधायुग, पृ० १२-१३

षष्ठ अध्याय

—0—

निष्कर्ष

-0-

पश्चिमी सभ्यता, संस्कृति और शिक्षा की चुनौती को हमने उन्नीसवीं शताब्दी के 'पुनर्जागरण' के रूप में स्वीकारा जिसके पुरस्कर्ता राजा राममोहनराय, केशवचन्द्र सेन, स्वामी दयानन्द, स्वामी विवेकानन्द, तिलक, टैगोर, गांधी आदि मनीषी रहे हैं। इस पुनर्जागरण ने भारतीय संस्कृति को नया मोड़ दिया। साहित्य और विशेषत: [illegible] काव्य में इस पुनर्जागरण निर्मित [illegible] रूढ़ियों और कुरीतियों से मुक्त संस्कृति का रूप मिलता है। यह रूप केवल प्रतिच्छाया मात्र नहीं है, पुनर्जागरण को महत्वपूर्ण क्षेत्रों में सशक्त भी बनाता है।

नवजागरण पहले समाज सुधार के रूप में सामने आया। बंगाल में 'ब्रह्म समाज' तथा मध्यदेश में 'आर्य समाज' ने सामाजिक कुरीतियों का विरोध किया। सती प्रथा, बाल विवाह, अछूत और नारी की अशिक्षा आदि समस्याओं को सुधारने का काफी श्रेय इन दोनों संस्थाओं को जाता है। प्रियप्रवास(१९१४) का कवि आर्य समाज से काफी प्रभावित रहा है। फलत: प्रियप्रवास में अवतारी कृष्ण को 'महापुरुष' के रूप में चित्रित किया गया है जो जातिवीर, कर्मवीर, समाजसुधारक और राष्ट्रीयता की भावना से परिपूर्ण है। राधा भी [illegible] के रूप में सामने आती है। आर्य समाज की खण्डन-[illegible] प्रवृत्ति, [illegible], बौद्धिकता को लेकर 'हरिऔध' जी ने अति प्राकृत [illegible] और [illegible] बनाने की चेष्टा की है। पौराणिकता की [illegible] और [illegible] घटनाओं को लेकर [illegible]

हिन्दू धर्म की हंसी उड़ाया करती थीं । अत: गोवर्द्धन धारण जैसी [illegible] को लौकिक स्वरूप देने की जागृति `हरिऔध` में भी पाई जाती है । `प्रियप्रवास` में परम्परागत नवधा-भक्ति को नया रूप दिया गया है । उस काल का कवि शिक्षक और समाज सुधारक भी था[1] । हरिऔध का उपदेष्टा, सुधारवादी, तार्किक रूप `मा-[illegible]वाद` की स्थापना का महत्वपूर्ण प्रयास करता हुआ मानव प्रेम, जन्मभूमि से ममत्व, राष्ट्रीयता, जातीयता का आदर्श रूप `राधा` , `कृष्ण` के चरित्रों के रूपमें प्रस्तुत करता है । [illegible]ण की भावना हिन्दी काव्य में पहली बार `प्रियप्रवास` के माध्यम से [illegible]ति[illegible]ष्ठत होती है ।

पुनर्जागरण में एक प्रवृत्ति अत्यन्त बलवती रही है, वह है भारतीय धर्म और दर्शन के [illegible] तत्वों को वेद विरोधी कह कर त्याज्य ठहराना । [illegible] राय, द्विजेन्द्रनाथ ठाकुर, और स्वामी [illegible]यानन्द में यह भावना हमें देखने को मिलती है । जन-[illegible]मान्य स्मृति और [illegible]राणों के रूप में विकसित जन-संस्कृति से बंधा था । हिन्दू [illegible]त्थानवादियों ने वेदों के साथ स्मृति और पुराणों के सीमित अंश को भी ग्रहण किया । साहित्यिक क्षेत्र में सर्वप्रथम बंकिमचन्द्र में हमें इस प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं । आधुनिक हिन्दी [illegible]कवियों में [illegible] गुप्त का व्यक्तित्व ठेठ भारतीय रहा है । उनके साहित्य में जन-मानस के संस्कार, तौर-तरीके, [illegible]चार तथा जीवन पद्धति पायी जाती है । परिवार के कवि गुप्त जी का साहित्य इस कारण से घटिया नहीं कहा जा सकता कि उसमें वेदान्त की दुहाई नहीं दी गई है । उसकी महत्ता इस बात में है कि पश्चिमी [illegible] की तरफ भागते या कि वैदिक संस्कृति की ओर उन्मुख होते लोगों के सामने उन्होंने [illegible] जन-संस्कृति का सुन्दर रूप सामने रखा । [illegible]विधा

में ही नैतिक आदर्शों का निरूपण हुआ है । पर विधि-निषेधों के जाल में फँसा होने के कारण वह वर्तमान का अंग बन पाने में समर्थ नहीं था । गुप्त जी ने उसका शोध करके भारतीय नैतिकता का जीवंत आख्यान सामने रखा । गुप्त जी की प्रबल रचना-शक्ति और लोकप्रियता का प्रमाण उनके द्वारा अंकित और समर्थित यही जनसंस्कृति का 'देसीपन' है ।

स्वामी रामकृष्ण के शिष्य विवेकानन्द के व्यक्तित्व में रामानुज और शंकराचार्य का अद्भुत मेल था । उन्होंने आर्य समाज की वैदिक दृष्टि, हिन्दू [illegible]-वादियों की भक्ति और आस्तिकता को [illegible] के अद्वैत वेदान्त से मिलाकर 'नव्य वेदान्त' का प्रवर्तन किया जिसके सामने पश्चिम आश्चर्य विमुग्ध हो गया । विवेकानन्द [illegible] अद्भुत कर्मठ व्यक्ति थे । शक्ति, कर्म, स्वतंत्र चिन्तन पर बल देकर उन्होंने मध्यकाल से सोई हिन्दू जनता को [illegible] फिर से पौरुष और शक्ति दी[1] । बंगाल की मिट्टी में पले 'निराला' औपनिषदिक भावभूमि और शक्ति - उपासना से प्रभावित हैं तो 'प्रसाद' औपनिषदिक आनन्दवाद के साथ [illegible]त्यभिज्ञादर्शन को 'समरस' करते हुए 'कामायनी' की रचना करते हैं । पश्चिमी संघात एवं टकराहट से भारतीय व्यक्तित्व में जो नवीन चेतना उत्पन्न हुई उसका रूप 'राम की शक्ति पूजा' में 'शक्ति की करो मौलिक कल्पना' तथा 'तुलसीदास' में '[illegible]-वीणा के स्वर के [illegible]र, रे जागो' के रूप में पाया जाता है । पूर्व और पश्चिम के रचनात्मक स्तर पर अन्तःसंघर्ष का रूप 'कामायनी' में मिलता है, जिसमें वर्तमान सांस्कृतिक मिश्रणों के प्रति गहरी चिन्ता है । श्रद्धा के रूप में प्रसाद ने '[illegible] [illegible]नता हो आर' का संदेश दिया है ।

भारत में अनेक धर्म, [illegible] और मत मतान्तर हैं, परन्तु सभी की दार्शनिक [illegible] वेदान्त है । वेदान्त का [illegible] रूप तीन प्रामाणिक ग्रन्थों में मिलता है—

---

1. " There is a tendency in us to revert to old ideas in religion. Let us think something new, even it be wrong. It is better to do that." - Complete Works of Swami Vivekanand. Part IV 124.

2. [illegible] new and higher things till we die - [illegible] is the end of human life." - Part V.P. 410.

ब्रह्मसूत्र,उपनिषद् और गीता । प्रस्थानत्रयी ग्रन्थों में महत्वपूर्ण गीता न केवल धर्मग्रन्थ के रूप में मान्य है, अपितु उसमें हर युग में कुछ ऐसी नयी चेतना मिलती रही है जो प्रगति के मेल में रही है । गीता साम्प्रदायिक नहीं है --" सभी रास्ते मुझ तक आते हैं ।" यह संकटकाल में लिखी गई कविता है जो राजनैतिक,सामाजिक और आत्मिक संकट में काम आती है ।" संकट के समय , जब कि आदमी का दिमाग संदेह से सताया होता है, और अपने फर्ज़ के बारे में दुविधा उसे दो तरफ खींचती है, वह संकट और रहनुमाई के लिए गीता की तरफ झुकता है[१] । शंकराचार्य,रामानुज और फिर पुनर्जागरण युग के गांधी, तिलक, अरविन्द,राधाकृष्णन सभी ने गीता को अपने अपने ढंग से व्याख्यायित किया ।

इन समस्त भाष्यों में तिलक का" गीता रहस्य" अद्वितीय है । दिनकर का यह विश्वास है कि गीता एक बार महाभारत में कृष्ण के मुँह से कही गयी या फिर नवजागरण में "तिलक" द्वारा जिन्होंने गीता पर छाए निवृत्ति के कोहरे को दूर किया "प्रियप्रवास" से लेकर "अंधायुग" तक के सभी काव्य मानो तिलक के इस "गीता रहस्य" से अनुप्राणित हैं । हमारे वर्तमान जीवनदर्शन,नीतिबोध और सामाजिक राजनैतिक संघटन को इस ग्रन्थ ने जितना प्रभावित किया उतना किसी अन्य ग्रन्थ और दर्शन ने नहीं । "प्रियप्रवास" में गीता की कर्मठता,"साकेत" में फलासक्ति शून्यता," एकलव्य" में वर्ण व्यवस्था, लोकसंग्रह,"कामायनी" में प्रवृत्ति, गार्हस्थ्य,"कुरुक्षेत्र" में स्थितप्रज्ञ का आदर्श,"[illegible]" में पौरुष , तेज,गति और "उर्वशी" में अनासक्त-योग,प्रवृत्ति तथा "अंधायुग" में सर्वात्मवाद के भाव को लिया गया है । और यही समकालीन भारतीय संस्कृति का स्वरूप है, जो आधुनिक हिन्दी काव्य में पूरी शक्ति के साथ अभिव्यक्त हुआ है ।

"जब जब धर्म की हानि होती है..." मानने वाली गीता" सुधार" और "संस्कार" के प्रति जागरूक है । उन्नीसवीं [illegible] के [illegible]जागरण में मध्यकालीन [illegible] को [illegible] करने में गीता की शक्ति ने एक बार फिर सहयोग दिया ।

१- [illegible] की कहानी, पृ० १३३
— पं० [illegible]

गीता का सबसे बड़ा संदेश `फलासक्ति शून्य होकर , निष्काम कर्मयोगी अर्जुन तुम सत्य और न्याय के लिए युद्ध करो` इतप्राय: भारतीय चेतना के लिए स्वतन्त्रता का मूल मंत्र बन गया । समाज में फैली जाति प्रथा की कुरीतियों को दूर करने के लिए गीता की `वर्णव्यवस्था` उद्धृत की जाने लगी जो कर्म पर आधारित है, जाति पर नहीं । इस प्रकार गीता आधुनिक भारत की सामाजिक,नैतिक,राजनैतिक चेतना का आधार बनी । हिन्दी के आधुनिक महाकाव्यों के अनेकश: उद्धरणों को गीता के श्लोकों के साथ मिलाकर देखने में अद्भुत साधर्म्य प्रतीत होता है ।`कुरुक्षेत्र` के भीष्म पितामह तो जैसे गीता के तत्वों से ही बने हैं । यहां तक कि `उर्वशी` में भोग का सिद्धान्त भी अनासक्ति की भूमिका पर है, और `अंधायुग` में युग चेतना के रूप कृष्ण गीता के सर्वात्मवाद पर ही अधिष्ठित है ।

जैसे पुनर्जागरण का प्रकट उत्साही रूप `प्रियप्रवास` `साकेत` `कामायनी` आदि हिन्दी के आरम्भिक युग की प्रारम्भिक रचनाओं में मिलता है वैसे ही वर्तमान `अवरुद्ध पुनर्जागरण` की व्यंजना हमें भारती के `अंधायुग` में मिलती है । पर अवरोध से मुक्ति का मार्ग भी रचना में संकेतित है --

`मर्यादायुक्त आचरण में
नित नूतन सृजन में
निर्भयता के
साहस के
ममता के
रस के
क्षण में
जीवित और सक्रिय हो उठूंगा मैं बार बार ।`

"The Gita has thus become the scripture of the new age, the main foundation on which its ethics, its social doctrines and even its political action depends" - Foundations of New India, Page 48. K.M.Panikkar.

ग्रन्थानुक्रमणिका

-0-

(१) संस्कृत

(क) धर्म और दर्शन

उपनिषद् --छान्दोग्य उपनिषद्, तैत्तिरीयोपनिषद्,ईश उपनिषद्, कठोपनिषद् ।

ऋग्वेद -- बम्बई शक १८२३ एवं पूना १८५८

पर्वीभाष्य --पाणिनी आफिस

शिवशक्तिम्न स्तोत्र -- [illegible] प्रेस

मनुस्मृति -- नवलकिशोर प्रेस

महाभारत

चाणक्य प्रणीत सूत्र

श्रीमद्भागवत -- गीता प्रेस ,गोरखपुर

(ख) काव्य

कालिदास -- कुमारसम्भव, रघुवंश, अभिज्ञानशाकुन्तल(निर्णय सागर प्रेस)

भवभूति -- उत्तर रामचरित (विद्या वि [illegible] प्रेस)

(२) पालि

धम्मपद -- महाबोधि सभा, १९९५

(३) हिन्दी

लेखक [illegible]

[illegible] हरिऔध प्रियप्रवास,हिन्दी साहित्य कुटीर,सप्तम संस्करण ।

[illegible] , हिन्दी सा[illegible] कुटीर,द्वितीय संस्करण ।

(४) पत्र-पत्रिकाएं और अभिनन्दन ग्रन्थ

साप्ताहिक हिन्दुस्तान

सरस्वती संवाद (प्रसाद विशेषांक)

हरिजन

अवन्तिका

साहित्य संदेश (गुप्त विशेषांक)

क ल म

माध्यम

कल्याण (हिन्दू संस्कृति अंक)

हरिऔध अभिनन्दन ग्रन्थ, नागरी प्रचारिणी सभा आगरा

राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त अभिनन्दन ग्रन्थ, १९५९

English Bibliography

1. An outline of Cultural History of India. S.Natarajan.
2. Aristotle's Poetics - Demetrius.
3. A Social Psychology of War and Peace - Mere A.May
4. Akbar the Great - V. Smith.
5. A propos to Lady Chatterley's Lover and other Essays -D.H.Lawrence
6. Cultural and art of India - Radha Kamal Mukerjee
7. Cultural Heritage of India (4 volumes)
8. Common sense about India - M. K.M.Panikar
9. Discovery of India - J. L. Nehru.
10. Essays in Science and Philosophy - B.Russel.
11. Foundations of Ethics - W.M.Urban
12. Foundations of New India - K.M.Panikar
13. From Virgil to Milton - C.M.Bowara,
14. Hollow Man - T.S.Eliot.
15. Heritage of Symbolism - C.M.Bowra
16. Is there any contemporary Indian Civilisation ? - Mulkraj Anand
17. India : Synthesis of Culture - K.Motwani
18. Interrelations of culture, UNESCO Publication.
19. Lokmanya Bal Gangadhar Tilak - S.L.Karandikar
20. Myth Symbol in New Testament - Amos. N. Wilder.
21. Marxism : Past and Present - R.N.Carew Hunt.
22. Metaphor and Symbol - Knights and Cottles
23. Marriage and Moral - Allen Anderson
24. Notes towards the Difinition of Culture - T. S. Eliot.
25. Psychology - J. Dewey.
26. Religion and Science - Radha Krishnan

28. Selected Philosophical Essays - N.G.

29. Sceptical Essays - B. Russel

30. Testament of Beauty - B. Robert.

31. The State in Theory and Practice - Lasky

32. The influence of Islam ~~and~~ on Indian Culture - Tara Chand

33. The Problem of Untouchability in India - Gandhi Ji.

34. The Epic - Abercrombie

35. The Renaissance in India - J.H.Cousins

36. The Religion of man - R.N.Tagore

37. Trugh, Myth and Symbol - Altizer Beardshe Young.

38. The Complete works of Swami Vivekanand - Vol. V.

Journals and Dictionaries

Contemporary Indian Literature — 1957 - 1966

Encyclopaedia of Religion and Ethics. - Hastings.

Dictionary of World Literature. - J.T. Shipley

Hindi Review

American Review

Young India

Harijan